पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत में व्यापार एवं सिक्के
"TRADE AND COINS IN EARLY MED. NORTH INDIA"

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
की
डी० फिल० उपाधि हेतु शोध-प्रबन्ध]
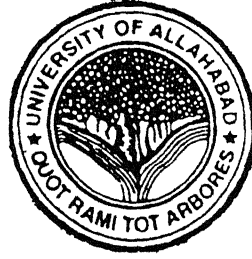
निर्देशिका
डॉ० वनमाला मुधोलकर
रीडर
प्रा० इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद, उ० प्र०

शोधकर्त्री
प्रमिला द्विवेदी
(शोधछात्रा)
प्रा० इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद, उ० प्र०

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
वर्ष : 2001

पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत में व्यापार एवं सिक्के

विषय–सूची

आमुख

प्रत्येक देशकाल में किसी समाज के उत्थान में उसकी आर्थिक पृष्ठभूमि का महत्वपूर्ण योगदान होता है। व्यक्ति के सुख का निर्धारण बहुत हद तक आर्थिक परिस्थितियाँ करती हैं। मानव अपने कर्म एवं योजनाओं द्वारा स्वयं की, अपने कुटुम्ब की एवं साथ ही अपने समाज की आवश्यकताओं की पूति करता है।[1] मनुष्य के आर्थिक कार्यक्रम उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप घटते-बढ़ते एवं परिवर्तित होते रहते हैं,[2] जिससे समाज का स्वाभाविक विकास होता रहे। आर्थिक कारक किसी देशकाल में इतिहास निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस तथ्य की पुष्टि पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन द्वारा सहज की जा सकती है।

आर्थिक प्रणाली का मुख्य तत्व कृषि, पशुपालन उद्योग एवं व्यापार हैं। देशकाल के अनुसार इनके महत्व में परिवर्तन होता रहा है।

भारतीय जीवन दर्शन में अर्थ की महत्ता स्वीकार की गयी है। यही कारण है कि धनोपार्जन को जीवन के पुरुषार्थों में समाविष्ट किया गया है। भातरीय समाज में मनुष्य के चार पुरुषार्थ निर्धारित किये गये हैं। ये है-धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनमें अर्थ को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अर्थ से तात्पर्य उन सभी भौतिक वस्तुओं एवं साधनों से है जो व्यक्ति की सुखसुविधा में प्रयुक्त होते हैं। महाभारत में 'धनमाहुः परं धर्म धने सर्वप्रतिष्ठितम्' कहते हुये इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।[3] कौटिल्य ने अर्थ को धर्म एवं काम का आधार माना है।[4] मनु ने भी कहा है कि त्रिवर्ग ही श्रेय है, जिसमें

---

1. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, प्रथम संस्करण, 1974 पृ0 568
2. वही
3. महाभारत, उद्योगपर्व 72.23-4
4. बृहस्पतिसूत्र, 6.7-12

अर्थ की अपनी विशेष महत्ता है।[1]

इस प्रकार सिद्ध है कि भारतीय जीवन में 'अर्थ' को पर्याप्त महत्व दिया गया है। किन्तु साथ ही धनोपार्जन का मार्ग धर्मसम्मत होने पर बल दिया गया है। धर्म विरूद्ध अर्जित धन को त्याज्य बताया गया है।[2] प्राचीन काल में भारत में 'अर्थ' प्राप्ति से सम्बन्धित कार्यकलाप 'वार्ता' शब्द से व्यक्त किये जाते थे। कौटिल्य ने इसमें कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य को माना है।[3]

भारत में आर्थिक विकास कमशः हुआ है। हड़प्पा सभ्यता (आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व) में कृषि कर्म पर्याप्त समुन्नत था। इस समय अधिशेष उत्पादन के कारण नगरीकरण को प्रात्साहन मिला। ऋग्वैदिक काल में भी तत्कालीन समाज का स्वरूप उसकी आर्थिक संरचना से प्रभावित हुआ। उस समय पशुपालन प्रधान व्यवसाय था। किन्तु धीरे-धीरे कृषि कर्म प्रधान होता गया। तथापि सम्पूर्ण वैदिक काल में व्यापार एवं उद्योग का भी पर्याप्त महत्व था। आर्थिक प्रणाली के कुशलतापूर्वक संचालन हेतु व्यवसाय विशेषीकरण आदर्श द्वारा समाज में वर्ण की नियोजना हुयी।

ईसा पूर्व छठी शता0 में उत्तर प्रदेश एवं पश्चिमी बिहार में लोहे का बड़े पैमाने पर प्रयोग आरम्भ हुआ। कृषि उत्पादन में उससे निर्मित अधिक सक्षम उपकरणों के प्रयोग होने के कारण धान्य उत्पादन के आधिक्य से द्वितीय नगरीय कान्ति का सूत्रपात हुआ। शिल्पों एवं उद्योग धन्धों की भी प्रगति हुयी तथा मुद्रा (आहत मुद्राओं) के प्रचलन के कारण व्यापार में व्यापक विस्तार हुआ।

सुसंगठित शासन तंत्र की स्थापना, देशी विदेशी व्यापारिक मार्गो का विकास, विदेशों से घनिष्ठ सम्बन्धों की स्थापना से मौर्य काल में कृषि, व्यापार

---

1. अर्थशास्त्र, 1.7010-11
2. मनुस्मृति-2.224
3. कृषि पशुपालन वाणिज्या च वार्ता ।

एवं उद्योग में पर्याप्त विकास हुआ। प्रथम शता0 ई0 पू0 से तीसरी शता0 ई0सन्0 में व्यापार एवं वाणिज्य में अभूतपूर्व वृद्धि हुयी। भारत में विनिमय में मुद्रा का पर्याप्त प्रयोग इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि है। मुद्रा व्यवस्था एवं व्यापार की प्रगति के परिणामस्वरूप देश में कई नगरों का विकास हुआ। कारीगरी एवं शिल्प के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुयी। दक्षिण भारत से उत्तर भारत के बढ़ते सम्पर्क के फलस्वरूप दक्षिण में भी संगमयुग में समुन्नत कृषि तथा फलस्वरूप ग्राम, नगरों एवं व्यापार का विकास हुआ।

300 ई0 से 650 ई0 के बीच में गुप्त एवं वर्धन वंश के नेतृत्व में उत्तर भारत का एक विशाल क्षेत्र एकछत्र शासन में आ गया। गुप्त नरेशों के अधीनस्थ अनेक सामंत एवं राजा थे। इन्होंने पर्याप्त मात्रा में भूमिदान दी। गुप्तकाल में ही सामंतवाद का अविर्भाव हुआ जो गुप्तकाल के पश्चात् अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता बन गया। भारत में विशेषकर उत्तर भारत में सातवीं से दसवीं शता0 तक सामंतवादी प्रवृत्तियाँ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में विशेष रूप से दृष्टिगत होते हैं। दसवीं शता0 के पश्चात् इनमें विघटन होने लगा। ग्यारहवीं एवं बारहवीं शताब्दी में भारत में नवीन आर्थिक प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ।

प्राचीन भारत की आर्थिक दशा पर अनेक विद्वानों द्वारा विविध ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। इसी कम में भारत के इतिहास के पूर्वमध्यकालीन कालखण्ड से सम्बन्धित अनेक पुस्तकों की रचना हुयी है तथापि भारतीय इतिहास के इस काल के सम्बंध में प्राचीन काल की अपेक्षा कम काम हुआ है। पूर्वमध्यकाल के राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि अन्य पहलुओं की सम्यक् जानकारी हेतु पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। इस विषय के विभिन्न विद्वानों द्वारा इस काल के सम्बन्ध में अपना अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

किन्तु इस काल में भारत के विविध क्षेत्रों में तथा इतिहास में जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक पक्षों के सम्बन्ध में विद्वद्जनों के द्वारा प्रतिपादित मतों में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। चूंकि आर्थिक पहलू से जीवन के अन्य पहलू घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है अतः इसका महत्व एवं इस पर केन्द्रित शोध कार्यो की आपेक्षित विरलता को देखते हुये, शोध विषय का चयन किया गया है।

पूर्वमध्यकाल के आर्थिक जीवन की जानकारी प्रदान करने वाली अनेक पुस्तकों का प्रणयन अनेक विद्वद्पुरुषों द्वारा किया गया है। जिसमें श्री रामशरण शर्मा द्वारा लिखित 'भारतीय सामंतवाद' 'पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति', अर्बनडिके इन इण्डिया, बी0एन0एस0यादव द्वारा रचित 'सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन ट्वेल्थ सेन्चुरी' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। लल्लनजी गोपाल की 'द इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया', एवं 'अर्ली मेडिकल क्वायन्स टाप्स ऑफ नार्दन इण्डिया' मोतीचन्द की 'सार्थवाह', सुशील मालती देवी की 'इकोनामिक कण्डीशन ऑफ एनाशियण्ट इण्डिया', हरवंस मुखिया 'वाज़ देयर फ्यूडलिज़्म इन इण्डियन हिस्ट्री', वी0के0जैन की 'ट्रेड एण्ड ट्रैडर्स इन वेस्टर्न इण्डिया', डी0सी0 सरकार की 'स्टडीज इन इण्डियन क्वायन्स न्यूमिसमैटिक एण्ड एपिग्राफिक स्टडीज़, कनिंघम की 'क्वायंस ऑफ मेडिवल इण्डिया', जॉन्स देयल की 'लिविंग विदाउट सिल्वर, पी0एल0 गुप्त की 'क्वायन्स' पुष्पानियोगी की 'कन्ट्रीब्यूशन्स टू दि इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया', बी0पी0 मजूमदार की 'सोशियो इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया (1030:1194 ए0डी0) एलन की 'कैंटलॉग ऑफ द क्वाइन्स आफ इनशियण्ट इण्डिया' तथा के0डी0 वाजपेयी की 'भारतीय व्यापार का इतिहास' पूर्वमध्यकाल के आर्थिक इतिहास विशेषतया व्यापार एवं सिक्कों की

जानकारी देने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन विषयों पर अन्य पुस्तकों का उल्लेख पुस्तक-सूची में संग्रहीत है। किन्तु अभी भी आर्थिक पक्ष में महत्वपूर्ण व्यापार एवं सिक्कों के विषय में शोध कार्य अपेक्षित है। इसी कारण इस शोध विषय का चयन करके इस दिशा में बढ़ने का प्रयास किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में जिन लोगों का सहयोग, स्नेह एवं शुभकामनाएँ निरंतर प्रापत होती रही उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ।

मैं सर्वप्रथम अपनी निर्देशिका डॉ0 वनमाला मुधोलकर के प्रति अपना आभार प्रकट करना चाहूँगी जिनके पाण्डित्यपूर्ण निर्देशन में इस शोध ग्रन्थ का संकलन हुआ। मेरे निर्देशिका के बहुमूल्य योगदान का शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित करना संभव नहीं है अतः मैं निःशब्द उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करती हूँ।

इस शोधग्रन्थ के निर्माण में डॉ0 हरिनारायण दुबे का जो मेरे प्रति असीम सहयोग एवं प्रोत्साहन रहा है उसका वर्णन कठिन है। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मैं पूर्व आचार्य एवं विभागाध्यक्ष परमश्रद्धेय प्रो0 उदयनारायणराय के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों के द्वारा मेरा मार्गदर्शन किया।

अपने विभाग के पूर्व अध्यक्ष परमश्रद्धेय प्रो0 विद्याधर मिश्र, प्रो0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, प्रो0 जसवंतनेगी, प्रो0 ब्रजनाथ सिंह यादव, प्रो0 सिद्धेश्वरी नारायणराय की अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मुझे शोधकार्य में अपना पूर्ण सहयोग देकर मुझे अनुग्रहीत किया।

मैं अपने विभाग के वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो0 ओमप्रकाश के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूँ जिन्होंने मेरा मार्गदर्शन करते हुए मुझे

बहुमूल्य सूझाव दिये। मैं प्रो० आर०पी० त्रिपाठी के प्रति भी आपना आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपने विद्ववत्तापूर्ण सुझावों द्वारा मुझे अनुगृहीत किया। डॉ० ओमप्रकाश श्रीवास्तव का मेरे प्रति जो सहयोग एवं स्नेह रहा है उसको शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं है। डॉ० पुष्पा तिवारी, डॉ० ए०पी० ओझा, डॉ० देवीप्रसाद दुबे, डॉ० जी०के० राय, डॉ० यू०सी० चट्टोपाध्याय, प्रो० गीतादेवी, डॉ० जयनारायण, रंजना बाजपेयी, डॉ० अनामिका राय, डॉ० डी० के० शुक्ला, डॉ० हर्षकुमार के प्रति भी में कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य माता-पिता के योगदान को शब्दों में वर्णित कर पाना संभव नहीं है जिनका सम्पूर्ण जीवन सर्वदा सन्तान के कल्याण के लिये समर्पित रहता है। माता जी श्रीमती गायत्री देवी एवं पिताश्री श्रीमान् रामानन्द मिश्र ने अपनी स्नेहवर्षा द्वारा सदा ही मेरे हृदय में उत्साह का संचार किया।

मैं अपना हार्दिक आभार अपने पति श्रीमान् राकेश द्विवेदी के प्रति व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे सदा प्रेरणा प्रदान की एवं शोध कार्य पूर्ण करने में मुझे सहयोग प्रदान किया। मैं अपनी दो वर्षीय पुत्री कुमारी शुभी द्विवेदी के प्रति भी अपना स्नेहिल धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

मैं अपनी बड़ी बहन श्रीमती डॉ. प्रतिभा पाठ्क के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूँ। जिन्होंने बाल्यावस्था से लेकर आज तक सदा मुझे सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी तथा समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन किया। मैं अपनी मातृवत् सास एवं पितृवत् श्वसुर के प्रति अपना हार्दिक नमन अभिव्यक्त करती हूँ। जिन्होंने विवाहोपरान्त मुझे अध्ययनरत रहने में सहायता प्रदान की।

अपनी प्रिय मित्र सुश्री अर्चना तिवारी के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ। जिसमें पुस्तकों की प्राप्ति आदि कार्यों में मुझे मूल्यवान सहायता प्रदान की।

यह शोध प्रबंध सात अध्यायों में विभक्त है।

अध्याय एक 'पूर्व मध्यकाल : सामाजिक एवं आर्थिक परिदृश्य' में उस समय के समाज एवं अर्थ व्यवस्था, इस काल की जानकारी प्रदान करने वाल महत्वपूर्ण स्रोतों एवं राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय दो जिसका शीर्षक है 'पूर्व मध्यकाल में उत्तर भारत में व्यापारिक गतिविधियाँ' हैं, में इस समय के आंतरिक एवं विदेशी व्यापार की विवेचना की गयी है। अध्याय तीन प्रमुख व्यापारिक मार्ग में भारत के प्रमुख आंतरिक एवं विदेशी व्यापारिक मार्गों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय चार पूर्व मध्यकाल में 'उत्तर भारत में सिक्कों के प्रकार एवं उनके मान' के अध्ययन से सम्बन्धित है।

अध्याय पांच में उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित सिक्कों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय छह में पूर्व मध्यकाल में व्यापार में सिक्कों की भूमिका एवं सिक्कों की कमी की समस्या का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय सात 'उपसंहार' के रूप में लिखा गया है जिसमें तत्कालीन आर्थिक जीवन की समीक्षा करते हुए शोध अध्ययन के माध्यम से प्राप्त प्रमुख तथ्यों को रखा गया है।

⌘

अध्याय : एक

पूर्वमध्यकाल : सामाजिक एवं आर्थिक परिदृश्य

इतिहास मानव जीवन के अतीत की कहानी है। निरंतर गतिमयता एवं उत्तरोत्तर विकास इसकी विशेषता है। जब वर्तमान की घटनायें अतीत की घटनायें बन जाती हैं तब वे इतिहास का स्वरूप धारण कर लेती हैं। वस्तुतः इतिहास में अतीत के हमारे अनुभवों का एक विशाल संग्रह सन्निहित होता है।

यद्यपि इतिहास में वस्तुतः कोई विभाजन नहीं होता है तथापि अध्ययन की दृष्टि से सुविधाजनक बनाने के लिये उसे विभिन्न भागों, जैसे राजनीतिक इतिहास, सांस्कृतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास (जीवन के विविध पक्षों के आधार पर) एवं प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन (कालानुसार) में विभाजित किया जाता है। सामान्यतया प्राचीनकाल का विस्तार भारत में प्रारम्भ से लेकर लगभग 1200 ई0 सन् तक माना जाता है। इसके बाद मध्यकाल माना जाता है। प्राचीनकाल का अवसान अचानक नहीं हुआ, न ही एकाएक मध्यकालीन विशेषतायें दृष्टिगत होने लगीं, अपितु यह एक क्रमिक लम्बी विकासमान प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप हुआ। इस संक्रमण काल की अवधि को, जिसका विस्तार सामान्यतया ईस्वी सन् 700 से 1200 तक माना जाता है, पूर्व मध्यकाल कहा जाता है। कुछ विद्वान् इसे ई0 सन् 600 से 1200 तक मानते हैं। पूर्वमध्यकाल, जो मुख्यतः प्राचीन काल की ही प्रवृत्तियों का अग्रसारण है, में बहुत अर्थो में परवर्ती काल के लिये भूमि तैयार हुयी।[1]

प्रस्तुत शोधप्रबंध में पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत में व्यापार एवं

---

1 गोपाल लल्लन जी, द इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, (सी0ए0डी0 700-1200), दिल्ली, 1965, पृ0 229.

सिक्कों का अध्ययन किया गया है। उत्तर भारत को सामान्यतः उत्तर में कश्मीर से, दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत श्रृंखला के उत्तरवर्ती भाग से, पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर गुजरात राजस्थान एवं पंजाब से तथा पूर्व में बंगाल एवं उत्तरीपूर्वी राज्यों (असम आदि) द्वारा सीमांकित किया जाता है।

प्राचीन काल से ही भारत के उत्तरी भाग एवं दक्षिणी भाग की सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संरचना में भेद रहा है। विंध्यपर्वतश्रृंखलाओं द्वारा मोटे तौर पर पृथक् इन क्षेत्रों के बीच यद्यपि उत्तरवैदिककाल से ही गमनागमन शुरू हो गया था तथापि सांस्कृतिक विभिन्नता बनी रही। विदेशी आक्रमणों से उत्तरी भाग निरंतर आक्रांत रहा जिससे यहाँ की सामाजिक एवं आर्थिक विशिष्टताओं का स्वरूप इन विदेशी प्रभावों से युक्त रहा। परन्तु दक्षिण में विदेशी प्रभावों की शक्ति पहुंचने के पूर्व ही क्षीण हो गई। फलस्वरूप वहाँ अपेक्षाकृत स्वतंत्र विकास हुआ।

पूर्व मध्यकाल में आर्थिक एवं सामाजिक दशा

पूर्वमध्यकालीन दक्षिण भारत में जहां अनेक बड़े राजवंशों का शासन रहा वहीं उत्तर भारत में इस समय अनेक छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ। वस्तुतः उत्तर भारत में गुप्तों के पश्चात् ही विकेन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति हावी रही जिसका सबसे महत्वपूर्ण कारण सामन्तवाद था। सामंतवाद ने पूर्वमध्ययुग की आर्थिक अवस्था को गंभीर रूप से प्रभावित किया। इसके कतिपय तत्व प्राचीन भारत इस काल के पूर्व में भी दृष्टिगत होते हैं किन्तु सम्पूर्ण विशेषताओं से युक्त होकर एक नवीन प्रवृत्ति के रूप में इसका उदय इसी युग में परिलक्षित होता है। चूंकि इस समय उत्तरी एवं दक्षिणी भारत की राजनैतिक एवं आर्थिक स्थितियां एक समान नहीं थी अतः सामंतवाद भी उत्तर

एवं दक्षिणी भारत में कालिक एवं अन्य प्रकार की विभिन्नताओं से युक्त रहा।

प्रो0 रामशरणशर्मा ने सामंतवाद की खास विशेषताओं का उल्लेख किया है यथा-परती और आबाद दोनों तरह की जमीनें अनुदान में देना, अनुदान में दी गई भूमि के साथ-साथ किसानों का हस्तान्तरण, बेगारी प्रथा का प्रसार, किसानों, शिल्पियों और व्यापारियों को अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहें वहां जाकर बसने पर रोक लगाना, मुद्रा का अभाव, व्यापार का ह्रास, राजस्वप्रशासन तथा दण्ड प्रशासन का धार्मिक अनुदान भोगियों के हाथ में सौंप दिया जाना, अधिकारियों को वेतनस्वरूप अलग-अलग क्षेत्रों का राजस्व सौंप देने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ और सामन्ती दायित्वों का विकास।[1]

प्रो0 शर्मा के अनुसार यूरोपीय सामंतवाद (पाँचवी से पन्द्रहवी शता0 ई0) की मूलभूत विशिष्टतायें यहाँ भी दृष्टिगत होती है।[2] वस्तुतः सामंतवाद का भारतीय रूप, विश्व के दूसरे सामन्तवादी रूपों से मुख्य रूप में समान होते हुये भी कुछ रूपों में उससे भिन्न है। उदाहरण के लिये भारतीय सामंतवाद में आर्थिक अनुबंध पर उतना बल नहीं दिया गया जितना यूरोपीय सामंतवाद के कुछ रूपों में दिया जाता था।[3]

पूर्वमध्यकाल में उत्तरी भारत में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के कारण समान संस्कृति एवं इतिहास पर आधारित क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। विस्तृत एवं केन्द्रीय राज्यों के पतन के फलस्वरूप किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव के कारण स्थानीयता की प्रवृत्ति मुख्य हो गयी। जिसके फलस्वरूप स्थानीय हित एवं साधनों पर ही समस्त ध्यान केन्द्रित किया जाने लगा।

---

1. शर्मा रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973, पृ0 78-79.
2 वही, पृ0 1-2
3. थापर रोमिला, भारत का इतिहास, नयी दिल्ली, 1975, पृ0 184.

राष्ट्रीय मामले गौण हो गये।

वस्तुतः गुप्तकाल से ही राज्यव्यवस्था सामंती ढांचे में ढलने लगी थी।[1] सामंतवाद के उदय का सबसे महत्वपूर्ण कारण भूमि–अनुदान की प्रथा थी। इस प्रथा का उद्‌भव प्राचीन समाज व्यवस्था के आर्थिक आधार पर आए गंभीर संकट से हुआ।[2] वैश्य वर्ण कर देने एवं शूद्र वर्ण श्रम के रूप में सेवा करने से विमुख होने लगे। इसी स्थिति को पुराणों में कलियुग कहा गया है। इस संकट से निबटने के लिये पुरोहितों एवं राज्याधिकारियों को दान एवं वेतनरूप में भूमि दी जाने लगी। भूमिग्रहीता को प्रदत्त क्षेत्र में करों की वसूली एवं शांति व्यवस्था की स्थापना करनी पड़ती थी। भूमि अनुदान के द्वारा राजा को नये क्षेत्रों में कृषि के प्रसार, विजित क्षेत्रों में अनुशासन की स्थापना में सहायता मिली। दान सदा के लिये दिये जाते थे जिससे छोटे–छोटे अधिकार सम्पन्न शक्ति के केन्द्र बन गये। जिससे राज्य की शक्ति में कमी आयी। इस समय राजपूतों का उदय हुआ जो क्षत्रिय वर्ग में माने गये। कई क्षेत्रों में शूद्र किसान बन गये जिनके हाथ में कुछ जमीनें भी थीं। इस समय कहीं–कहीं किसान भी दान में दी गयी भूमि का परित्याग न करने के लिये आदिष्ट किये गये जिससे उन्हें दान दी गयी भूमि के साथ बंध जाना पड़ा। इसी तरह शिल्पियों को भी कहा गया। जिससे अर्थव्यवस्था की गतिमयता प्रभावित हुयी। छठी शता0 तक भारत का प्राचीन समय में प्रभूत लाभकारी रेशम व्यापार (जो रोमन साम्राज्य से चीन तक होता था) बंद होने से भारत में व्यापार की स्थिति पर दुष्प्रभाव पड़ा जिससे शहरों की स्थिति में गिरावट आयी। इन

---

1. शर्मा रामशरण, भारतीय सामंतवाद, पृ0 19.
2. शर्मा रामशरण, पूर्व–मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, नयी दिल्ली, 1996, पृ0 19.

समस्त कारणों से आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ। यहाँ उत्पादन स्थानीय आवश्यकता के अनुरूप होता था। व्यापार एवं विनिमय के लिये कुछ भी अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता था। अतिरिक्त उपज से कृषकों को लाभ प्राप्ति की संभावना कम ही रहती थी क्योंकि वह भी जमींदार को देना पड़ता था। उत्पादन वृद्धि के लिये किसी प्रकार का कोई प्रोत्साहन नहीं था, अतः उत्पादन का लक्ष्य केवल जीवन निर्वाह हो गया। इसका एक प्रभाव सिक्कों की कमी के रूप में भी परिलक्षित होता है।

सामंतों को पुनः अपनी भूमि किसी अन्य को दान देने का अधिकार था। इस तरह सामंत व उपसामंतीकरण प्रक्रिया के फलस्वरूप सामंतों की कई श्रेणियां बन गयीं। सामंत राजा के लिये आवश्यकता पड़ने पर सेना भी जुटाते थे। इस प्रथा के उदय से किसानों की दशा में गिरावट आयी। दान दिये गये क्षेत्रों में उनकी स्थिति दासवत् हो गयी, नये नये कर लगाये गये। दान की गयी भूमि के साथ किसानों के हस्तान्तरण से उनकी स्थिति दयनीय हो गई। इसी समय बेगारी प्रथा का भी प्रसार हुआ।

दसवी शता0 के पश्चात् सामंतवादी ढांचे में टूट दिखाई देने लगती है। ईस्वी सन् की ग्यारहवीं एवं बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में कतिपय नयी आर्थिक शक्तियों का उदय हुआ और उसके परिणामस्वरूप आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था, मुद्रा के चलन का अभाव और किसानों के शोषण की नींव पर आधारित पुरातन सामंतवाद की जड़े हिलने लगीं।[1]

इस समय व्यापारिक पुनरुत्थान हुआ एवं मुद्रा का प्रचलन बढ़ा।

पूर्वमध्यकाल में आर्थिक दशा ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को भी

---

1. शर्मा रामशरण, भारतीय सामंतवाद, पृ0 248.

गहन रूप से प्रभावित किया। इस समय समाज में पूर्वकाल की तुलना में कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। समाज में अनेक नवीन सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। ये वर्ग वर्णव्यवस्था से परे निर्मित हुये थे तथा इनका आधार भूमि एवं सत्ता का असमान वितरण था। इससे सामंतों की एक सोपानबद्ध श्रृंखला का आविर्भाव हुआ। इस काल के कई ग्रन्थों (विशेषतया वास्तुकला से सम्बंधित) से इस सामंती श्रेणी विन्यास के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। ग्यारहवीं सदी की कृति अपराजितपृच्छा में नौ वर्गों के सामंतों जिसमें महामंडलेश्वर, मांडलिक, महासामंत, सामंत एवं लघुसामंत आदि शामिल हैं के आवासों का वर्णन किया गया है।[1] मानसार में इसी तरह के सामंतों के वर्गों का विवरण मिलता है जिनमें से कुछ वर्ग किसी भी वर्ण के व्यक्ति के लिये थे। इसमें सबसे उपर चक्रवर्ती का स्थान रखा गया है।[2] ये सामंती वर्ग विभिन्न प्रकार की उपाधियाँ धारण करते थे जैसे राणक, ठाकुर, राउत, नायक, चौधरी आदि। सामंत अपनी प्रतिष्ठा दर्शाने हेतु विभिन्न प्रकार के प्रतीक एवं चिहन धारण करते थे। छत्र, चंवर, घोड़े, पालकी, हाथी, पंचवाद्यों आदि प्रतिष्ठा सूचक वस्तुओं का प्रयोग सामंत अपनी स्थिति के अनुसार करते थे।

यह सामंती सोपानबद्धता धार्मिक क्षेत्र में भी दृष्टिगत होती है। इस समय शिव एवं विष्णु प्रमुख देवता बन गये थे। मंदिर में प्रधान देवता को गर्भगृह में प्रतिष्ठित किया गया और अन्य देवी देवताओं को पाश्ववर्ती कक्षों में स्थान दिया गया।[3] मूर्तिकला में थी इसी प्रकार श्रेणी विन्यास दृष्टिगत होता

---

1. भट्ट भुवनदेव, अपराजितपृच्छा, 81 2.12.
2. पी0के0 आचार्य, हिन्दू आर्किटेक्चर इन इंडिया एंड एब्राड, मानसार सिरीज, ऑक्सफोर्ड, 1946, VI 125
3. शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ0 207.

है। एक ही देवमाला में अधिष्ठाता देवता की मूर्ति सबसे बड़ी है एवं देवकुल परिवार के अन्य सदस्यों की मूर्तियां छोटी हैं।

इस समय अनेक नयी जातियों का उदय हुआ। भूमि से सम्बन्धित दस्तावेजों को तैयार करने का कार्य लिपिकों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। जो करण, अक्षरचन्द्र, पुस्तपाल, कायस्थ आदि कहे जाते थे। यही शिक्षित वर्ग कालान्तर में कायस्थ जाति के रूप में परिणित हो गया। उत्तर भारतीय गांवों के प्रधान एवं महत्वपूर्ण लोगों के एक वर्ग महत्तर जाति के रूप में उदित हुआ। जबकि पश्चिमी भारत में इसी तरह पट्टकिल जाति का आर्विभाव हुआ।

पूर्वमध्यकाल में वर्णव्यवस्था में भी परिवर्तन दिखाई देता है। शूद्र अपने पारम्परिक सेवाकर्म के साथ साथ कृषिकर्म से भी जुड़ गये थे। किसान के रूप में शूद्रों के उभरे जाने से उनकी सामाजिक स्थिति में उत्थान दृष्टिगत होता है जबकि व्यापार वाणिज्य में पतन के कारण इससे सम्बन्धित वैश्य वर्ण की स्थिति में गिरावट परिलक्षित होती है। इस समय वर्णव्यवस्था का प्रसार पूर्व एवं दक्षिण भारत में हुआ। किन्तु यहां मुख्यतः ब्राह्मण एवं शूद्र वर्ण ही दृष्टिगत होते हैं। यहां वैश्य एवं क्षत्रिय वर्ण अत्यंत गौण हो गये।

इस काल में चारों वर्णों के अनेक जातियों में बँटने एवं नये कबीलों के वर्ण व्यवस्था में शामिल होने से जातियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुयी। ब्राह्मण कर्मकाण्ड, वेदाध्यन की शाखा, मूल गांव आदि आधार पर सैकड़ों उपजातियों में बँट गये। कायस्थ एवं शूद्रों में भी अनेक नयी जातियाँ अस्तित्व में आयीं। राजपूत नामक नये समुदाय के क्षत्रिय वर्ण में शामिल होने से इस वर्ण में भी अनेक उपजातियां बनीं। इस समय अस्पृश्यों की संख्या में भी भारी वृद्धि हुयी।

अध्ययन के स्रोत

इस काल के इतिहास निर्माण के लिये विविध प्रकार के स्रोतों से प्राप्त जानकारी का सम्यक् विश्लेषण आवश्यक है। इस काल की आर्थिक दशा, विशेषतया उत्तर भारत में व्यापार एवं सिक्कों की स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करने वाले अध्ययन स्रोतों को मोटे तौर पर दो वर्गों में बांटा जा सकता है। ये हैं-साहित्यिक स्रोत एवं पुरातात्विक स्रोत।

(1) **साहित्यिक स्रोतः**-भारत में प्राचीन काल से ही समय-समय पर साहित्यिक ग्रन्थों की रचना होती रही है। इनके सम्यक् विश्लेषण द्वारा अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन हुआ है।

पुराणों में 'अग्निपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, आदि अनेक पुराण इस काल की जानकारी हेतु महत्वपूर्ण है। इस समय की स्मृतियों, टीकाओं एवं भाष्यों से भी पूर्वमध्ययुगीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, वृहस्पति एवं कात्यायन स्मृतियां गुप्तकाल तक रचित हो चुकीं थीं। इस काल में इन पर लिखी टीकाओं से इतिहास निर्माण में सहायता मिलती है। मनुस्मृति पर मेधातिथि, गोविन्दराज एवं कुल्लुकभट्ट ने टीकाओं की रचना की। याज्ञवल्क्य स्मृति पर विश्वरूप, विज्ञानेश्वर एवं अपरार्क ने टीकायें लिखीं।

गद्यकाव्यों में दण्डी द्वारा रचित दशकुमार चरित महत्वपूर्ण है। इसमें मगधदेश की राजधानी पुष्पपुरी (वर्तमान पटना) के राजा राजहंस द्वारा पालित दस कुमारों (एक स्वयं का पुत्र एवं नौ अन्य कुमार) की साहसिक विजयगाथाओं का संग्रह है। दण्डी द्वारा रचित अवन्तिसुन्दरी कथा से भी तत्कालीन जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

राजा हर्ष (606 ई0 से 647 ई0 तक) के दरबारी कवि बाणभट्ट ने

'हर्षचरित' एवं 'कादम्बरी' की रचना की। इनसे प्रसंगवश तत्कालीन आर्थिक जीवन की भी झांकी प्राप्त होती है।

भारत में इस काल में कतिपय ऐतिहासिक ग्रन्थों की भी रचना हुयी जो इस काल की जानकारी के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। गौउडवहो की रचना कन्नौज नरेश यशोवर्मा के दरबारी कवि वाक्पतिराज (730 ई0 सन्) द्वारा महाराष्ट्री प्राकृत में की गयी थी। पद्मगुप्त परिमल (1005 ई0), जो धारा के राजा मुंज एवं उसके पुत्र सिन्धुराज के आश्रित कवि थे, ने 18 सर्गो में नवसाहसाकचरित की रचना की। बिल्हण जो कल्याण के चालुक्यनरेश विक्रमादित्य षष्ठ के (ई0 सन् 1076-1127 ई0) दरबारी कवि थे, ने विक्रमांकदेवचरित एवं सन्ध्याकरनन्दी ने रामचरित का प्रणयन किया। किन्तु सबसे अधिक उपयोगी एवं विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ महाकवि कल्हण द्वारा लिखित राजतरंगिणी है। इसमें कश्मीर के इतिहास का प्रारम्भ से 1181 ई0 तक वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ कुल 8 तरंगों एवं 7826 श्लोकों में लिखा गया है। मूलतः इसमें कश्मीर का इतिहास वर्णित है। किन्तु प्रसंगवश आये गये उल्लेखों से अन्य क्षेत्रों के सामाजिक, आर्थिक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। जयानक कृत पृथ्वीराज विजय एवं यशपाल कृत मोहराजपराजय महत्वपूर्ण है।

इस समय विविध लोककथा साहित्य की भी रचना हुयी। जिससे इस काल के जीवन के विविध पक्षों के साथ आर्थिक पक्ष पर भी प्रकाश पड़ता है। क्षेमेन्द्र, जो काश्मीर के राजा अनन्त (ई0 सन् 1029-1064) के आश्रित कवि थे, ने गुणाढ्यरचित वृहत्कथा को ही आधार बना कर वृहत्कथामंजरी ग्रन्थ का प्रणयन किया। 11 अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में 7500 श्लोक हैं।

क्षेमेन्द्र रचित समयमात्रक भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कथासरित्सागर के रचियता सोमदेव भी काश्मीरी नरेश अनन्त के आश्रित कवि थे। यह ग्रन्थ कथाओं का समुद्र सा है जिसमें 22 सहस्र पद्य हैं।

जैन धर्मावलम्बी मुख्यतः व्यापारी वर्ग से थे। अतः जैन कथा ग्रन्थ पूर्वमध्यकाल के आर्थिक इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उपमितिभवप्रपंचकथा की रचना सिद्धर्षि-सूरि जैन द्वारा (906 ई0) की गयी थी। हेमचन्द्र द्वारा परिशिष्टपर्वन् का प्रणयन त्रिशाष्टिश्लाकापुरूषचरित नामक एक पौराणिक काव्य के परिशिष्ट के रूप में (ग्यारहवीं शता0 ई0) किया गया। इसमें जैन साधुओं से सम्बद्ध सरल संस्कृत में उपदेशात्मक कथायें हैं। मेरूतुंग रचित प्रबंधचिन्तामणि राजशेखर रचित प्रबंधकोश, हरिभद्रसूरि कृत समराइच्च्कहा एवं कथाकोष, जिनेश्वर सूरी की कथाकोषप्रकरण, उद्योतनसूरि की कुवलयमाला भी पूर्वमध्यकालीन आर्थिक इतिहास की दृष्टि से उपादेय है।

श्वेताम्बर जैन धनपाल कृत तिलकमंजरी से द्वीपांकर को गये एक नाविक अभियान के प्रसंग में दक्षिण पूर्वी एशिया से व्यापार एवं भारतीय जहाजरानी पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। धनपाल की भविष्यत् कथा में समुद्री यात्रा का प्रसंग आया है।

त्रिशष्टिश्लाकापुरुषचरित में जैन इतिहास एवं परम्परा के 63 विशिष्ट व्यक्तियों की जीवनियां दी गयी हैं। इसमें एक व्यापारिक कॉरवां का प्रसंगत : उल्लेख आया है। पुरातनप्रबंध संग्रह भी इस काल का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस काल के अन्य कुछ ग्रन्थ भी इस दृष्टि से उपयोगी हैं। गहड़वाल वंशीय नरेश के संधिविग्रहिक लक्ष्मीधर द्वारा रचित 'कृत्यकल्पतरू', सोमदेव कृत नीतिवाक्यामृत, चण्डेश्वरकृत राजनीति-रत्नाकर भी

इस काल के जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हैं। यादव प्रकाश की बैजयन्ती, हेमचन्द्र की देशीनाममाला, हलायुध की अभिधान रत्नमाला दामोदर पण्डित की उक्ति-व्यक्ति प्रकरण आदि ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। तकनीकी ग्रन्थों में भट्टभुवनदेव की अपराजितपृच्छा भोज की समरागणसूत्रधार, गणितीयग्रन्थों में महावीराचार्य का गणितसारसंग्रह, भास्कराचार्य का लीलावती महत्वपूर्ण हैं।

भारतीय साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त विदेशियों द्वारा भी भारत सम्बन्धी विवरण लिखा गया। पूर्वमध्यकाल की दशा के विषय में चीनी यात्री सुंगयुन जो 518 ई0 में बौद्धग्रन्थों की खोज में भारत आया था एवं जिसने बौद्ध 170 ग्रन्थों को संग्रहीत किया था, ह्वेनसांग जो 621 ई0 में भारत आया था तथा लगभग 16 वर्षो तक भारत के विभिन्न क्षेत्रों विशेषतया बौद्ध धर्म से सम्बन्धित केन्द्रों पर गया था, इत्सिंग जो बौद्ध था एवं सातवीं सदी के अंत में भारत आया था, के यात्रा विवरणों से तत्कालीन भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

तेरहवीं सदी के अंत में वेनिस का यात्री मार्कोपोलो चीन से होता हुआ भारत आया था। इसके विवरणों से पूर्ववर्ती काल के विषय में जानकारी मिलती है।

आठवीं शताब्दी से भारत का अरब देशों से घनिष्ठ सम्पर्क प्रारम्भ हुआ जिसका प्रमुख कारण व्यापार एवं वाणिज्य था। अरब आक्रमणों ने भी इसमें योगदान किया।

भारत के व्यापारिक मार्गो का उल्लेख नवीं सदी के इब्नखुर्दाज्बा की पुस्तक 'किताबुल मसालिक वल ममालिक' में मिलता है। सुलेमान की

'सिलसिलतुत्तवारीख', अलबिलादुरी की 'किताबफतूह अलबुल्दान', अलमसूदी की 'मुरूजुज जहव', अलबरूनी की 'तारिखुलहिन्द' या 'तहकीकेमालिलहिन्द', हसन निजामी की 'ताजुलमामिर', फरिश्ता की 'तारीखे फरिश्ता', मोरखोन्द की 'रौजातुस्सफा', मिनहाजुद्दीन की 'तबकाते नासिरी', जियाउद्दीन बरनी की 'तारीखे-फिरोजशाही' आदि ग्रन्थों से इस काल के भारतीय इतिहास की जानकारी प्रसंगवश प्राप्त होती है। इनसे इस काल के भारत के व्यापार, व्यापारिक केन्द्रों, बन्दरगाह, मुद्रा व्यवस्था आदि पर प्रकाश पड़ता है।

(2) पुरातात्विक स्रोतः—पूर्वमध्यकालीन आर्थिक इतिहास का ज्ञान हमें साहित्यिक स्त्रोतों के साथ-साथ पुरातात्विक स्रोतों से भी होता है। इनमें अभिलेखों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें इस काल के कृषि, व्यापार, श्रेणी, मुद्रा आदि के विषय में प्रमाणिक जानकारी प्राप्त होती है। जैसे 1019 ई0 सन् के तंजौर अभिलेख से पता चलता है कि चीन के साथ भारत का व्यापार होता था। 882 ई0 के पहोवा अभिलेख से पता चलता है कि वहाँ घोड़े के व्यापारी प्रत्येक देश से आते थे। 877 ई0 के ग्वालियर अभिलेख एवं 1086 ई0 के झालर पाटन अभिलेख से तैलियों, तमोलियों एवं मालियों की श्रेणी का उल्लेख प्राप्त होता है।

दानपत्रों से भी तत्कालीन आर्थिक दशा का पता चलता है। वलभी के विष्णुसेन के दानपत्र लेख में श्रेणियों एवं निगमों के व्यापार का उल्लेख प्राप्त होता है।

पूर्वमध्यकाल में सिक्कों की संख्या स्थिति एवं कला के स्तर से भी आर्थिक दशा ज्ञात होती है। इनकी कमी एवं हीनता से व्यापार में भी गिरावट का संकेत प्राप्त होता है। उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त कौड़ियाँ इस

बात की (जो साहित्यिक सन्दर्भों में प्राप्त है) पुष्टि करती हैं कि इस समय व्यापार में कौड़ियाँ भी प्रयुक्त होतीं थीं।

मंदिर, भवन, विश्वविद्यालय आदि स्मारक भी तत्कालीन आर्थिक दशा पर परोक्ष प्रकाश डालते हैं। मंदिर ब्याज पर धन उधार देते थे। मंदिरों की विशाल सम्पत्ति ने सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

राजनीतिक दशा

किसी काल के इतिहास के आर्थिक पक्ष की जानकारी हेतु तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का थोड़ा-बहुत ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि जीवन का कोई भी पक्ष अन्य पक्षों से सम्बन्धित तथा प्रभावित होता है।

वस्तुतः भारतवर्ष में लाखों वर्ष पूर्व के मानव के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। पाषाणकालीन स्थल भारत के विभिन्न भागों से खोंज निकाले गये हैं। आज से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व की नगरीय सभ्यता की परिपक्व अवस्था हड़प्पा संस्कृति में दिखायी देती है। समयचक्र के साथ साथ इसकी विलक्षणता धूमिल होने लगी। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० मध्य से छठी शता० ई०पू० तक वैदिक आर्यो की संस्कृति का अध्ययन महत्वपूर्ण है। छठी शता० ई०पू० जिसे द्वितीय नगरीय क्रांति का युग माना जाता है, में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुये। इसी समय से भारत में साम्राज्यवाद की भावना का प्रस्फुटन हुआ जिसको चरम सीमा पर पहुंचाया मगध पर शासन करने वाले शासकों ने।

हर्यक वंश, शिशुनाग वंश एवं नन्दवंश की विजयश्रृंखलाओं को मौर्यो ने आगे बढ़ाया जिन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर एवं उत्तर भाग में अफगानिस्तान के काबुल एवं काश्मीर से लेकर दक्षिण में मैसूर तक तथा

पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बगाल तक विस्तृत एक अतिविशाल साम्राज्य का निर्माण कर लिया।

प्रथम शताब्दी ई0पू0 में सातवाहन वंश के उदय ने भारत के इतिहास में उत्तरी दक्कन के योगदान को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया। इस राजवंश ने आधुनिक नासिक को केन्द्र बनाकर दक्कन के पश्चिमोत्तर भाग में अपने राज्य की स्थापना की थी।[1] जबकि ईसा पूर्व की अंतिम शताब्दी के मोड़ पर दक्षिण भारत प्रागैतिहासिक से निकल ऐतिहासिक काल में आ गया।[1] संगम साहित्य से इस काल के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

मौर्य साम्राज्य (ईस्वी पूर्व 324-187) के पतन के पश्चात् तथा गुप्तकाल (319 ई0 से प्रारम्भ) के पूर्व किसी एक शक्ति ने विशाल क्षेत्र पर शासन नहीं किया। हिन्दयवन, पार्थियन, शक, कुषाण इस समय भारत आने वाली विदेशी जातियाँ थीं। इन्होंने कुछ सीमित प्रदेशों पर ही (कनिष्क का राज्यक्षेत्र अपेक्षतया विशाल था) शासन किया।

गुप्तवंशीय नरेशों ने भारतीय साहित्य में वर्णित सम्राट की परिकल्पना को सार्थक करते हुये एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अभूतपूर्व पराक्रम के फलस्वरूप उनके समय में गुप्त साम्राज्य की उत्तरी सीमा कश्मीर के दक्षिण भाग द्वारा दक्षिणी-पश्चिमी सीमा काठियावाड़ एवं गुजरात द्वारा, पश्चिमी सीमा पंजाब (कुछ भाग छोड़कर) एवं पूर्वी सीमा बंगाल द्वारा निर्धारित होती थी। दक्षिण के कुछ राज्य भी उनके प्रभाव को स्वीकार करते थे। इस समय भारत की आर्थिक, भाषा, धर्म, कला, साहित्य, शासन, विज्ञान आदि क्षेत्रों में सर्वतोन्मुखी प्रगति हुयी जिससे यह

---

1 थापर रोमिला, भारत का इतिहास, पृ0 72.

काल भारतवर्ष के इतिहास में स्वर्णकाल की संज्ञा से विभूषित हुआ।

स्कन्दगुप्त की मृत्यु (467 ई0 सन्) के पश्चात् ही यह साम्राज्य पतनोन्मुख होने लगा एवं लगभग सौ वर्षो के भीतर ही पूर्ण विनष्ट हो गया।

इस विशाल साम्राज्य के संकुचित होने एवं पूर्ण समाप्ति हेतु वाह्य आक्रमण, सामंतों की महत्वाकांक्षा, योग्य शासक का अभाव आदि अनेक कारण उत्तरदायी थे।

गुप्त साम्राज्य के पतन की गति को हूणों के आक्रमण ने और तीव्र कर दिया था। हूण मूलतः चीन के पशचिमी क्षेत्रों के निवासी थे। अन्तर्जातीय युद्धों के परिणामस्वरूप ये लोग अपने मूल निवास स्थान को छोड़कर नये प्रदेशों की खोज में आगे बढ़े। इनकी एक शाखा वोल्गा की ओर गई। इसने रोम साम्राज्य को बड़ी हानि पहुंचाई। दूसरी शाखा ने ऑक्सस घाटी में अपना नया निवास-स्थान बनाया। इसी शाखा ने कालान्तर में भारत पर अनेकानेक आक्रमण किये।[1]

गुप्त साम्राज्य पर हूणाक्रमणों की श्रृखंला स्कन्दगुप्त के समय से ही प्रारम्भ हो गयी थीं। स्कन्दगुप्त हूणों को पराजित करके अपने राज्य क्षेत्र की रक्षा करने में सफल रहा। किन्तु स्कन्दगुप्त के पश्चात् उन्होंने उत्तरी पश्चिमी भारत (गन्धार क्षेत्र) से, जहॉ पर वह पहले ही स्थापित हो चुके थे, गंगा-घाटी पर लगातार आक्रमण किये। तोरमाण के नेतृत्व में हूण भारत के मध्यवर्ती भागों तक बढ़ आये थे। मालवा तथा कश्मीर पर उनका अधिकार था। इसने संभवतः कौशाम्बी तक अपना विजयाभियान किया था। मालवा में यह यशोधर्मा के पूर्वज भगवत्प्रकाश द्वारा पराजित (514ई0 सन्) हुआ था।

---

1 वही, पृ0 77.

तोरमाण पुत्र मिहिरकुल मध्यभारत में ग्वालियर तक बढ़ आया था। इसके राज्य में गंधार, कश्मीर, पंजाब एवं मध्यभारत के भाग शामिल थे। यह 532 ई0 के आसपास मालवा के यशोधर्मन् द्वारा पराजित हुआ।

उत्तरी-पश्चिमी भारत पर हूणों के अधिपत्य, पश्चिमी भारत में मैत्रकों और मध्यभारत पर वर्मनवंश के शासकों का अधिकार हो जाने से गुप्त केवल पूर्वी भारत के शासक रह गये थे।[2] बाद में ये वहाँ से भी हरा दिये गये।

गुजरात एवं पश्चिमी मालवा पर मैतृक वंशीय नरेशों ने राज्य किया जिनकी राजधानी बल्लभी थी। ये आठवीं शताब्दी मध्य तक शासन करते रहे। बाद में अरबों के आक्रमण से उनके शासन का समापन हो गया। मगध पर एक अन्य गुप्त नामांत शासकों का अधिकार हो गया।

छठी शता0 ई0 सन् में कन्नौज में मौरवरियों ने ईशानवर्मा के नेतृत्व में स्वतंत्र राज्य का निर्माण किया। इसके पश्चात् सर्ववर्मा एवं अवन्तिवर्मा ने क्रमशः शासन सत्ता सम्हाली। इसके अनन्तर ग्रहवर्मा राज्य का स्वामी बना। यह वर्धनवंशीय नरेश हर्ष का बहनोई था। ग्रहवर्मा इस वंश का अंतिम शासक था। इसकी मृत्यु के पश्चात् कन्नौज हर्ष के संरक्षण में आ गया।

महान् गुप्त वंश के अतिरिक्त एक अन्य गुप्त वंश मगध में उदित हुआ। इस वंश में कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त एवं जीवितगुप्त प्रथम यद्यपि प्रतापी थे किन्तु वे गुप्तों के अधीनस्थ ही थे। कुमारगुप्त (545 ई0 सन्) के समय ये गुप्तों की अधीनता से मुक्त हो गये। बाद में मागध गुप्त नरेश मौरवरियों द्वारा मालवा खदेड़ दिये गये किन्तु पुनः ये मगध वापस आ गये एवं आठवीं शता0 ई0 में कन्नौज के यशोवर्मा द्वारा पराजित हो गये।

---

1. पाण्डेय, विमलचन्द्र, प्राचीन भारत का इतिहास, 2 मेरठ 13वां संस्करण 1989-90 पृ0 223.
2. झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, 1981 दिल्ली पृ0 286

गुप्तवंश के पश्चात उदित हुये वंशों में वर्धन वंश अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। यह दिल्ली के समीप थानेश्वर में उदित हुआ था। प्रभाकरवर्धन इसका सर्वप्रथम स्वतंत्र नरेश हुआ। कन्नौज इसकी राजधानी बनी। इसके पुत्र हर्ष के समय (606 ई0 से 637 ई0) में साम्राज्य की सीमायें उत्तरी भारत के अधिकांश भाग, पंजाब, कन्नौज गौड़ या बंगाल, मिथिला एवं उड़ीसा तक प्रसरित हो गयीं। इस प्रकार गुप्तों के पश्चात् हर्ष के समय में ही अपेक्षाकृत एक विशाल साम्राज्य का निर्माण हुआ।

गुप्तों के पतन के पश्चात् भारत में सत्ता का केन्द्रबिन्दु पाटलिपुत्र की जगह कन्नौज हो गया। 725 ई0 के आसपास कन्नौज में यशोवर्मा उदित हुआ। वाक्पतिराज रचित गौउडवहो से इसके विषय में जानकारी प्राप्त होती है। यह कन्नौज से मिर्जापुर एवं बंगाल तक के क्षेत्र का स्वामी था। यशोवर्मा के उत्तराधिकारियों के पश्चात् यहां आयुधवंश का उदय हुआ जिसका काल 770 ई0 के आसपास है। यह वंश प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों की साम्राज्यवादिता का शिकार हुआ एवं अंततः गुर्जरप्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वितीय ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

पूर्वमध्यकाल में काश्मीर में वहाँ के स्थानीय वंशों ने राज्य किया। यहां कार्कोट, उत्पल, यशस्कर एवं लोहार वंशों ने शासन किया।

बंगाल में 750 ई0 के आसपास पाल वंश का उदय हुआ जो लगभग चार सौ वर्षो तक बना रहा। पाल नरेशों के ही समय उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल क्षेत्रों का स्वामित्व सेन (1095 ई0 आसपास) राजवंश के अधिकार में आ गया था। तेरहवीं शता0 के शुरू में तुर्कों द्वारा 1202 ई0 में ऐबक के समय इस वंश की राजधानी नादिया पर आक्रमण करके जीत लिया गया। इसके बाद यह वंश क्षीणप्राय हो गया।

हर्ष के समय कामरूप पर भास्करवर्मा का अधिकार था। इस वंश का उदय चौथी शताब्दी ईस्वी मध्य में हुआ था। पालों के समय यह उनके साम्राज्य का अंग बन गया था। गुप्त वंश के पतन के पश्चात् लगभग दो सौ वर्षों तक हर्ष को छोड़कर उत्तर भारत में कोई अन्य महत्वपूर्ण शक्ति उदित नहीं हुयी थी जबकि उस समय दक्षिण भारत में बदामी के चालुक्य काँची के पल्लव एवं मदुरई के पाण्ड्य शक्तिशाली राज्य थे एवं उनके मध्य संघर्ष जारी था।

हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वी तक का काल सामान्यतः 'राजपूत-काल' कहा जाता है। इस समय अनेक राजपूत कुलों ने शासन किया। गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चौलुक्य, चौहान, चंदेल, परमार, गाहड़वाल आदि राजपूत वंशों से सम्बन्धित थे। इन्हें क्षत्रियों की कोटि में रखा गया एवं इनका सम्बंध सूर्य या चन्द्रवंश से जोड़ा गया।

गुर्जरप्रतिहार वंश का संस्थापक (उज्जैन में) नागभट्ट प्रथम (730-756 ई0 सन्) था। गुजरात तथा राजपूताना उसके अधिकार में थे। इसने अरबों को परास्त किया था। वत्सराज के समय कन्नौज, ग्वालियर एवं गौड़ देश पर इस वंश का आक्रमण हुआ। नागभट्ट द्वितीय के समय (795 ई0 - 833 ई0) कन्नौज के चक्रायुध को पराजित करके कन्नौज पर प्रतिहारों का अधिकार स्थापित हो गया एवं यह इस वंश की नयी राजधानी बन गयी। यह वंश ग्यारहवी शता0 के प्रारम्भ तक कन्नौज पर शासन करता रहा। बाद में कन्नौज पर गाहड़वालों का अधिकार हो गया। जो लगभग बारहवीं शता0 तक तुर्क आक्रमणकारियों के द्वारा विजित किये जाने के पूर्व तक बना रहा।

शाकम्भरी में चाहमान वंश ने शासन किया। जबकि दसवीं से बारहवीं शती0 में बुन्देलखण्ड में चंदेल वंश प्रमुख था। इसी समय मालवा में परमार वंश का शासन रहा। दसवीं शता0 के पूर्वाद्ध में गुजरात में चालुक्य वंश की स्थापना हुयी। जो तेरहवीं शता0 के पूर्वार्द्ध तक कायम रहा। त्रिपुरी में कलचरि चेदि वंश का राज्य था

इस समय उत्तरी भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर घटित मुख्य घटनायें थीं-भारत पर अरबों का आक्रमण तथा त्रिपक्षीय संघर्ष।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मदसाहब की मृत्यु (632 ई0 सन्) के पश्चात् धार्मिक एवं राजनीतिक उत्साह से परिपूर्ण अरबों ने सौ वर्षो की समयावधि के भीतर ही पश्चिम में अंध महासागर से पूर्व में सिन्धु नदी तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। अपनी इस विश्वविजय प्रक्रिया के तहत भारत पर भी अरबों ने आक्रमण किया। यद्यपि तत्कालीन कारण भिन्न था।

712 ई0 में ईराक के गवर्नर अल हज्जाल के भतीजे मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में वे मकरान के मरूप्रदेश के समतली मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुये। उन्होंने थट्टा के समीप देबल बन्दरगाह, देबलनिरून, सिविस्तान, सिंध, बहमनाबाद, आलोर एवं मुल्तान पर विजय प्राप्त करने में सफलता पायी। स्थानीय शक्तियों के कड़े प्रतिरोध के कारण उन्हें देश के भीतरी भागों पर विजय में सफलता नहीं मिल पायी। विजित क्षेत्र शीघ्र ही उनके नियंत्रण से बाहर हो गया। इसी कारण यद्यपि अरबों का राजनीतिक प्रभुत्व भारत पर दीर्घकाल तक नहीं रहा किन्तु इस आक्रमण के आर्थिक प्रभाव महत्वपूर्ण थे।

इस समय की एक अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी-गुजरात राजपूताना के गुर्जर प्रतिहार, दक्कन के राष्ट्रकूट एवं बंगाल के पाल वंशों के

मध्य हुआ दीर्घकालिक त्रिपक्षीय संघर्ष। ये सभी हर्ष की मृत्यु से उत्पन्न उत्तरी भारत में हुई रिक्तता का लाभ उठाकर समृद्ध गंगाघाटी का स्वामित्व प्राप्त करना चाहते थे और कन्नौज इस संघर्ष के लक्ष्य का प्रतीक बन गया।[1]

आठवी शता0 के आरंभ में कन्नौज, इन तीन महान शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष का केन्द्र बना। यह संघर्ष दसवीं शती के प्रारम्भ तक चलता रहा जब तक कि ये शक्तियां ह्रासमान नहीं हो गयीं।

⌘

1. झा एवं श्रीमाली पूर्वनिर्दिष्ट. पृ0 360.

अध्याय : दो

पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत में व्यापारिक गतिविधियाँ

व्यापार से तात्पर्य वस्तुओं के आदान-प्रदान से है। किसी भी मानव समाज के विकास के लिये यह आवश्यक है। यह एक स्वाभाविक सत्य है कि कुछ लोग कुछ वस्तुओं का अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन करते हैं एवं अन्य समूह कुछ दूसरी अन्य वस्तुओं का। व्यापार के द्वारा वे एक संतुलन स्थापित करते हैं जो शेष वस्तुओं का दूसरों को प्रदान एवं दूसरी जगह उत्पादित अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का आदान (प्राप्ति) द्वारा संभव होता है। इस प्रकार यह विभिन्न समाजों को परस्पर निकट जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

प्राचीन काल से ही भारत में पर्याप्त व्यापार होता था। वस्तुतः भारत की आर्थिक सम्पन्नता, जिसके फलस्वरूप उसे **'सोने की चिड़िया'** कहा जाता था, में व्यापार का महत्वपूर्ण योगदान था। अनुकूल विदेशी व्यापार के जरिये ही भारत में प्रभूत मात्रा में सोना आता था। जिससे चिंतित होकर रोमन शासकों को कतिपय प्रतिबंधात्मक नियम लगाने पड़े थे। यही सम्पन्नता विदेशी आक्रमणकारियों के आकर्षण का कारण बनी।

किन्तु पूर्वमध्यकाल में भारत में सामंतवाद के आविर्भाव एवं कतिपय विदेशी कारणों से यही स्थिति विद्यमान नहीं रही। इस काल में छठी से दसवीं शताब्दी ई0 सन् के बीच के काल में व्यापार एवं वाणिज्य में पतन दृष्टिगत होता है। ग्यारहवीं शती ई0 सन् में इसमें पुनः तेजी परिलक्षित होती है।[1] इस

---

1. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामंतवाद, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973.

समय व्यापारिक गतिविधियों में कुछ नवीन तत्वों का समावेश हुआ।

वस्तुतः इस काल में उदित हुये सामंतवाद एवं व्यापार ने एक दूसरे को प्रभावित किया। जहां सामंतवाद के कारण व्यापारिक गतिविधियों को पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं मिला वहीं व्यापारिक अवनति ने भी सामंतवाद के आविर्भाव में एक सहायक तत्व के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अतः इन दोनों तत्वों का एक-दूसरे के परिपेक्ष्य में अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

पूर्वमध्यकाल में छठी से दसवीं शती तक के समय में सामंतवाद की प्रवृत्तियां तीव्र थीं जबकि ग्यारहवीं शताब्दी से इसमें विघटन होने लगा था। इस समय व्यापार की दशा में भी यही स्थिति दिखती है। छठी से दसवीं शती तक व्यापार में गिरावट दिखती है। यह व्यापार एकदम बन्द नहीं हुआ था। तटवर्ती क्षेत्रों में विदेशों से व्यापार होता था। साथ ही देश के भीतरी भागों में भी व्यापार होता था किन्तु ये गतिविधियॅं जिस पैमाने पर चल रहीं थीं उसकी तुलना भारत रोम व्यापार से नहीं की जा सकती।[1] यद्यपि कुछ विद्वान् जैसे ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय,[2] ब्रतीन्द्रनाथ मुखर्जी[3] जॉन्स देयल[4] आदि विद्वानों ने इस समय व्यापार की दशा में गिरावट के मत का खण्डन किया है। किन्तु यह मत उचित नहीं है। वस्तुतः इस काल की परिस्थिति एवं तथ्यों के सम्यक् विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि इस काल में शुरू में व्यापार एवं वाणिज्य का पतन हुआ। श्री लल्लन जी गोपाल[5], श्री बी0एन0एस0 यादव[6] भी इसी

1. शर्मा रामशरण, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृष्ठ 118.
2. चट्टोपाध्याय, ब्रजदुलाल, द मेकिंग ऑफ अर्ली मेडिकल इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1994.
3. मुखर्जी, ब्रतीन्द्रनाथ, मीडिया ऑफ एक्सचेंज इन अर्ली मेडिकल नार्थ इण्डिया, न्यूमिस्मैटिक डाइजेस्ट X दिसम्बर, 1986 पृ0 91-100.
4. देयल, जॉन्स, लिविंग विदाउट सिल्वर, ऑक्सफोर्ड, 1990.
5. यादव, बी0एन0एस0, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन ट्वेल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद, 1973.
6. गोपाल, लल्लन जी, द इकोनॉमिक कण्डीशन ऑफ नार्दन इण्डिया, दिल्ली 1965

मत का समर्थन करते हैं। इस समय व्यापार एवं वाणिज्य के पतन में अनेक कारण उत्तरदायी थे-

(1) इन कारणों में प्रमुख कारण सामंतवाद था। पूर्वमध्यकाल में भूमिदान की प्रवृत्ति जो प्राचीन काल से ही चली आ रही थी, चरम सीमा पर पहुंच गयी। इस समय ब्राह्मणों एवं राजकीय अधिकारियों को धार्मिक प्रयोजनों, वेतनादि के लिये प्रभूत मात्रा में भूमिदान की गयी। इस समय भूमिदान के साथ-साथ सम्बद्ध क्षेत्र के राजस्व, प्रशासकीय एवं न्यायिक अधिकार भी भूमिग्रहीता को दान किये गये साथ ही उन्हें अनेक करों से भी मुक्ति प्रदान की गयी। दान ग्रहीता द्वारा पुनः भूमि अन्य को दान देने से उपसामंतीकरण की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी। इससे दान प्राप्त व्यक्तियों की, जो अपने क्षेत्र के लगभग पूर्ण स्वामी या सामंत होते थे, एक ही भूमि पर कई श्रेणियां बन गयीं।[1] चूंकि ये सामंत अपने क्षेत्र के पूर्ण स्वामी होते थे अतः इन क्षेत्रों की आर्थिक व्यवस्था शेष क्षेत्रों से पृथक सी हो गयी। भूमिदान के किसानों, कारीगरों एवं व्यापारियों को भी हस्तान्तरित कर दिया गया जिससे सम्बन्धित क्षेत्र की आर्थिक व्यवस्था कायम रह सके। इस प्रकार की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था में सामग्री का आदान-प्रदान या बिक्री अब गांव के भीतर ही होने लगी। दान न दिये क्षेत्र ग्राम-प्रधान के अधीन इसी तरह के थे। इस प्रकार मौर्य काल में जहाँ व्यापार एवं उद्योग का नियमन राज्य करता था, अब उनकी व्यवस्था केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त आर्थिक इकाइयों के प्रधान करने लगे।[2]

आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था में ज्यादातर व्यापार आदान-प्रदान प्रणाली से

---

1 भट्टभुवनदेव, अपराजित पृच्छा, 81-2-12, इसमें महामंडलेश्वर, माडलिक, महासामंत आदि नौ श्रेणी के अमीरों हेतु आवासों का वर्णन है।

2. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामंतवाद, पृ0 66.

ही हो जाता था। मुद्राओं की कोई खास आवश्यकता नहीं थी। यही स्थिति इस समय दिखती है। इस समय आम चलन की मुद्राओं में कमी दिखती है।[1] लगभग 650 ई0 से 1000 ई0 तक तो स्वर्ण मुद्राओं का प्राय. अभाव ही दीख पड़ता है।[2] इस प्रकार व्यापार की कमी से नगरीय जीवन में कमी आने लगी। ह्वेनसांग ने पुराने महत्व के नगरों की ह्रासमान दशा पर प्रकाश डाला है। नगरीकरण की प्रक्रिया में कमी आने से व्यापारियों के लिये अवसर घटने लगे थे। कहीं-कहीं व्यापारियों को भी गांव दान में दिये गये जिसमें वे व्यापार की जगह सम्बन्धित क्षेत्र की प्रशासनिक व्यवस्था में ज्यादा रत हो गये। इसी समय से उद्योग एवं व्यापार से होने वाली आय को धार्मिक प्रयोजन हेतु अनुदान में दिये जाने का प्रचलन बढ़ने लगा। जबकि ये पूंजी को व्यापार के विकास में लगा सकते थे जिससे आर्थिक संवृद्धि होती। स्थानीयता से बाजार के लिये बड़ी मात्रा में वस्तुओं के उत्पादन हेतु कोई प्रोत्साहन नहीं था, इसमें व्यापार के विकास को धक्का पहुंचा। व्यापार में गिरावट के परिणामस्वरूप इसमें सम्बद्ध वर्ग, वैश्यों की दशा में इस समय अवनति दृष्टिगत होती है। इस समय इन पर शूद्रों की तरह निषेध लगाये गये। प्राचीन काल में वैश्यों को वेदाध्ययन का अधिकार था किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी ई0 सन् में अलबरूनी इनकी स्थिति शूद्रों के समकक्ष बताता है।[3] वह कहता है कि वेदपाठ के अपराध में वैश्य एवं शूद्र दोनों की जीभ काट ली जाती थी। इनकी आर्थिक स्थिति में गिरावट का पता स्कन्दपुराण में की गयी उस भविष्यवाणी में मिलता है जिसमें कहा गया है कि कलियुग में व्यापारियों का पतन होगा। कुछ तेली और अन्न की ओसाई फटकन करने वाले (तण्डुलकारिणः) हो जायेंगे तथा कुछ

---

1. वही, पृ0 67.
2. शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकाल में सामाजिक परिवर्तन पृ0 5.
3 अलबरूनीज इण्डिया, सचाऊ, जिल्द 1 पृष्ठ - 101

राजपूतों और अन्य सभी प्रकार के वर्गों का आश्रय ग्रहण कर लेंगे।[1]

आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था में संचरणशीलता में कमी आयी। हेमचन्द्र की अभिधानचिन्तामणि में देशधर्म की जगह 'ग्राम्यधर्म'[2] का उल्लेख ग्रामों के बढ़ते महत्व की सूचना देता है। इस समय श्रेणियों का भी पूर्वकाल की अपेक्षा कम उल्लेख मिलता है।

(2) इस समय व्यापार एवं वाणिज्य के पतन के लिये कुछ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी थीं। प्राचीन समय में भारत को रोम से होने वाले रेशम के व्यापार में पर्याप्त लाभ होता था एवं इस निर्यातित रेशम के बदले में मुद्रा रूप में बड़ी मात्रा में कीमती धातुयें, सोना एवं चाँदी भारत आती थी। यह आमद इतनी ज्यादा थी कि रोम के अधिकारियों को भारतीय माल के आयात पर रोक लगानी पड़ी थी ताकि सोना, चाँदी बाहर न जाय। किन्तु इस समय रेशम व्यापार में गिरावट आयी। वस्तुतः भारत के उत्तर से गुजरने वाले रेशम मार्ग जिससे चीन का रेशम रोम को जाता था, से उत्तरी पश्चिमी भारत से निकलने वाला एक मार्ग मिल जाता था। भारतीय व्यापारी चीनी रेशम को खरीद कर पुनः रोम को निर्यात कर देते थे। इसमें उनको पर्याप्त लाभ प्राप्त होता था। इस समय तक उत्तरी पश्चिमी मार्ग बाधित होने एवं रोमवासियों द्वारा रेशम के निर्माण की तकनीक (रेशम का कीड़ा-पालना) सीखने[3] से उन्हें चीन एवं भारत से रेशम मंगाने की आवश्यकता नहीं रही। प्राचीन रोमन साम्राज्य के नष्ट होने से भी इसकी मांग में कमी आयी। इसमें भारत का व्यापार में लाभांश कम हो गया।

(3) इस्लाम के उदय एवं अरबों के उत्थान के कारण भी भारतीय

---

1. स्कन्दपुराण, उद्धृत, शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकाल में सामाजिक परिवर्तन, पृ0 16
2. अभिधान चिन्तामणि, III, 209.
3. रिचर्ड, पैकहर्स्ट, इंट्रोडक्शन टु इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ0 46.

व्यापार पर प्रभाव पड़ा। अरबों की बढ़ती नौसैनिक शक्ति से भारतीय व्यापारी दूरस्थ देशों की यात्रा को हतोत्साहित हुये। वे ज्यादातर भारतीय तटों के समीपवर्ती क्षेत्र तक ही सीमित रह गये।

(4) देश में व्याप्त युद्धरतता, अस्थिरता ने भी इस समय के व्यापार पर प्रतिकूल असर डाला। युद्ध, छापों एवं सामंतों के विद्रोंहों से मार्ग एवं सम्बन्धित क्षेत्र बाधित हो गये।[1]

(5) इस समय आंतरिक एवं विदेशी व्यापारों पर बढ़ती हुयी डकैती से विपरीत प्रभाव पड़ा। सुविधायें एवं मार्ग की सुरक्षा व्यापार एवं वाणिज्य के लिये महत्वपूर्ण हैं। जैन कथा साहित्य से यह पता चलता है कि उस समय इन दोनों का अभाव था।[2] उपमितिभवप्रपंच कथा[3], वृहत् कथाकोष एवं भविष्यत् कथा[4] मार्ग की कठिनाइयों की विवेचना करते हैं। उत्तरी पश्चिमी भारत पर तुर्कों के कारण अस्थिरता एवं भय व्याप्त हो गया था। कथासरित्सागर की एक कहानी से पता चलता है कि एक बार कुछ व्यापारी जो उज्जैयिनी से पुष्कलावती जा रहे थे तुर्कों द्वारा पकड़ कर बेच दिये गये।[5] बोधिसत्व अवदान कल्पलता[6] में नागाओं द्वारा की जाने वाली समुद्री डकैती पर प्रकाश डालता है। जिससे भयभीत होकर कुछ व्यापारी निश्चित ही अन्य व्यवसाय अपना लेते थे। कभी-कभी सामंत, पूर्व राजा, कुछ विशेष जातियाँ भी इस तरह की लूट करके व्यापार को बाधा पहुंचाती थी। नड्डौल का चाहमन वंश का संस्थापक लक्ष्मण

---

1. यादव, बी0एन0एस0, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 272
2. मुधोल्हकर, वनमाला, सोशियो इकोनॉमिक स्टडी ऑफ द अर्ली जैन कथा लिटरेचर (ए0डी0 700-1000) इलाहाबाद, 1995, पृ0 135-140
3. उपमितिभवप्रपंच कथा, पृ0 863
4. भविष्यत्कथा, पृ0 17
5. कथासरित्सागर, VII 3 3-51
6 क्षेमेन्द्र, बधिसत्व अवदान कल्पलता, पृ0 113-114

पहले व्यापारिक काफिलों को लूटा करता था।[1] प्रबंधकोष से भी एक यात्रा करने वाले व्यापारी को एक प्रमुख द्वारा लूटे जाने का प्रसंग प्राप्त होता है।[2] कभी-कभी वनादि क्षेत्रों में रहने वाली जातियाँ भी व्यापारियों को लूट लिया करतीं थीं।

(6) इस समय व्यापारियों पर राज्य की ओर से बहुत कर लगाया जाता था। लम्बी यात्रा में बीच में बहुत से राज्य पड़ने के कारण व्यापारियों को बहुत जगह चुंगी देनी पड़ती थी। कभी-कभी कर भार से बचने के लिये व्यापारी अपने धन को कहीं छिपा दिया करते थे।[3] 'पुण्याश्रव्यकथाकोष' में इसी तरह का एक प्रसंग प्राप्त होता है। एक बार दो व्यापारी बहुत सा धन कमाने के पश्चात् अपने गृहराज्य में प्रविष्ट हुये तो उन्होंने कर संग्रहक अधिकारी, 'शौल्किक' के भय से उस धन को जमीन में गाड़ दिया।[4] कथासरित्सागर में भी एक ऐसा ही प्रसंग प्राप्त होता है। इसमें वर्णित है कि वलभी जाने वाला व्यापारियों का समूह, भारी कर लगाने के भय से सीधे रास्ते से न जाकर जंगलों से होते हुये गया।[5] संभवतः इसी कारण मेधातिथि ने यात्रा करने वाले व्यापारियों की राजभय से सुरक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया।[6]

इस प्रकार छठी से दसवीं शताब्दी के बीच के समय में व्यापार एवं वाणिज्य में पतन हुआ। इस बात की पुष्टि नीतिवाक्यामृत, लेखपद्धति एवं वृद्धहरित से होती है, जो व्यापार की अपेक्षा कृषि को वरीयता देते हैं।[7]

दसवीं शताब्दी के पश्चात् हम पुनः व्यापार एवं उद्योगों में तीव्रता

---

1. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ0 121
2. प्रबन्धकोष पृ0 53.
3. मुधोलकर बनमाला, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 121
4. पुण्याश्रव्यकथा कोष, पृ0 63.
5. कथासरित्सागर, VI 3 105
6 मनुस्मृति पर टीका, VII 127
7. यादव, बी0एन0एस0, लेख, इ0हि0रि0, भाग III 1976, पृ0 43-4

देखते हैं। डॉ0 शर्मा[1] इसके अनेक कारण बताते हैं:-

1. पूर्वी भारत में नारियल एवं सुपारी जैसी व्यापारिक वस्तुओं का बढ़ता उत्पादन व्यापारिक पुनरूत्थान के कारण थे। इससे किसानों को नकद आमदनी प्राप्त होती थी।
2. मध्य एवं पश्चिमी भारत में ईख, रूई, सन, इन तीन नगदी एवं व्यापारिक फसलों की खेती बढ़ना इसका एक कारण था।
3. राजस्थान में अरघट्ट के बढ़ते प्रयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुयी।
4. ऊँट एवं घोड़ों का (बैलों के अलावा) माल वहन हेतु उपयोग होने लगा।
5. चमड़े के उद्योग एवं उसके निर्यात से अर्थव्यवस्था में सुधार हुआ।
6. नौका निर्माण कौशल में बढ़ोत्तरी ने इसे प्रोत्साहित किया।
7. यूरोप में भौतिक स्तर पुनः बढ़ने से विलासिता की वस्तुओं की मांग बढ़ी।

वस्तुतः दसवीं शती0 के बाद से सामंतवाद की जड़े कमजोर हो गयी थीं। बेगार की जगह नगद महत्वपूर्ण हो गया। पश्चिमी भारत में बहुत से नगर बने। उत्तर भारत में मुद्रा की प्रभूत मात्रा में ढलाई होने लगी।

पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत में देश के भीतर एवं विदेशों से व्यापार जारी था। मेधातिथि वैश्य को सलाह देता है कि उसे अन्तर्राज्यीय व्यापार हेतु वहॉं पर वस्तुओं की उपलब्धता, समय, उस स्थान के लोगों का स्वभाव, रीतिरिवाज, विभिन्न क्षेत्रों की भाषा एवं भिन्न-भिन्न राज्यों से सम्बन्ध रखने के लाभ एवं हानि की जानकारी कर लेनी चाहिये।[2] इस समय व्यापारी विभिनन क्षेत्रों की व्यापार के लिये यात्रा किया करते थे। इस समय के उत्तर भारत के व्यापार को अध्ययन सुविधा की दृष्टि से दो वर्गो में रखा जा सकता है:-

1. आंतरिक व्यापार 2. विदेशी व्यापार

---

1. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामंतवाद, 248-265.
2. मेधातिथि की मनुस्मृति पर टीका, I 90, 31

आंतरिक व्यापार

इस समय उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्र आपस में व्यापार करते थे। व्यापारी विभिन्न क्षेत्रों को जाकर पर्याप्त लाभ अर्जित करते थे। हेमचन्द्र रचित त्रिशष्टिश्लाका पुरूष चरित्र में यह प्रसंग प्राप्त होता है कि एक धनी व्यापारी अमीर बनने के लिये वसन्तपुरा को जाता है।[1] परिशिष्ट पर्वन् में थी ऐसा ही प्रसंग प्राप्त होता है।[2] जिसमें एक धनी व्यक्ति सब कुछ खो देने के पश्चात् दूरस्थ क्षेत्र को धन कमाने हेतु जाता है।

आंतरिक व्यापार हेतु राजा से व्यापारियों को आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती थी।[3] उपमितिभवप्रवंचकथा में दूरवर्ती क्षेत्रों के एक व्यापारी द्वारा व्यापारिक गतिविधियों के संचालन हेतु 'हस्तादेश' या अनुज्ञा प्राप्त करने का उल्लेख है।[4] अनुज्ञा का प्रावधान संभवतः तस्करी रोकने के लिये बनाया गया था। इस हेतु वे सम्बन्धित क्षेत्र के राजा को बहुमूल्य पदार्थ भेंट स्वरूप देते थे। वृहत्कथा कोष में यह विवरण प्राप्त है कि एक व्यापारी दूसरे राज्य के राजा के पास जाकर उसे मूल्यवान् उपहार भेंट देता है एवं बदले में अपने सामान की आवगमन की अनुमति प्राप्त करता है।[5] राजा दूसरे क्षेत्र के व्यापारियों का संरक्षण करता था। कर्तारगच्छ्गुरूवाली में इस पर प्रकाश पडता है।[6] इसमें वर्णित है कि 1244 विक्रमसंवत् (1187 ई0सन्) में व्यापारियों एवं तीर्थयात्रियों का एक कॉरवा जो अजमेर से आया था, गुजरात के चालुक्यनरेश भीम द्वितीय के राज्य से गुजरने हेतु वहाँ के मंत्री जगद्देव प्रतिहार से

---

1 त्रिशष्टिश्लाकापुरूष चरित, I, पृ0-7
2. परिशिष्ष्पर्वन, 5,5-पृ0153-53
3. मुधोल्कर बनमाला पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0-120
4. उपमितिभवप्रवंचकथा, पृ0-868
5. वृहत्कथा कोष उद्धृत वी0के0जैन,ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ0-36
6. कर्तारगच्छ्गुरूवावली, पृ0-43

अनुमति प्राप्त कर ली। जब कॉरवा आशापल्ली पहुँचा दण्डनायक अभयादय, जो विरोधी सम्प्रदाय का था, ने उसको लूट लेने का कुकृत्य किया। जब जगद्देव को यह पता चला तो वह अत्यंत क्रुद्ध हुआ। उसने अभयादय को चेतावनी दी कि यदि वह संघ को क्षति पहुँचायेगा तो उसे, गधे की खाल में सिल दिया जायेगा। वह कहता है कि इस संघ को हानि पहुंचाने पर जगद्देव एवं अजमेर के राजा के बीच सम्बन्धों में कटुता हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यापारियों को राज्य का संरक्षण प्राप्त था एवं दूसरे राज्य में उनके साथ अनुचित व्यवहार किये जाने पर राज्यों के आपसी सम्बन्ध विगड़ सकते थे। कुछ मूल्य देने के पश्चात् आज्ञा प्राप्त करने वाले व्यापारी सम्बन्धित राज्य द्वारा सुरक्षा प्राप्त करने के भी अधिकारी हो जाते थे।

व्यापारी अलग-अलग या समूह (काफिला) या कॉरवा बनाकर व्यापारा करते थे।

कांरवाँ व्यापार

प्राचीन समय में अन्तर्राज्यीय व्यापार करने वाले व्यापारी ज्यादातर समूह बनाकर व्यापार के निमित्त यात्रा किया करते थे। ये अपनी वस्तुओं को घोड़ों, बैलों आदि पशुओं या रथों पर लाद करके आते जाते थे तथा उनका क्रय-विक्रय करते थे। ऐसे व्यापारी सार्थ के नाम से जाने जाते थे। कभी-कभी ये 'सांगात्रिक' भी कहलाते थे। विश्वरूप ने इन व्यापारियों के लिये नैगम शब्द का प्रयोग किया है।[1] अपरार्क ने इसका तात्पर्य विभिन्न जाति के उन व्यापारियों से लगाया है जो दूसरे देशों में व्यापार करने हेतु साथ यात्रा करते हैं।

---

1. विश्वरूप, याज्ञवलक्यस्मृति पर टीका, II, 192, सार्थवाहादि समूह नैगम.

सार्थ में पांच प्रकार के लोग होते थे-

1. मंडी सार्थ (व्यापारिक सामान) और माल लादकर सम्मिलित होने वाले व्यापारी, 2. वह्लिका (घोड़े, बैल, ऊँट आदि वाहन), 3. भारवाह (माल ढोने वाले लोग) 4. औदारिका (आजीविका के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान जाने वाले लोग और 5. कापटिक (साधु और भिक्षु)।[1]

इन व्यापारियों का नेता सार्थवाह कहलाता था अमरेकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी ने लिखा है- जो पूँजी द्वारा व्यापार करने वाले पान्थों का अगुआ हो, वह सार्थवाह है।[2] वह व्यापारियों के समूह को नेतृत्व प्रदान करता था। सार्थ की रक्षा एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व सार्थवाह का ही होता था। इस यात्राकाल में सार्थ का सम्प्रभु भी होता था। यह कारवाँ की जंगली जानवरों एवं लुटेरों आदि से सुरक्षा, खान-पान सम्बन्धी अन्य व्यवस्थायें करता था। यह विविधमार्गों की थी अच्छी जानकारी रखता था।

कारवाँ व्यापार से व्यापारियों को दूरदेशीय यात्रा का उत्साह रहता था। जिसमें उनको काफी धन प्राप्त होता था। पृथक् रूप से यात्रा असुरक्षित रहने का भय रहता था।

यात्रा करने से पूर्व काफिले का नेता ढोल पिटवा कर लोगों में यह घोषणा करवाता था कि यादि व्यापारी सार्थ में यात्रा के इच्छुक हों तो उन्हें सवारी, वस्तु, सुरक्षा, खानपान सम्बन्धी सभी सुविधायें प्राप्त होंगी।[3] काफिला यात्रा करने के पूर्व मांगलिक रीतियों को करते थे एवं शुभमुहूर्त में प्रस्थान करते थे।

सार्थ देश के भीतर एवं दूर-दूर के देशों को यात्रायें किया करते थे।

---

1. मिश्र जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पटना, 1174, पृ0 628
2. सार्थान् साधनान् सरतो व पान्थान वहति सार्थवाह. अमरकोष की टीका, 3,9,98
3. त्रिशष्टिश्लाकापुरूष चरित, जिल्द ए पृ0-7 के आगे

ग्रन्थों में दक्षिणी पूर्वी द्वीप समूह तक सार्थ जाने के उल्लेख है। सोमदेव ने सुवर्णद्वीप एवं ताम्रालिप्ति के बीच एक सार्थ की यात्रा का वर्णन किया है जिसमें सुवर्णदीप से स्वदेश वापस आते समय दुर्घटनावश जहाज नष्ट हो गया एवं मात्र एक व्यक्ति शेष रह गया।[1] इस समय उत्तर भारत में विविध वस्तुओं का व्यापार होता था।

आंतरिक व्यापार : सामग्री

प्राचीन काल की भाँति पूर्वमध्यकाल में भी देश के विभिन्न भागों में आपसी व्यापार जारी था। जीवन निर्वाह हेतु आवश्यक वस्तुयें एवं ऐश्वर्य तथा भोगविलास की वस्तुओं का व्यापार होता। मसाले, खाद्यान्न, चीनी, तेल एवं घी, वस्त्र, नमक, पशु, चमड़े का सामान, पान, धातु सामग्री, चन्दन, कस्तूरी, मूंगा आदि वस्तुयें देश के विभिन्न भागों में व्यापार द्वारा जाती थी।

1. खाद्यान्न

खाद्यान्न आंतरिक व्यापार की प्रमुख सामग्री थे। पूर्वमध्यकाल के विविध अभिलेखिक एवं साहित्यिक स्रोतों से इसके व्यापार के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। इस समय कहल्ली (तैंससप) शब्द का प्रयोग विक्रय योग्य अनाज[2] एवं अनाज का विक्रय करने वाले व्यापारियों[3] के लिये मिलता है। परिशिष्टपर्वन् में यह इंगित किया गया है कि अनाज (धान्यम्) व्यापारियों के समूह के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया जाता था।[4] प्रबन्धचिन्तामणि में चने बेचने वाले एक व्यापारी का उल्लेख आया है।[5]

---

1. यशस्तिलक, उत्तरार्द्ध , पृ0 345
2 देशीनाममाला, II, 59
3. इब्नबतूता, (गण आदि विक्रेता वणिक) II.
4 परिशिष्टपवन्, XIII, 180-200
5 प्रबन्धचिन्तातमणि (चना-विकय-कर) पृ0 70

पूर्वमध्यकाल में विक्रय हेतु बाजार में अनाज लाये जाने पर उस पर कर लगाये जाने के प्रमाण मिलते हैं। 959 ई0 के राजौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि बाजार स्थल पर विक्रय हेतु लाये गये अनाज के प्रत्येक ढेर पर तीन विमसोपाक का कर लगाया गया था। गुजरात के चालुक्य नरेश कुमारपाल के समय के मंगरोल अभिलेख (1145) से ज्ञात होता है कि अन्न से भरी प्रत्येक गाड़ी पर चार कार्षापण का शुल्क लियाा जाता था कभी-कभी इसमें छूट भी दी जाती थी। मेरूतुंग के विवरण से ज्ञात होता है कि सिहोर के एक ब्राह्मण के नयी जगह बसने पर राजा द्वारा उसे अनाज ले जाने पर कर नहीं लगाया गया था।[1]

अन्न की की सुरक्षा का राज्य की ओर से से भी विशेष प्रयास किया जाता था। लेखपद्धति से ज्ञात होता है कि पशु द्वारा मक्के के खेत चरने पर पशु मालिक पर एक द्रम्म का जुर्माना लगाया गया था।[2]

2. चीनी

आवश्यकता की प्रमुख सामग्री होने के कारण चीनी व्यापार की प्रमुख वस्तु थी।

इस समय के साहित्य में विविध स्थलों पर गन्ने के उगाये जाने के विवरण प्राप्त होते हैं। हेमचन्द्र ने इसके बाग[3] एवं विभिन्न प्रकारों[4] का वर्णन किया है।

राज्य इस पर भी कर लगाता था।

---

1 प्रबन्धचिंतामणि- पृ0 107
2 लेखपद्धित पृ0 16
3 देशीनाममाला I, 117.
4 वही, I 28, 79, II 82.

1079 ई0 के अर्थूना अभिलेख से चीनी की प्रत्येक ढेरी पर एक द्रम्म इकट्ठा किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस समय चीनी के विविध प्रकारों खाँड, गुड़ एवं शक्कर के विषय में विभिन्न अभिलेखों एवं साहित्य में वर्णन प्राप्त होता है।

3. तेल एवं घी

घृत एवं तेल के सन्दर्भ विभिन्न अभिलेखों एवं साहित्य से प्राप्त होते हैं। इसे व्यापारी गाँव से शहरों में ले जाते थे। हेमचन्द्र ने घृत व्यापारियों का उल्लेख किया है।[1] वह इस बेचने वाले का उल्लेख करता है। संस्कृत साहित्य में 'रस' शब्द बहुत से तरल स्वरूपों को व्यक्त करता है जैसे शहद, दूध, घी, चीनी, मदिरा आदि। लेखपद्धति[2] का यह विवरण कि तिल से भरी गाडियों पर व्यापारी दस प्रतिशत कर दिया करते थे, इंगित करता है कि यह तेल निकालने हेतु दूसरी जगह ले जाया जाता था। 959 ई0 के गजौर अभिलेख से मक्खन एवं तेल से परिपूर्ण पात्रों (घट) पर कर लगाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्थूना अभिलेख से तेल एवं घी के प्रत्येक घट पर एक पालिका ग्रहण किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। तिल का उत्पादन गुजरात में विशेष रूप से होता था।

धार्मिक उद्देश्यों के लिये तेल के अनुदान दिये जाने के प्रसंग विभिन्न अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। चित्तौड़गढ़ प्रस्तर अभिलेख से एक तेलनिर्माणशाला को कुमारपाल द्वारा शिवमंदिर को प्रकाश के लिये दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इस तरह के प्रमाण अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं।

1. तिशष्टिश्लाकापुरुष चरित.
2. लेखपद्धति, पृ0 14 (तिलभृतवाहन).

जिससे ज्ञात होता है कि तेलनिर्माणशाला से अनुदान राजाओं एवं अमीरों द्वारा दिया जाता था, जो उनके व्यक्तिगत हिस्से के अलावा होता था।

4. वस्त्र

वस्त्रों का व्यापार अत्यंत प्राचीन काल से ही जारी था। समराइच्छकहा वस्त्र एवं भोज्य सामग्री का बाजार में विक्रय का उल्लेख करती है।[1] **कथाकोष प्रकरण**[2] में हम एक ऐसे व्यापारी का उल्लेख पाते हैं जो कपड़े के सैकड़ों गट्ठर का रोजाना क्रय-विक्रय करता था। शहरों में कपड़े के बाजार होते थे।[3]

सूती, रेशमी, ऊनी विविध प्रकार के वस्त्र बिकते थे। प्राचीन काल से ही भारत के वस्त्र की उत्तमता विदेशों में भी स्वीकार की गयी थी। शांतिदेव के शिक्षा-समुच्चय (सातवीं शताब्दी ईस्वी) से ज्ञात होता है कि **वाराणसी** की ख्याति श्रेष्ठ रेशम के लिये थी। **मथुरा** का धारीदार वस्त्र देश के विभिन्न भागों में जाता था। काश्मीर में सफेद लिनन बनायी जाती थी।

बंगाल के कपड़े व्यापार के द्वारा देश एवं विदेशों को जाते थे। अरब यात्री सुलेमान ने बंगाल की मलमल के संबंध में लिखा है कि यह इतनी महीन होती थी कि अंगूठी के बीच से पूरा थान निकल सकता था। इब्नखुर्दाब्ह ने भी बंगाल के मलमल की प्रशंसा की है।

मुल्तान के वस्त्रों की श्रेष्ठता का उल्लेख अलइद्रीसी ने किया है। मानसोल्लास[4] मुल्तान, गुजरात एवं कलिंग के कपड़े की प्रशंसा करता है।

---

1. समराइच्चकहा, 6, पृ0 16, 7 पृ0 717 हट्टाओं अहं किञिचभोयण जाय।
2 कथाकोष प्रकरण, च्प 89
3 सियाडोनी अभिलेख, इपिग्राफिया इण्डिया, 21, ८ पृ0 162
4. मानसोल्लास, 3, 1017-20

गुजरात के बने वस्त्र भी प्रसिद्ध थे। भडौच के वस्त्र 'बरोज' थे एवं खंभात के खंबायात नाम से विख्यात थे। चाऊ-जु-कुआ[1] गुजरात की छींट की प्रशंसा करता है।

हेमचन्द्र[2] सन अथवा पटुआ की फसल का उल्लेख करता है।

मेघातिथि[3] ने क्षौम, रेशमी और भेड़ और बकरी के ऊन का उल्लेख किया है।[4] मध्यदेश चुनरी के लिये प्रसिद्ध था।

5. कम्बल

जिनेश्वरसूरी की कथाकोष से कम्बल के व्यापार के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[5]

6. नमक

मानव की अनिवार्य आवश्यकता होने के कारण नमक व्यापार की एक प्रमुख सामग्री था। सियाडोनी अभिलेख से 'नमक वणिक' का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्थूना अभिलेख से नमक से भरी एक बैलगाड़ी पर एक 'मनका' कर लगाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। राजस्थान के सम्भर एवं अन्य जगहों पर इसका प्रभूत उत्पादन होता था। गुजरात तट की प्राकृतिक दशा नमक उत्पादन हेतु महत्वपूर्ण थी। नमक उत्पादन पर संभवतः राज्य का एकाधिकार था। व्यापारी एवं निर्माता राजाज्ञा प्राप्त करके ही इसका उत्पादन कर सकते थे।

---

1. चाऊ-जु-कुआ 92
2. अभिधानचिन्तामणि प्ट 233.
3. मेघातिथि, मनु0 टीका 2, 98, 321 और 8, 326
4. मेघातिथि, मनु0 टीका 2, 98, 321 और 8, 326
5. कथाकोष.

7. मृण्पात्र

मृण्पात्र रोजमर्रा की आवश्यकता थे। यह तरल पदार्थ जैसे पानी, दूध आदि रखने हेतु विशेष उपयोगी थे। अतः व्यापार की महत्वपूर्ण वस्तु थे।

हेमचन्द्र सन्दलपुत्र नामक एक धनी मृण्पात्र विक्रेता का उल्लेख करता है जो पॉंच सौ दुकानों (मृण्पात्र वाली) का मालिक था।[1]

रासमाला मृण्पात्र विक्रय हेतु वाहन जूनागढ़ आने वाले सौ व्यापारियों का उल्लेख करती है।[2] धातु पात्रों की अपेक्षा ज्यादा सस्ते होने के कारण ये सभी वर्ग द्वारा प्रयुक्त होते थे।

8. पशु

गाय, घोड़ा, हाथी, बैल आदि पशुओं का व्यापार होता था। हेमचन्द्र ने इनका व्यापार करने वाले व्यापारियों को सांस्थानिक कहा है।

पुण्ड्रकाली गायों की आपूर्ति करता था।[3] गायों के विक्रय हेतु विशेष बाजार था। एक गाय की कीमत पचास सिक्के थी। जिनेश्वरसूरी के षष्ठानकप्रकरण में व्यापारी को यह सलाह दी गयी है कि उन्हें हाथी, घोड़े, बैल आदि ज्यादा मात्रा में नहीं रखना चाहिये क्योंकि उसमें उन्हें चारे पर भारी खर्च या पशु मृत्यु पर भारी हानि उठानी पड़ सकती है। कामरूप एवं कलिंग के जंगलों से हाथी पकड़ कर लाये जाते थे।[4] काश्मीर एवं सिंध के लोगा घोड़े एवं गायों का व्यापार करते थे।[5] घोड़ों का व्यापार पूर्वमध्यकाल में अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया था।

---

1 तिशाष्टिश्लाकापुरूषचरित, ट्प्ए पृ0 211
2. रासमाला पृ0 125
3 मध्यममाकन्द, पृ0 20.
4 वार्टस टी, ऑन युवानच्वाग ट्रेवल्स इन इण्डिया, खण्ड ㄷ पृ0 186, 198
5 वही, 1 पृ0 261

तबकात-ए-नासिरी से ज्ञात होता है कि उत्तरी पूर्वी भाग से 1500 घोड़े भारत में आयात किये गये थे जो स्थानीय बाजारों में बिकते थे।[1] पेहोवा (करनाल) अभिलेख के अनुसार देश के विभिन्न स्थानों के अश्वों के व्यापारी वहाँ इकट्ठे होते थे[2] एवं अश्व खरीदते एवं बेंचते थे। अलबरूनी भी गाय एवं घोड़ों के व्यापार का उल्लेख करता है।[3]

घोड़ा पूर्व औद्योगिक युग में यातायात का तीव्रतम साधन था। यह तीव्रगति के कारण युद्ध के लिये भी बहुत महत्वपूर्ण था। पूर्वमध्यकाल के युद्धरत वातावरण में यह बहुत उपयोगी था। अतः राजाओं एवं सामंतों द्वारा इसकी बराबर मांग बने रहने के कारण यह व्यापार की प्रमुख वस्तु बन गया था।

युद्धोपयोगी उत्तम नस्ल के घोड़े की भारत में उपलब्धता नहीं थी अतः इसका विदेशों से आयात करना पड़ता था। विदेशी व्यापार केन्द्रों से भारत के विभन्न भागों में इनकी आपूर्ति आंतरिक व्यापार द्वारा होती थी।

पेहोवा लेख (848 ई0 सन्) से ज्ञात होता है पेहोवा (प्राचीन प्रथुण्डक, हरियाणा का करनाल जिला) में घोड़े का बाजार[4] लगता था। जहाँ पर सामंत एवं शासकीय लोग खरीदारी करते थे। जिससे सिद्ध होता है कि घोड़ा उस समय राजकीय एकाधिकार में नहीं था।

955 ई0 के बयाना अभिलेख (राजस्थान) एवं 975 ई0 के बिल्हरी अभिलेख (जबलपुर म0प्र0) से भी घोड़ों के व्यापार के विषय में प्रकाश पड़ता

---

1. तबकात-ए-नासिरी, पृ0 567
2. डायनैस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया 1, पृ0 119
3. ग्यारहवीं सदी का भारत पृ0 104.
4 व्यूलर, जी 'द पहोवा इन्सक्रिप्शन फाम द टेम्पल ऑफ गरीबनाथ' इथिग्राफिया इण्डिका 1:184-90

है।[1] इसमें स्थानीय व्यापार केन्द्र मण्डापिका (मण्डी) में घोड़े के बिकने का उल्लेख है।

9. दास व्यापार

पूर्वमध्यकाल में दासों का नियमित व्यापार होता था। इस समय के अनेक कथा ग्रन्थों में दास दासियों के क्रय-विक्रय के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। यह दास व्यापार देश के भीतर एवं विदेशों दोनों से होता था। उपमितिभवप्रपंचकथा में यह विवरण आता है कि डाकुओं द्वारा एक व्यक्ति का भली प्रकार पोषण इसलिये किया गया था कि बेचने पर उसका अच्छा दाम मिल सके।[2]

लेखपद्धति में यह वर्णन मिलता है कि एक लड़की विक्रय हेतु चतुष्पथ पर खड़ी होती है एवं बाद में खरीद ली जाती है।[3] इससे ज्ञात होता है कि दासों का क्रय-विक्रय चौराहों पर होता था ताकि शहर का प्रत्येक व्यक्ति जान सके।

10. पान एवं सुपारी

पूर्वमध्यकाल में पान एवं सुपारी का बड़े पैमाने पर व्यापार होता था जो संभवतः मालाबार एवं बंगाल से लायी जाती थी। जहाँ इनका पर्याप्त उत्पादन होता था।

---

1 इपिग्राफिया इण्डिका खण्ड 22, पृ0 120.
2. उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ0 404-5.
3. लेखपद्धति पृ0 44.

पान का व्यापार काफी लाभप्रद था। इससे पान विक्रेता (ताम्बूलिक) का समाज में पर्याप्त सम्मान था। **मानसोल्लास** में इससे सम्बन्धित एक अधिकारी 'पर्णाधिकारी' का उल्लेख हुआ है।[1]

11. चमड़े का सामान

चमड़े की विविध वस्तुयें जाती थीं एवं इनका देशी एवं विदेशी व्यापार जारी था। मार्कोपोलो कहता है कि गुजरात के लोग नीले एवं लाल चमड़े की चटाइयाँ बनाते थे। जूते भी चमड़े से बनते थे जिनसे व्यापारियों के पैर सुरक्षित रहते थे।[2] चमड़े के बैग भी बनते थे जिनमें पानी, तेल, घी आदि तरल पदार्थ रखे जाते थे।

12. धातु एवं धातु सामग्री

धातुओं एवं धातु सामग्री का, उत्पादित क्षेत्रों से मांग के क्षेत्रों में व्यापार होता था। ताँबा, पीतल, लोहा, सीसा, टीन, चाँदी एवं सोना प्रमुख धातुयें थीं। 'अभिधान रत्नमाला' के विवरण से हमें ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र पीतल की वस्तुओं एवं बंगाल टीन की वस्तुओं के लिये प्रसिद्ध थे।[3]

लोहा सर्वाधिक उपभोग की वस्तु थी। यह तलवार, बाण, भाले, मशीनी औजार, खेती एवं गृहस्थी के उपकरण निर्माण हेतु उपयोगी था। रसरत्नसमुच्च्य[4] से ज्ञात होता है कि लोहा एवं स्टील उद्योग (तेरहवीं शता0) बहुत विकसित हो चुका था।

---

1. मानसोल्लास, ᥤए पृ0 104-5
2 तिशाष्टिश्लाकापुरुषचरित, ᥤए पृ0 9.
3 अभिधानरत्नमाला, 2, पृ0 15.
4 रसरत्नसमुच्चय, पृ0 43-44.

तलवारे, युद्धोपयोगी होने के कारण पूर्वमध्यकाल में बहुत महत्वपूर्ण थी। अग्निपुराण[1] खटी–खत्तर, ऋषिक, शूर्पारक, बंग (पूर्वी बंगाल) एवं अंग (बिहार के मुंगेर एवं भागलपुर जिले) इन पांच प्रमुख स्थानों, जहां से निर्मित तलवारे दूसरी जगह ले जायी जाती थीं, का वर्णन करता है। भोज की युक्तिकल्पतरू[2] से पता चलता है कि सौराष्ट्र तलवार निर्माण का एक प्रमुख केन्द्र था।

हेमचन्द्र ने सोना, चाँदी, तांबा, लोहा आदि खनिज पदार्थो का व्यापार करने वाले व्यापारी को 'प्रास्तारिक' की संज्ञा से अभिहित किया है।

13. अन्य सामग्री

मणियाँ, सोना, चांदी, मसाले, हाथीदांत एवं इससे निर्मित वस्तुओं का भी व्यापार होता था। बांस, चमड़ा, लाख का व्यापार करने वाले व्यापारी को हेमचन्द्र ने 'कठिनन्तिक' कहा है। उत्तर भारत में गोल मिर्च, मूंगा, चन्दन आदि दक्षिण भारत से आता था। हेमचन्द्र ने गुजरात में नील एवं कपास की खेती की प्रशंसा की है। अतः संभव है यहां से इनका देश के दूसरे भागों में व्यापार होता होगा। तगर, उशीर, हरिद्रा, हरिद्रपर्णी, किशर, गुग्गुल, नलद, शलालु आदि वस्तुयें फुटकर रूप में छोटे व्यापारियों द्वारा बाजार में बेंची जाती थीं। सौगन्धियों के बाजार में केसर, कस्तूरी जैसी सुगन्धित वस्तुयें बिकती थीं।[3] काश्मीर का केसर एवं मलय का चन्दन एवं अगर बाजार में बिकते थे।[4] दिव्याश्रव्य से हमें ज्ञात होता है कि मूलराजा प्रथम को काश्मीर के दूत ने

---

1. अग्निपुराण 245.
2. युक्तिकल्पतरू, पृ0 170.
3. यशस्तिलक, उत्तरार्द्ध पृ0 18, सौगन्धिकानां विपणि.
4. वही, परिवर्तमान काश्मीर मलयजागुरुपरिमलों विस्तारेषुद्/गारसारेषु.

कस्तूरी भेंट की थी।[1] विल्हण[2] एवं दामोदर गुप्त के विवरण से इस बात की पुष्टि होती है कि केसर (कुमकुम) काश्मीर में होती थी। मंजीठ संभवतः बंगाल से एवं देश के दूसरे भागों से लायी जाती थी।[3]

बाजार–प्रणाली

पूर्वमध्यकाल में पूर्वकाल की ही भांति विभिन्न गांवों, कस्बों एवं नगरों में बाजार होते थे।

गांवों में वनिक् या व्यापारी 'हाटों' में वस्तुयें बेचते थे। ये 'हाट' प्रायः निश्चित दिनों पर लगते थे। कुछ छोटी–छोटी स्थायी दुकानें भी थीं। विभिन्न कस्बों एवं नगरों में भी हाट लगती थीं। **समराइच्चकहा** में 'हाट' का प्रयोग हुआ है।[4]

'हाट' एवं 'मन्हापिका' शब्द का प्रयोग हुआ है। मन्दायिका वह स्थल था जहां पर सामग्री पहले लायी जाती थी एवं उन पर कर लगाया जाता था। **कुवलयमाला कथा** भी ऐसे व्यापारियों का उल्लेख करती है जो विभिन्न राज्यों से आते थे एवं व्यापार हेतु बाजार में एकत्र होते थे।[5] इसमें बाजार स्थल को **विपण्यमार्ग** कहा गया है।

उस समय के साहित्य एवं अभिलेखों में **हट्टपति, शौल्किक, तारिक** आदि बाजार से सम्बन्धित राजपदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

हट्ट में विभिन्न स्थान के व्यापारी आकर इकट्ठे होते थे, जहां मार्ग के दोनों ओर दुकानें थीं।

---

1. रासमाला, ए0के0 फोर्ब द्वारा संपादित, 46.
2. विल्हण विक्रमाकदेव चरित पृ0 289, व्य 72
3. वाटजी, कमर्शियल प्रोडक्टस ऑफ इण्डिया, पृ0 926–27.
4 यादव झिनकू, समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन, 1977.
5. कुवलयमाला, पृ0 152

हट्ट पर लगने वाला कर **हट्टिका** कहलाता था। **खानच्वागं** ने लिखा है कि नगर में सड़कों के दोनों ओर दुकाने रहती थीं। जहां लोग अपने आवश्यकतानुसार वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे।[1]

व्यापारी अन्तर्प्रदेशीय व्यापार करते थे। **मेधातिथि** के अनुसार वैश्य के लिये विभिन्न पदार्थ उत्पादित करने वाले प्रदेशों, उनके आचारो-विचारों एवं भाषाओं का ज्ञान अपेक्षित था।[2]

'समराइच्च्कहा' से विदित होता है कि धरण नामक व्यापारी, जो माकन्दी का रहने वाला था, क्रय-विक्रय के लिये अचलपुर आता था और अपने नगर के लिये उपर्युक्त वस्तुयें क्रय करके ले आता था। बाजार में भोजन सामग्री एवं वस्त्रादि का विक्रय होता था।[3]

कथासरित्सागर में ऐसे व्यापारियों का यथेष्ट उल्लेख मिलता है जो व्यापार के निमित्त दूर-दूर नगरों में जाते थे। कुवलयमाला से विदित होता है कि उत्तर एवं दक्षिण के वणिक् प्रायः एक दूसरे से मिल जाया करते थे।[4] **सोमदेवसूरी** ने स्थानीय व्यापारी एवं दूर देश में जाकर वाणिज्य करने वाले व्यापारी का उल्लेख किया है।[5]

गॉव में छोटी-छोटी दुकानें होती थीं। जहां स्थानीय उत्पादक अपने अधिशेष उत्पाद को बेचने के लिये लाते थे। परमार प्रमुख यशोवर्मन के कल्वन ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि चौदह बनिया दुकाने औद्रहदी वैष्य के गांवों में स्थित थीं।[6]

---

1 बील, 2, पृ0 205
2. मेधातिथि मनुस्मृति पर टीका, 1-90-31.
3. समराइच्कहा, 6, पृ0 16, 7, पृ0 717, हट्टाओं अहं किच्छिभोयण जाय
4. कथा सरित्सागर पृ0 85
5. यशस्तिलक उत्तरार्द्ध, पृ0 18.
6 इपि0 इडि0, 19, 10, II, 22-23

गाँव में दुकाने केवल स्थानीय उत्पादकों द्वारा ही नहीं वरन् उन घुमन्त बाहरी व्यापारियों द्वारा भी लगती थीं जो बाहर से आते थे। ये बाहरी सामान लाते एवं गांव के अधिशेष उत्पादन या नकद धन ले जाते थे।

बड़े कस्बों में बाजार-वाणिज्य के एक प्रमुख केन्द्र होते थे। जिसमें विविध व्यवसाय एवं शिल्प से सम्बन्धित दूर-दराज के व्यापारी भी आते थे।

कुमारपाल प्रबंध चरित से ज्ञात होता है अन्हिलवाड़ा में 84 बाजार स्थल थे जो विशेष सामग्री से सम्बंधित बाजार थे, जैसे रेशम, मोती एवं हीरा आदि। श्रृंगारमंजरीकथा नयी राजधानी धार की समृद्धि का वर्णन करते हुये कहा है (जो ग्यारहवीं शता० में बनायी गयी थी) कि उसके प्रमुख मार्ग एवं सड़के दुकान (विपण्य) युक्त थीं।[1] **श्रीहर्ष** के नैषधीयचरित में ज्ञात होता है कि कुण्डिनपुरा के शहर के बाजारों में विविध चीजें बिकती थीं।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि सभी बड़े नगरों में विभिन्न सामग्री की पृथक-2 दुकानें एवं सड़कें थीं। सियाडोनी अभिलेख[3] (दसवीं शता०) एवं कथाकोषप्रकरण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

मंदिरों में विशेष शुभ अवसरों एवं मेलों में भी बाजार लगते थे।

मेलें अन्य सामग्री के साथ-साथ प्रमुख रूप से पशुओं के क्रय-विक्रय हेतु महत्वपूर्ण थे। सोमदेव की यशस्तिलकचम्मू, एक कोस क्षेत्र में विस्तृत था, पुरोहित श्रीभूति द्वारा आयोजित एक मेले का विवरण देती है।[4] जिसमें एक स्थल पर पशुओं के लिये दुकानें थीं। जहां विभिन्न वर्गो हेतु खानपान की पर्याप्त व्यवस्था थी।

---

1 श्रृगारमंजरी कथा, पृ0 2
2 अनुवाद, के0के0 हिन्दकी, II, 97-100
3 इपि0 इण्डि0 I, 21, पृ0 162
4 यशस्तिलकचम्पू, VIII, भाग 27.

बड़े मंदिरों के आसपास बाजार विकसित थे जहाँ रोजाना इस्तेमाल की वस्तुओं की बिक्री होती थी। कई मंदिरों की अपनी दुकाने थीं जिससे पर्याप्त आमदनी होती थी। तुर्की आक्रमणकारियों द्वारा हिन्दू मंदिरों से प्रभूत धन लूटा गया। इन मंदिरों की समृद्धि का एक कारण उसकी व्यापारिक गतिविधियां भी थीं। मंदिरों की अनेक दुकानें ट्रस्टी द्वारा संचालित होती थीं। **सियाडोनी** अभिलेख जिसमें 903 ई0 से 936 ई0 के बीच विविध व्यापारी एवं शिल्पियों द्वारा दिये गये दान अंकित हैं, से ज्ञान होता है कि मंदिरों को दान के रूप में बहुत सी दुकानें प्राप्त हुयी थीं।

शासकों ने भी बाजार की स्थापना एवं सुविधा प्रदान करने में गहन रूचि ली। **राजा भोज** (ग्यारहवीं शता0) ने अपनी नवस्थापित राजधानी धार में बहुत से बाजार स्थलों की स्थापना की। **उपमितिभवप्रपंचकथा** से ज्ञात होता है कि रात्रि में बाजार की सुरक्षा हेतु सशस्त्र रक्षकों की आवश्यकता होती थी।[1]

पश्चिम भारत के राजाओं द्वारा व्यापारिक गतिविधियों में रूचि का संकेत कुछ नये शब्दों जैसे **हट्टकरन**[2] जो बाजार सम्बंधी विभाग था, **हट्टाध्यक्ष**[3] (जो बाजार-प्रमुख था) के उल्लेख से होता है। हट्टाध्यक्ष सभी प्रमुख वाणिज्यिक केन्द्रों पर नियुक्त था। उसके अनेक सहायक अफसर थे जैसे मूल्याधिकारिन, तुल्याधिकारिन्, भाराधिकारिन् आदि जिनका उल्लेख **मानसोल्लास**[4] में हुआ है। वे नियमों का पालन कराना एवं शुल्क गृहणादि कार्य करते थे।

---

1 उपमितिभवप्रवंच कथा, पृ0 851.
2 भीमदेव द्वितीय का कदि अनुदान, इण्डियन एण्टीक्वेयरी, VI, पृ0 20
3 हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, III, 389.
4. मानसोल्लास, II, पृ0 104-5

व्यापार में विनिमय के साधन के रूप में अनाज, कौड़ियां, सोने चांदी एवं तांबे की मुद्रायें प्रचलित थीं। अदल-बदल प्रणाली का भी प्रचलन था।

इस समय तराजू, बाट एवं पैमाने से वस्तुओं का मूल्य तय किया जाता था। अंजलि, कर्ष, कोटि, कुण्ड-तुला, कुण्डभानम्, गोनि, पल, अर्द्धपर, भार मान एवं प्रदान आदि मान की ईकाइयां इस समय प्रचलित थीं।

क्रय-विक्रय के नियम

पूर्वकाल की ही भांति पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों में क्रय-विक्रय के नियम दिये गये हैं। इनमें वर्णित है कि क्रेता यदि क्रीत सामग्री से संतुष्ट नहीं है तो वह निश्चित अवधि के भीतर वापस कर सकता था। **मनुस्मृति पर टीका करते हुये मेधातिथि** कहते हैं कि यह नियम तांबा, टिन आदि धातुओं, पशुओं, भूमि आदि पर लागू होता था न कि कपड़े आदि शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं पर वापस करने वाली सामग्री क्रेता द्वारा प्रयुक्त नहीं की जानी चाहिये।[1]

राज्य का एकाधिकार

कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं पर राजा का एकाधिकार प्रतीत होता है। ये एकाधिकार कुछ निजी व्यक्तियों को उन वस्तुओं के लाभांश के एक निश्चित हिस्से पर दिये प्रतीत होते हैं। **मेधातिथि** इन एकाधिकार वाली वस्तुओं का विवरण देते हैं जैसे पूर्वी देशों, अंग, असम एवं कलिंग में हाथी, कस्तूरी, रेशम एवं ऊन काश्मीर में पश्चिमी देशों से घोड़े, बहुमूल्य पत्थर एवं मोती

1. मेधातिथि, मनुस्मृति पर टीका VIII, 222.

द0 भारत से। ये वस्तुयें वे थीं जो उन राज्यों में आसानी से उपलब्ध थीं एवं अन्य जगहों पर दुर्लभ थीं।[1]

प0 भारत में राजस्थान और गुजरात में नमक की बिक्री एवं निर्माण पर राज्य का सीधा नियंत्रण था।

गुजरात में उत्तम वस्त्र, घोड़े, तेल मिल आदि पर राज्य का नियंत्रण था।

विदेशी व्यापार

पूर्वमध्य काल में भारत का विदेशी व्यापार मुख्यतः चीन, ईरान, द0पू0 द्वीपीय देशों, श्रीलंका एवं पश्चिमी एशिया के देशों से होता था। इस समय विदेशी व्यापार में स्थलमार्गों की जगह जलमार्ग का ज्यादा प्रयोग होने लगा। इस समय भारत के विदेशी व्यापार में अरब शक्ति एक प्रमुख भागीदार के रूप में उभरी।

अरबों का उदय एवं भारतीय व्यापार में उनकी भूमिका

अरबों के उदय का इतिहास इस्लाम के उदय के साथ जुड़ा है। सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में यहां मक्का में पैगम्बर मुहम्मद का जन्म हुआ जिन्होंने इस्लाम धर्म का प्रवर्तन किया। इस धर्म में अल्लाह ही एक मात्र ईश्वर था और स्वयं मुहम्मद साहब पृथ्वी पर इनके रसूल एवं पैगम्बर थे। 622 ई0 में उन्हें मक्का से भागकर मदीना जाना पड़ा और उन्होंने यहीं पर अपने धर्म का प्रतिपादन किया। मुहम्मद साहब ने सम्पूर्ण अरब पर अधिकार कर लिया। 632 ई0 में इनकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी खलीफाओं द्वारा

---

1. वही VIII, पृ0 399

(661 ई० सन् तक) आस-पास के देशों पर भी सत्ता का विस्तार किया गया।

वस्तुतः अरब देश से भारत का सम्पर्क बहुत प्राचीन है। 762 ई० में जब अरब साम्राज्य की राजधानी दमिश्क से बगदाद आयी तो भारत एवं चीन के साथ उनका और घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया।

712 ई० में ईराक के गर्वनर अलहज्जाल के भतीजे एवं दामाद मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया। इसने अपनी कुशल रणनीति का प्रदर्शन करते हुये सम्पूर्ण सिंध एवं मुल्तान को अरब सत्ता के अधीन कर लिया। किन्तु राजनीतिक दृष्टि से अरब भारत में उस प्रकार का साम्राज्य नहीं बना पाए, जैसा कि उन्होंने एशिया, अफ्रीका और यूरोप के विभिन्न भागों में बनाया था। यहाँ तक कि सिन्ध में भी उनकी शक्ति चिरस्थायी नहीं रही। किन्तु जब दीर्घकालिक परिणामों पर दृष्टिपात किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि अरबों ने भारतीय जनजीवन को काफी प्रभावित किया और स्वयं भी प्रभावित हुये।[1] ईस्लाम धर्म में निहित सरलता, सहजता, लोकतांत्रिक समाज, वर्गविहीन समाज, समता एवं भातृत्व के सिद्धान्तों ने तत्कालीन भारत के निम्न जाति के लोगों को विशेष तौर पर प्रभावित किया। नवीं शताब्दी में मालाबार के राजा चेरामन पेरूमल भी इस्लाम का अनुयायी हो गया। इससे भारत में इस्लाम धर्म के प्रचार में गति आयी। भारतीय ज्ञान एवं शिक्षा का अरबों पर बहुत प्रभाव पड़ा। विभिन्न भारतीय पुस्तकों का अरबी में अनुवाद किया गया। अरब आक्रमणों का आर्थिक प्रभाव महत्वपूर्ण था। अरब व्यापारी इस समय पश्चिमी समुद्रों में अपना एकाधिकार स्थापित कर ही चुके थे।

---

1. झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 1981, पृ0352

दक्षिणी पूर्वी एशिया में भी उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा था। अतः भारत में तत्कालीन राजनीतिक शक्तियों पर अरबों के साथ सहयोगात्मक रूख अपनाने पर जोर पड़ा तथा इसी कारण भारतीय व्यापारी पश्चिमी जगत में अरबों के एकाधिकार के बावजूद अपनी गतिविधियां जारी रख सके।[1]

वस्तुतः पूर्व का समुद्री व्यापार सातवीं शताब्दी से पूर्व फारसियों, भारतीयों, इण्डोनेशियाइयों एवं श्रीलंकाइयों के हाथ में था। किन्तु इस्लाम के उदय के पश्चात् फारसवालों का स्थान अरबों ने ले लिया जिन्होंने धीरे-धीरे अपने आर्थिक प्रभाव का विस्तार दूरस्थ पूर्व को किया एवं चीन से पश्चिम भारत तक के समस्त समुद्री मार्ग पर वे छा गये। श्रीलंका एवं दक्षिणी पूर्वी एशिया उनके व्यापार के स्थायी केन्द्र बन गये।[2]

पूर्वमध्यकालीन विदेशी व्यापारिक गतिविधियों का मुख्य स्रोत अरबी विवरण है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि इस समय अरबी लोग ही इस क्षेत्र में अग्रणी दिखते हैं। चीनी स्रोत भी इन पर प्रकाश डालते हैं। इसमें चाऊ-जु-कुआ का चु-फान-ची-ग्रन्थ महत्वपूर्ण है जिसमें पूर्वी व्यापार के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है।

भारतीय स्रोत लम्बी दूरी के व्यापार के विषय में नगण्य है। निःसन्देह इस सम्बंध में कुछ कथाग्रन्थ हैं जिनमें उन भारतीयों के विषय में वर्णन है जो मध्यपूर्व एवं दक्षिण पूर्वी एशिया से व्यापार में लगे थे। लेकिन इनमें से अधिकांश कहानियाँ प्राचीन साहित्य गुणाढ्य की वृहत्कथा पर आधारित है। इसमें मौलिकता की कमी है एवं वाणिज्यिक आंकड़ों में परस्पर विभिन्नता है।[3]

---

1. वही, पृ० 353
2 मजूमदार, ए०के०, चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० 82, 1/19, 208.
3 जैन, वी०के० ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इण्डिया, नयी दिल्ली, 1990, पृ० 71.

प्राचीन काल में भारतीय व्यापारियों की सम्पन्नता का मुख्य कारण चीनी, रेशम एवं द0पू0 एशिया से मसाले के व्यापार में मध्यस्थों का एकाधिकार था। जो वहां से ये वस्तुयें खरीद कर पश्चिम को पुनर्नियात कर देते थे। किन्तु इस समय अरबों एवं चीनियों के ज्यादा सक्रिय एवं सीधा भाग लेने के कारण उनका अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में भाग सीमित हो गया एवं ज्यादातर तटीय इलाके में ही व्यापार सीमित रह गया। यद्यपि कुछ विखरे हुये से प्रसंगों में भारतीय व्यापारियों की लम्बी यात्रा के विवरण प्राप्त होते हैं। यह ध्यातव्य है कि चाऊ-जु-कुआ (1175 ई0 सन्) ने विदेशी व्यापार में संलग्न देशों में अरब, जावा एवं पैलम्बेंग का नाम लिया है किन्तु भारत का नहीं।[1] इस सम्बन्ध में मोतीचन्द्र कहते हैं कि अरबों एवं चीनियों द्वारा भारतीय जहाजरानी के उल्लेखों की नगण्यता का कारण यह था कि संभवतः वे जावा एवं सुमात्रा की जहाजरानी को भी भारत का ही एक हिस्सा मानते थे।[2] किन्तु यह मत उचित नहीं है विदेशी स्रोतों में दक्षिणी पूर्वी एशिया के व्यापार एवं वाणिज्य का अलग उल्लेख किया गया है।

अरबों का भारत में वसना

यद्यपि अरबों को सिंध में स्थायी सफलता नहीं मिली किन्तु गुजरात तट पर उनके नौसैनिक आक्रमण सदैव होते रहे जिसमें उन्हें सफलता भी मिली एवं इन धावों ने अरबों की नौसैनिक श्रेष्ठता को सिद्ध कर दिया। वस्तुतः अरब लोग भारत की अकूत धनसम्पदा के विषय में प्रचलित कथाओं से अत्यंत प्रभावित थे। उनमें यह सामान्य विचार प्रचलित था कि भारत के समुद्र मोतियों से भरे पड़े हैं, उनके पर्वत वैदूर्य से एवं उनके पेड़ सुगन्धित

---

1 वही पृ0-72

2. मोतीचन्द्र, ट्रेड एव ट्रेड रूट्स इन एनशियण्ट इण्डिया, पटना 1953, पृ0 204

पदार्थों से युक्त हैं।[1] अतः ये स्वाभाविक ही था कि इस्लाम के उदय और राजनीतिक रूप से शक्तिशाली होने के पश्चात् उन्होंने भारत की ओर आंखे लगायी।

अरबों के इन आक्रमणों से भारतीय इतने आतंकित थे कि उन्होंने बन्दरगाह वाले शहरों को छोड़ दिया एवं अपने को आंतरिक शहरों में सीमित कर लिया। इसने स्थानीय राजाओं पर अपेक्षतया एक सुरक्षित एवं वैकल्पिक बन्दरगाह खोलने पर दबाव डाला।[2] इसी कारण गुजरात में कैम्बे के रूप में एक नये बन्दरगाह का विकास हुआ जो खाड़ी के भीतर था एवं वलभी, भड़ौच एवं थाना के बन्दरगाहों की अपेक्षतया ज्यादा सुरक्षित था।[3]

दसवी शताब्दी ई0 तक बड़ी संख्या में मुसलमान एवं अरब लोग भारतीय तटवर्ती शहरों में आवासित दिखते हैं। अलमसूदी कहता है कि उसके समय में (दसवीं शताब्दी ई0 में) दस हजार मुसलमान शहर में (चाउल या सिमूर) रह रहे थे जिनमें से कुछ बसरा एवं कुछ भारत में ही उत्पन्न हुये थे, जबकि अन्य अरब के थे जो सिरफ, ओमान, बसरा एवं बगदाद से आये थे एवं उन्होंने अपना देश छोड़ दिया था तथा वे वहीं बस गये थे। कुछ मुसलमान धनी व्यापारी थे। राजा प्रसिद्ध मुस्लिम नागरिकों में से एक का चयन करता था एवं उन सभी मामलों में उसे अधिकार प्रदान करता था, जिसमें दोनों पार्टियां मुस्लिम हुआ करती थीं।[4] इस समय तक अरब लोग एवं मुस्लिम व्यापारी बड़ी संख्या में भारत के पश्चिमी तटवर्ती नगरों में बस गये थे। अलइस्तखरी (951 ई0 सन्) एवं इब्नहौकल (976 ई0 सन्) के यात्रा

---

1 एस0एस0 नादवी, अंग्रेजी अनुवाद अरब-ओ-हिन्द, पृ0 19
2. जैन, वी0के0, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 73
3 वही
4 उद्धृत नादवी, एस0एस0 पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 153

विवरणों से ज्ञात होता है कि गुजरात में कैम्बे से चाउल तक के क्षेत्र में बहुत से मसजिदें थीं जहां इस्लाम धर्म के अनुयायी ईशपूजा हेतु एकत्रित होते थे।[1] इस काल में मुस्लिम जाति पश्चिम भारत में एक व्यापारिक वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वे इस एक धनी व्यापरी, जहाजमालिक नाविक आदि रूपों में दिखाई देते हैं।

अरबी व्यापारियों के प्रति भारत में व्यवहार

सामान्यतया भारत के शासकों द्वारा मुस्लिम व्यापारियों के प्रति उदारता का व्यवहार किया गया। इब्नबतूता कहता है कि भारत में मुस्लिम लोगों की सम्पत्ति की सुरक्षा राजा करता था।[2] मुहम्मद उफी चालुक्य राजा की सहिष्णुता की नीति का उल्लेख करता हुआ कहता है कि एक बार कैम्बे में जहाँ बड़ी संख्या में सुन्नी रहते थे, कुछ गैर मुस्लिमों ने मसजिद जला दी एवं अस्सी मुसलमानों को मार दिया। यह बात जब राजा सिद्धराजा को पता चला तब वह तुरंत वहां गया एवं सत्यता का पता लगाने के लिये वहीं ठहरा। जब वह इस बात से संतुष्ट हो गया कि कैम्बे के मुसलमान कठोरता, क्रूरता एवं उपद्रव से सुरक्षित हैं तब उसने उन्हें मसजिद निर्माण हेतु आर्थिक क्षतिपूर्ति दी जिससे मसजिद का पुनर्निर्माण किया जा सके एवं यह आदेश दिया कि अपराधी व्यक्ति को दण्डित किया जाय।[3]

इस तरह के अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि भारत में रहने वाले मुस्लिम व्यापारियों से उदारता का व्यवहार किया गया। यद्यपि कैम्बे के गवर्नर वस्तुपाल एवं मुस्लिम व्यापारी सैय्यद के बीच सशक्त संघर्ष का वर्णन मिलता

---

1. इलियट एवं डाउमन, पृ0 27-34
2. रेहला, इब्नबतूता, अनुवाद एवं सम्पादन एम0 हुसैन, पृ0 186
3 इलियट एवं डाउसन, II, पृ0 163-64

है जिसमें अंततः सैय्यद की हार हुयी एवं उसकी सम्पत्ति जब्त की गयी।[1] किन्तु यह संघर्ष धार्मिक नहीं अपितु व्यापारिक ही प्रतीत होता है। जगडू नामक एक धनी जैन व्यापारी ने एक मसजिद का निर्माण कराया था।[2]

भारतीय राजाओं द्वारा मुस्लिम व्यापारियों से अच्छा व्यवहार किये जाने के पीछे कुछ अन्तर्निहित कारण थे। भारतीय राजाओं ने उनके प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार इसलिये अपनाया क्योंकि वे जानते थे कि उनके राज्य की सम्पन्नता उन पर निर्भर है।[3] इब्नबतूता कहता है कि स्थानीय राजा विदेशियों के साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करते थे क्योंकि उन्हें आशा थी कि वे उनके साथ होने वाले व्यापार में लाभ प्राप्त करेंगे।[4]

सुलेमान कहता है कि बलाहार राजा और उसके राज्य की समृद्धि का कारण अरबों के साथ उचित व्यवहार था।[5] बलाहार नरेश से तात्पर्य यहाँ राष्ट्रकूट राजा से है।

अरब इस समय समुद्री व्यापार में अत्यंत शक्तिशाली हो गये थे। वे भारत के तटवर्ती क्षेत्रों विशेषकर पश्चिमी भारत के विदेशी व्यापार एवं जहाजरानी पर मजबूत नियंत्रण स्थापित कर रहे थे। जिससे भारतीयों पर तटीय एवं आंतरिक व्यापारियों के ही रूप में अपनी व्यापारिक गतिविधियाँ सीमित किये जाने पर दबाव पड़ा एवं दूर देशों से व्यापार में उनकी भागीदारी कम होने लगी। इससे भारतीय राजाओं एवं व्यापारियों पर अरबी व्यापारियों एवं नाविकों के प्रति उदारवादी रवैया अपनाने पर दबाव पड़ा क्योंकि अरबों के साथ व्यापार में उन्हें भारी लाभ प्राप्त होता था, जिससे राज्य की आमदनी में

---

1 प्रबंधचिन्तामणि, मेरूतुंग, जिनविजयमुनि द्वारा सम्पादित, पृ0 102
2. जगडूचरित IV, 64
3. नादवी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 146-47
4. रूहेला, इब्नबतूता अनुवाद एव सम्पादन एम0 हुसैन, 184, 185
5. इलियट एवं डाउसन, I. पृ0 4

वृद्धि होती थी। मार्कोपोलो कहता है कि माबर (कोरोमण्डल) हिन्दू राजाओं द्वारा शासित होता था तथापि आयात एवं निर्यात का एक बड़ा भाग अरबी व्यापारियों द्वारा सम्पन्न होता था।[1]

इस समय भारतीय व्यापारियों के भी पश्चिमी देशों में जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं। जगडूचरित से जगडू नामक व्यापारी के एजेंटों की हारमूज में उपस्थिति का पता लगता है।[2] अबूजैद (916 ई0 सन्) कहता है कि भारतीय व्यापारी सिरफ जाते थे[3], किन्तु भारतीयों का पश्चिमी एशियाई देशों में जाकर व्यापार करना पूर्व की अपेक्षा अब बहुत कम हो गया था। अरबी व्यापारी ही साधारणतः भारतीय माल वहाँ ले जाते थे। इस समय उन भारत के आंतरिक बाजार पर अरब व्यापारियों की कोई पकड़ नहीं थी। वे ज्यादातर बन्दरगाह नगरों में ही रूकते थे। इस समय स्थानीय व्यापारियों को लाभ मिला जो मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। ये विदेशियों से माल लेकर देश के पुनः या अन्तर्वर्ती भागों में बेंचकर पर्याप्त लाभ अर्जित करते थे। इसी प्राकार अन्तर्वर्ती क्षेत्रों से भारतीय समान लाकर विदेशियों को बेच देते थे।

इस समय भारत का विदेशी व्यापार मुख्यतः पश्चिमी देशों, चीन, दक्षिणी पूर्वी एशिया एवं श्रीलंका से होता था।

(1) भारत का पश्चिमी देशों से व्यापार

प्राचीन काल से ही भारत का मिस्र, यूनान एवं पश्चिमी एशियाई देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। इस काल में इसमें और वृद्धि हुयी। पूर्वमध्यकाल में भारत का सबसे प्रमुख व्यापारिक भागीदार पश्चिमी देश अरब

---

1. वही, पृ0 172
2 मजूमदार, ए0के0 चौलुक्यज ऑफ गुजरात, पृ0 267
3 फेरेंड, वायेज टु मरचन्द अरबे सुलेमान, पृ0 138.

था। यहाँ इस्लाम धर्म के उत्साह में अरबों ने अपना राजनैतिक एवं आर्थिक विस्तार किया। इसी क्रम में वे भारत के और नजदीक आ गये।

इस समय बड़ी संख्या में भारत एवं अरब के व्यापारी एक-दूसरे देशों तक जाते थे। इस व्यापार में जलमार्ग का ज्यादा प्रयोग किया जाता था। मुस्लिम देशों के साथ समुद्री व्यापार में भारत के पश्चिमी तट की महत्वपूर्ण भूमिका थी किन्तु पूर्वी तटीय क्षेत्र की इसमें ज्यादा भागीदारी नहीं थी। इस क्षेत्र के लोग मुस्लिम देशों को जाने के लिये एक लम्बी दूरी पार करने की अपेक्षा दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों को यात्रा करना ज्यादा लाभकारी समझते थे।[1] इस समय भारत के तटवर्ती क्षेत्रों में बहुत से मुस्लिम व्यापारी बस गये थे। इस समय व्याप्त चीन-अरब प्रतिद्वन्दिता के कारण भारतीय नाविकों एवं व्यापारियों ने अपने को तटीय व्यापार तक सीमित कर लिया था।[2] वे तटीय क्षेत्रों में ही विभिन्न बन्दरगाहों तक जाकर विदेशी माल को, जो पहले ही वे विदेशियों से खरीद लेते थे, बेचते थे। इस प्रकार वे मध्यस्थ के रूप में ज्यादा थे। प्रबंधचिंतामणि में यह प्रसंग आता है एक व्यापारी ने विदेशों से आयी हुयी मंजीठ के ढेर को खरीदने में अपनी पूंजी लगायी।[3] अलइद्रीसी कहता है कि देबल के व्यापार में बहुत प्रकार की वस्तुयें शामिल होती थीं एवं यहाँ के धनी निवासी दूसरे देशों से आये हुये माल को वस्तुओं की कमी होने तक रख लेते थे।[4] चाऊ-जु-कुआ कहता है कि सुमात्रा के विभिन्न भागों से जहाज मालाबार एवं क्विलोन तक आते थे एवं अपने सामान के बदले में यहां का सामान ले जाते थे।[5] उत्तरी भारत के पश्चिमी तटों पर मुस्लिम व्यापारी प्रबल हो गये

---

1. गोपाल, लल्लन जी, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ0 141
2. वही, पृ0 143
3. मेरूतुंग, प्रबंधचिन्तामणि, पृ0 70 II, 2
4 इलियट एवं डाउसन, I, 88-89.
5. वही, पृ0 77

थे। प्रबंधचिन्तामणि में एक अरब व्यारी सैय्यद का प्रसंग आता है जो कि इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसने चालुक्य राज्य के मंत्री वस्तुपाल से एक नौसैनिक युद्ध लड़ा था।

आयात

भारत में पश्चिमी देशों में विविध वस्तुयें आयात की जाती थीं। जिनमें क्रिमिज, खजूर, शराब, घोड़ा आदि प्रमुख सामग्री थीं।

(1) **घोड़ाः**—इस समय विदेशी व्यापार में जो पश्चिमी देशों मुख्यतः अरब क्षेत्र से होता था, आयात की सबसे प्रमुख वस्तु घोड़ा थी। घोडा एक युद्धोपयोगी पशु है। अतः पूर्वमध्यकाल में बड़ी मात्रा में उदित हुये सामंतों एवं राजाओं के लिये इसका बड़ा महत्व था। सेना में घोड़े के शामिल होने से उनकी सैन्यशक्ति में वृद्धि हो जाती थी।

प्राचीन काल से ही वनायु (अरब) के घोड़ों का भारत में महत्व था। कौटिल्य कहता है कि वनायु देश के घोड़े युद्ध के उपयोग के लिये उत्तम होते हैं।[1] रघुवंश में भी विदेशी घोड़ों के भारत में लाये जाने के प्रसंग प्राप्त होते हैं। पश्चिम के पारसीक एवं यवन आदि देशों से भारत में घोड़े की आपूर्ति होने के कारण इन देशों को अश्वसाधन कहा गया है।[2] इसी में वनायु (अरबी) तुरंगों (घोड़ों) का उल्लेख मिलता है।[3] कम्बोज क्षेत्र से भी घोड़े की प्राप्ति होती थी।[4] यद्यपि भारत में भी घोड़े पाये जाते थे किन्तु ये अच्छी नस्ल के नहीं होते थो अतः युद्धादि प्रयोजनों हेतु उत्तम नस्ल के घोड़ों की मांग की पूर्ति पश्चिमी देशों से आयात करके की जाती थी।

---

1 अर्थशास्त्र, 2 30, प्रयोज्यानामुत्तमा : काम्बोजसैन्धवारट्टजवानायुजा·।
2. रघुवंश, 5-62-पाश्चात्यै अश्वसाधनै एवं मालविकाग्निमित्रम्, पृ0 102, अश्वानीकेन यवनेन।
3. रघुवंश, 5 73
4. वही 4 69-70

इस समय यह आयात बहुत तेजी से बढ़ा। इसके प्रसंग तत्कालीन भारतीय एवं विदेशी स्रोतों में प्राप्त हैं।

बाण रचित हर्षचरित् में उल्लिखित है कि हर्ष की सेना में पर्सिया, वन्यकम्बोज, आर्त्त, भरद्वज और सिंध के घोड़े थे। वह कहता है कि तत्कालीन समाज में घोड़ों की विशेष मांग थी।[1] कदाम्बरी में यह वर्णन मिलता है कि पारसीक देश के राजा ने भारत के राजा के लिये इन्द्रायुध नामक अश्व भेजा था।[2] हेमचन्द्र ने लिखा है कि अरब (वनायु) के घोड़ों का निर्यात भारत के लिये किया जाता था।[3] वैजयन्ती में वाह्लीक से भारत को घोड़े आये जाने का वर्णन है।[4] अभिधानरत्नमाला में लिखा है कि ईरान, वनायु, काम्बोज, वाहलीक, सिन्धु और उसके पास के प्रदेश के घोड़े अच्छे होते हैं।[5] उपमितिभवप्रवंचक कथा से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि वाहलीक, कम्बोज और तुरुष्क के घोड़े श्रेष्ठ होते है।[6] इस प्रकार भारतीय स्रोत पाश्चात्य देशों से घोड़े लाये जाने एवं उनकी नस्ल के श्रेष्ठ होने का वर्णन करते हैं। यह व्यापार इस समय शीर्ष पर पहुँच गया। इस समय विदेशी स्रोतों में भी भारत एवं पश्चिम के बीच घोड़े के व्यापार का वर्णन मिलता है। चीनी ग्रन्थ लींग-वा-ता में अरब से आयात किये जाने वाले घोड़ों का क्विलोन आने का प्रसंग प्राप्त होता है।[7] विभिन्न स्रोतों से यह जानकारी प्राप्त होती है कि पश्चिमी देशों के किश, हारमूज, दोफर, अदन, ओमान, खिलहत आदि व्यापारिक केन्द्रों से प्रतिवर्ष हजारों घोड़े भारत में भेजे जाते थे।

---

1 हर्षचरित्, पृ0 83-84
2 कादम्बरी, पृ0 62
3. हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि, पृ0 439.
4. वैजयन्ती, पृ0 111, पंक्ति 189.
5. अभिधान रत्नमाला, पृ0 474.
6. उपमितिभव प्रपंच कथा, पृ0 474.
7 धृ 14, II, 13-99

वासफ के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष दस हजार घोड़े अरेबिया और तुर्किस्तान से भेजे जाते थे।[1] इब्नबतूता के अनुसार व्यापारी छह हजार या इससे अधिक झुण्डों में घोड़ों को भारत भेजते थे।[2]

भारत में पश्चिमी देशों से घोड़े जल एवं स्थल दोनों मार्गो से लाये जाते थे। इब्नबतूता कहता है कि भारत में उत्तर पश्चिम के (स्थलीय) भागों से दो सौ या उससे अधिक समूहों में घोड़े भारत भेजे जाते थे।[3] वाह्लीक, काम्बोज एवं काबुल आदि से घोड़े इसी मार्ग से लाये जाते थे।

जलमार्ग से घोड़ों का ज्यादा आयात अरब देशों से होता था। प्रबंधचिन्तामणि में सौराष्ट्र तट (गुजरात) के सोमेश्वर बन्दरगाह पर दस हजार घोड़े वाले एक जहाज के रूके होने का प्रसंग प्राप्त होता है।[4] यद्यपि यह संख्या बढ़ा-चढ़ा कर बतायी गयी है किन्तु इससे इतना सिद्ध है कि जहाजों से काफी संख्या में घोड़े लाये जाते थे। प्रबंधकोष में कैम्बे के राज्यपाल वस्तुपाल द्वारा इसी बंदरगाह पर घोड़े के जहाजों से उतारे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] वासफ भी माबर, कम्बयात एवं पड़ोस के बन्दरगाहों को दस हजार घोड़े प्रतिवर्ष मध्यपूर्व के बन्दरगाहों से निर्यात किये जाने का वर्णन करता है जिनका मूल्य 2,20,000 दीनार होता था।[6] घोड़े का व्यापार इतना प्रमुख था कि मार्कोपोलो कहता है कि थाना क्षेत्र में दूर से आने वाले जहाजों में कोई भी बिना घोड़े लाये नहीं आता था।[7] समुद्री मार्ग का एक बड़ा लाभ यह था कि व्यापारियों को विविध स्थलों पर प्रवेश शुल्क नहीं देना पड़ता था। दक्षिण

---

1 तारीखे वासफ, पृ0 529
2 किताबुल रेहला, जिल्द, I, पृ0 199-200
3 इब्नबतूता, रेहला, एम0हुसैन द्वारा अनुवादित एवं सम्पादित, पृ0 14.
4 मेरूतुंग, प्रबंधचिन्तामणि, पृ0 14, II, 13-19
5 राजशेखर, प्रबधकोष, पृ0 121
6. इलियट एवं डाउमन, III, पृ0 33.
7 मार्कोपोलो II, 335.

भारत में 'माबर' (कोरोमण्डल तट) पर बहुत घोड़ा आता था।

विदेशों से घोड़ों के आयात पर भारत को बहुत धन व्यय करना पड़ता था। इब्नबतूता संकेत करता है कि भारत लाये जाने वाले एक घोड़े का मूल्य एक सौ से चार सौ दीनार के बीच का था जो उसकी गुणवत्ता पर निर्भर करता था।[1] एक अरबी घोड़ों का सौदागर 14,000 घोड़े भारत लाया था जिसका मूल्य 2,20,00000 दीनार था।[2]

घोड़े के व्यापारी को, उन स्थानों पर जहाँ पर वह विदेशों से घोड़े लाते थे, राजा को कर देना पड़ता था। स्थलमार्गो के बीच के विविध क्षेत्रों में व्यापारी को चुंगी देनी पड़ती थी, तब भी पर्याप्त लाभ होता था।[3] जलमार्गो से आने वाले जहाजों को बन्दरगाहों पर चुंगी देनी पड़ती थी। वस्माफ कहता है कि मालाबार, कैम्बे एवं अन्य सम्बद्ध पत्तनों पर लाये जाने वाले घोड़े पर बहुत ज्यादा कर लगता था। सीमा चौकी पर पहुंचने पर व्यापारियों को 25 प्रतिशत के हिसाब से चुंगी देनी पड़ती थी।

भारत में घोड़ों के उचित रखरखाव, प्रशिक्षण एवं पोषण की कला की अनभिज्ञता से बहुत से घोड़े मर जाते थे जिसमें भारतियों को इनके आयात की अधिक आवश्यकता पड़ती थी।[4] कभी-कभी भारतीय नरेश घोड़े के आपूर्तिकर्ता से समझौता करके घोड़े की आपूर्ति में निरंतरता बनाये रखना चाहते थे।

ज्यादातर व्यापारी जो घोड़ा भारत लाते थे अपनी वापसी के समय भारत से घोड़े के बदले में यहाँ के स्थानीय उत्पाद ले जाते थे। चाऊ-जु-कुआ

---

1. इब्नबतूता, रेहला, पृ0 45
2. इलियट एवं डाउमन, 3-33-34
3. इब्नबतूता, रेहला, पृ0 45.
4 वही, III पृ0 33-34

बदले में लौंग, कपूरादि ले जाने का वर्णन करता है।[1] वे मसाला आदि उत्पाद भी ले जाते थे।

(2) **खजूरः**–पश्चिमी देशों से खजूर भारत लायी जाती थी। बसरे से सिंध के बन्दरगाह देवल में खजूर आती थी।

(3) **गुलाब जलः**–फारस का गुलाब जल अत्यंत प्रसिद्ध था जो भारत में आता था।[2]

(4) **मदिराः**–अभिधानरत्नमाला[3] में मदिरा हेतु प्रयुक्त कपिसयना एवं वैजयन्ती में 'तुरुष्क'[4] शब्द का प्रयोग यह धोतित करते हैं कि ये वस्तुयें मध्य-पूर्व से आयात की जाती थीं।

(5) **कृमिरागः**–कृमिराग (क्रिमीज) एक प्रकार का रंग होता था। यह किरामदाना कहा जाता था एवं कपड़े के रंगने के काम में आता था। क्रिमीज के सम्बंध में पर्शियन व्यापारी भारतीयों को झूठी कहानियां सुनाते थे।[5] हरिषेण रचित वृहत्कथाकोष में ऐसी ही एक कहानी है। जिसके अनुसार एक फारसी ने चूंकारिका नामक एक लड़की खरीदी। उसने उस लड़की का छह माह तक पालन पोषण किया। इसके बाद जोंक द्वारा उसका खून निकाला। उसके खून में पैदा हुये कीटाणु लाल रंग तैयार करने के काम में आते थे।[6] जिसका प्रयोग ऊनी कपड़े को रंगने के लिये किया जाता था। इसी प्रकार की कहानी जो 'भगवती-अराधना' में है, टिप्पणी करते हुये असधार करते हैं कि 'चर्मरंगा वैश्यों' में से नीची श्रेणी के लोग (म्लेच्छ) मानव रक्त एकत्रित करते थे। जोंक के द्वारा इसे निकालकर घड़ों में रखते थे। इस खून में विद्यमान कीटाणुओं के

---

1 चाऊ-जु-कुआ, पृ0 133
2 इब्न हौकल का यात्रा विवरण, पृ0 213
3. अभिधानरत्नमाला II, 174
4 वैजयन्ती, पृ0 132-I, 221.
5. मधोल्हकर, वनमाला, पृ0 114.
6. वृहत्कथाकोष.

रंग द्वारा वे ऊनी कम्बल रंगते थे। इस प्रकार यह लालरंग भारतीय उत्पाद नहीं था। ताहिज कहता है कि क्रिमीज स्पेन, तारिम एवं ईरान से आती थी।[1]

(6) **हाथी दाँतः**–भारत एवं दक्षिणी–पूर्वी एशिया के पास हाथी दाँत के स्वयं के स्रोत थे। किन्तु अफ्रीकी हाथी दाँत भारत के किसी भी भाग में पाये जाने वाले हाथीदाँत से रंगत एवं वजन में उम्दा समझा जाता था।[2] यह जंजीबार, ओमान होते हुये भारत लाया जाता था। इस समय अरबों ने अफ्रीकी हाथी दाँत के व्यापार पर एकाधिकार सा कर लिया था।[3]

(7) **अन्य वस्तुयेंः**–पश्चिम से अन्य वस्तुयें भी आती थीं। अलइद्रीसी के अनुसार काबुल के बने कपड़े, चीन, खुरासान और सिन्ध भेजे जाते थे।[4] धूप दक्षिणी अरब से, तांबा एवं सीसा बसरा से लाया जाता था। मेसोपोटामिया के अक्सरा से कालीन भारत भेजी जाती थी।[5]

निर्यात

भारत से पश्चिमी देशों को अनेक वस्तुयें निर्यात की जाती थीं। ये हैं–

(1) **वस्त्रः**–प्राचीन काल से ही भारत वस्त्रों का प्रमुख निर्यातक देश रहा है। मार्कोपोलो के विवरण से ज्ञात होता है कि गुजरात में अच्छा बकरम हेतु कपास उत्पन्न होता था जो थाना एवं कैम्बे के बन्दरगाहों से निर्यात की जाती थी।[6] अबुल फिदा कहता है कि थाना के कपड़े विदेशी बाजारों में बेचे

---

1 मोतीचन्द्र ट्रेड रूट्स इन एनशियण्ट इण्डिया, पृ0 209
2. जैन, वी0के0, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 98
3 वही.
4 इलियट एवं डाउसन जिल्द 1, पृ0 21
5 ग्रिब, अनु0 इब्नबतूता, पृ0 131
6 मार्कोपोलो, II, पृ0 393.

जाते थे।[1] भारत के बारीक कपड़े की सदैव प्रशंसा होती रही है। सुलेमान ने एक पूरा थान एक अंगूठी में आ जाने वाले सूती कपड़ों को जो उसने स्वयं देखा था, का वर्णन करता है।[2]

(2) धातु सामग्रीः-भारत विभिन्न प्रकार की धातुओं एवं उससे निर्मित सामग्री विदेशों को निर्यात करता था। इसमें तलवारें सर्वप्रमुख थीं। इनकी धार के कारण बड़ी ख्याति थी। भारत में अनेक प्रकार की तलवारें बनायी जाती थी। अल-उत्बी कहता है कि आनन्दपाल के पुत्र ब्राह्मणपाल के सैनिक श्वेत तलवार, नीला भाला एवं पीत वर्ण के कवच धारण करते थे।[3] श्वेत लोहा अकलुष इस्पात (स्टेनलेस स्टील) की तरह ही होता था, जो उस समय लोहे की अत्युत्तम कोटि मानी जाती थी।

भारत में इसके निर्माण के प्रमुख केन्द्रों के विषय में भोज ने लिखा है कि बनारस, मगध, नेपाल, सौराष्ट्र एवं कलिंग खड्ग बनाने के लिये विख्यात थे।[4] शार्ङधर ने खटिखट्ट्र, ऋषिक, वंग, सूर्पारक, विदेह, मध्यग्राम, चेदिदेश, सहग्राम एवं कालंजर को इसके प्रधान केन्द्र बताया है।[5] अग्निपुराण में विवृत है कि खट्टर के खड्ग बहुत ही अच्छी किस्म के होते थे, सूरपारक के खड्ग अत्यंत शक्तिशाली एवं अंग एवं बंग के अत्यंत तीक्ष्ण होते थे।[6] अलइद्रीसी भारतीय शिल्पकारों की उत्तम प्रकार की चकित कर देने वाली तलवारों की प्रशंसा करता है।[7] अलउत्बी एवं निजामी भी भारतीय तलवारों की

---

1 नदवी, एस0एस0 पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 40.
2 सुलेमान व्यापारी का यात्रा विवरण पृ0 30.
3 इलियट एवं डाउसन, 2, पृ0 33
4. युक्तिकल्पतरू, श्लोक 24-29.
5. शार्ङधरपद्धति, श्लोक, 46, 72-4679
6. अग्निपुराण, 245, 21-22
7. अल इद्रीसी, पृ0 23

श्रेष्ठता बताते हैं।[1] वास्तव में भारतीय तलवार एवं कटार की पश्चिम में बड़ी मांग थी। धर्मयुद्धों (11 से तेरहवीं शताब्दी के बीच) ने उनके लिये एक बड़ा बाजार बनाया था।

भारत से तलवार के अतिरिक्त अन्य धातु निर्मित सामग्री भी निर्यातित होती थी। गजीना रिकार्ड में यह प्रसंग प्राप्त होता है कि पुराने या टूटे बर्तन एवं औजार अदन से भारत को नये बर्तन बनाने हेतु भेजे जाते थे एवं उनका पुनः निर्यात किया जाता था।[2]

(3) सुगंधित पदार्थ, मसाले एवं रंगः–भारत से पश्चिमी देशों को सुगंधित पदार्थ, मसाले एवं रंग निर्यात किये जाते थे। सुगन्धित पदार्थो में चन्दन, कपूर, मुश्क या कस्तूरी का निर्यात किया जाता था। नवी सदी के एक अरब यात्री अबू जैद सराफी ने भारत में चन्दन, सुगंधित द्रव्य, कस्तूरी पाये जाने का वर्णन किया है।[3] इब्नखुर्दाज्बा ने भारत से चन्दन, कपूर आदि के निर्यात का उल्लेख किया है।[4]

रंगों में नील का स्थान प्रमुख था, जो गुजरात से पश्चिमी देशों को निर्यात किया जाता था। लेकर, जो पीतल पर चढ़ाने की सुनहली पॉलिश थी, का चीन एवं मध्यपूर्व के देशों को निर्यात किया जाता था।[5] काश्मीर में उत्पादित केसर का विदेशों को निर्यात किया जाता था। हर्रे, मंजीठ भी निर्यात की जाती थी।

भारत से विविध प्रकार के मसाले भी पश्चिमी देशों को निर्यात किये जाते थे। जैसे लौंग, दालचीनी, कालीमिर्च, जायफल, पक्कम, कबाबचीनी,

---

1 इलियट एवं डाउसन, पृ0 33, 227
2 गेटेन, एस0डी0 पृ0 340, 341, 343
3 अबू-जैद सराफी, पृ0 135.
4. किताबुल मसालिक वल् ममालिक, इब्न खुर्दाज्बा, पृ0 71.
5 नॉर्मन ए0 स्टीलमैन ज0इ0सो0हि0ओ0, 15, 1873 पृ0 41.

जावित्री, बड़ी इलाइयी, सोंठ या अदरक प्रमुख मसाले थे। मसाले सामान्यतया गुजरात को दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया से स्थानीय उपयोग के साथ-साथ पुननिर्यात हेतु भारत लाये जाते थे। किन्तु मार्कोपोलो अदरक एवं कालीमिर्च का गुजरात में ही उत्पादन का उल्लेख करता है।[1]

(4) **बहुमूल्य पत्थरः**-उत्तर भारत के बन्दरगाहों से विविध प्रकार के कीमती पत्थर निर्यात किये जाते थे। नवी सदी के एक अरब यात्री अबू-जैद सराफी ने लिखा है कि सैराफ के जहाज लालसागर होकर मिस्र नहीं जाते हैं अपितु वे जेद्दा से लौटकर भारत चले जाते हैं क्योंकि भारत और चीन के समुद्र में मोती और अम्बर होते हैं। पहाड़ों में रत्नों और सोने की खानें हैं। वहाँ हाथी दाँत हैं। पैदावार में आबनूस, बेंत, कपूर, लौंग, जायफल, वक्कम, चन्दन और अनेकानेक सुगन्धित इत्र होते हैं। तोते और मोर जैसे पक्षी हैं तथा वहाँ की भूमि से मुश्क या कस्तूरी मिलती है।[2]

उत्तर भारत के बन्दरगाहों में गुजरात स्थित बन्दरगाहों से हीरा विदेशों को निर्यात किया जाता था। यहाँ हीरा दक्षिण भारत एवं बुन्देलखण्ड से आता था। अलमसूदी कहता है कि मक्कम नामक एक जवाहरात गुजरात से अदन होते हुये मक्का को जाता था।[3] संभवतः बहुमूल्य पदार्थ श्रीलंका एवं अन्य पूर्वी देशों से गुजरात में पश्चिमी देशों को पुनः निर्यात के लिये ले जाये जाते थे। कुछ अर्द्धकीमती पत्थर अग्नेट, कार्नेलियन, बिल्ली की आँख आदि गुजरात के उत्पाद थे एवं वहां से विदेशों को निर्यात किये जाते थे।

(5) **चमड़े एवं चमड़े के सामानः**-पूर्वमध्यकाल में उत्तरी भारत के विविध क्षेत्रों से चमड़े एवं इसकी निर्मित वस्तुयें पश्चिमी देशों को भेजी

---

1. मार्कोपोलो, II, पृ0 393
2. अबूजैद मराफी, पृ0 135
3 बाम्बे गजेटियर. I भाग I, पृ0 54

जाती थीं। चमड़े के काम में यहाँ के कारीगरों ने कुशलता प्राप्त कर ली थी। चमड़े का प्रयोग तलवार की म्यान, किताबों के आवरण, जूते, घोड़ों के साज और लगाम बनाने में किया जाता था।[1] मुसलमानों के आने के बाद चमड़े के साज भी बनने लगे थे। गुजरात में चमड़े का इतना सामान तैयार किया जाता था कि प्रतिवर्ष कई जहाज का माल अरब और दूसरे देशों को भेजा जाता था।[2] मार्कोपोलो कहता है कि बकरी, बैल, भैंसे आदि की खाल से निर्मित वस्त्र गुजरात से वहाँ जाते थे एवं इनसे भरे जहाज अरब एवं अन्य क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में थाना एवं कैम्बे से भेजे जाते थे।[3] अलमसूदी कहता है कि कैम्बे एवं उसके आसपास के क्षेत्र यहां निर्मित होने वाले जूते के लिये बगदाद में प्रसिद्ध थे।[4]

(6) इमारती लकड़ीः-भारत से पश्चिमी देशों को ईमारती लकड़ी का भी निर्यात होता था। इसमें टीक की लकड़ी प्रमुख थी जिसका प्रयोग जहाज निर्माण एवं घर निर्माण के लिये होता था। मार्कोपोलो कहता है कि हारमूज के जहाज भारत की लकड़ी से बने होते थे।[5] सिंध से बेंत व बांस निर्यात किया जाता था।[6]

(7) अन्य सामग्रीः-भारत से खाद्यान्न भी पश्चिम को निर्यात किया जाता था। बेंजामिन संकेत करता है कि रेशम, कपास, मसाले आदि वस्तुओं के साथ-साथ किश के बाजारों को भारतीय खाद्यान्न भी प्राप्त होता था, जो

---

1 के0एम0 असरफ, पृ0 104.
2 सर हेनरीयूल, दि बुक आफ सर मार्कोपोलो, जिल्द 2 पृ0 393-94
3 वही
4. बाम्बे गजेटियर, I, 1, पृ0 514
5 मार्कोपोलो, I, पृ0 100.
6. इलियट एवं डाउसन, ए पृ0 15.

जहाजों द्वारा भारत एवं विश्व के दूसरे क्षेत्रों से आता था।[1] इब्नबतूता के अनुसार दोफर के लोग भारत से आयातित चावल का उपयोग करते थे।[2] चीनी भी निर्यात की जाती थी।

फल भी पश्चिम को भारत से निर्यात किये जाते थे। नारियल एक ऐसा ही फल था। नवीं शती ई0 का एक अरब यात्री अबू जैद कहता है कि जिन स्थानों में नरियल होते हैं वहाँ अरबी व्यापारी बढ़इयों के हथियार लेकर जाते हैं। पहले वे नारियल का पेड़ काटकर सूखने के लिये छोड़ देते हैं, जब वह सूख जाता है तब उसके तख्ते काट डालते हैं और नारियल की छाल की रस्सी बनाते हैं। उसी रस्सी में तख्तों को सीकर नाव और उसका मस्तूल बनाते हैं और उसके झांझे को बुनकर पाल तैयार करते हैं, फिर उन नावों में नारियल भरते हैं और उनको उमान लाते हैं और उससे बहुत सा धन कमाते हैं।[3]

अरब यात्री नीबू एवं आम की भी प्रशंसा करते हैं। इब्नहौकल सिंध का वर्णन करते हुये कहता है कि उनके देश में सेव के बराबर एक फल होता है जिसको लेमू कहते हैं और जो बहुत खट्टा होता है। उनके यहाँ एक मेवा और भी होता है जो सफतालफ की तरह होता है। उसका नाम अम्बोज (आम) है, जिसका स्वाद भी प्रायः सफलात्तू की तरह होता है।[4] **मसूदी** कहता है कि नारंगी और नीबू भी भारत की खास चीजें हैं, ये फल हिजरी संवत् की तीसरी शताब्दी में भारत से लाये गये थे। ये पहले उमान में और फिर वहाँ से शाम पहुंचे। यहां तक कि वे शाम के समुद्र तट के नगरों एवं मिस्र में घर-घर फैल

---

1. जैद, एन0ए0, लेख, चेंज ऑफ अरब सेण्टर्स इन द मिडिल एजस्, स्टडीज इन एसियन हिस्ट्री, के0एस0 लाल द्वारा सम्पादित, पृ0 299
2 गिब, अनु0 इब्नबतूता, पृ0 113
3. अबू जैद का यात्रा विवरण, पृ0 131.
4. इब्नहौकल का यात्रा विवरण, पृ0 228

गया। किन्तु उनमें भारत का सा स्वाद नहीं है।[1] मसूदी भारत के मोरों की प्रशंसा करता है एवं ईरान में उनकी नस्ल तैयार करने का उल्लेख करता है, किन्तु वह कहता है कि वे भारत की तरह रूप रंग एवं आकार वाले नहीं हुये।[2] एक पशु के पसीने से निकलने वाले सुगन्धित द्रव्य का भी अरबी इतिहासकार वर्णन करते हैं। इसको अरब व्यापारी भारत से मोरक्को तक ले जाते थे।[3] अरबों ने यहाँ के पान का विस्तृत वर्णन किया है जो चूना एवं डली मिलाकर खाया जाता था। पान कोमल होने के कारण अरब नहीं जाता था पर डली बराबर पहुँचा करती थी।[4] हीरा काश्मीर के पर्वतों से पश्चिमी देशों को जाने का अरब इतिहासकार वर्णन करते हैं।

इस समय हिन्दमहासागर में दास व्यापार अरबों के नियंत्रण में था। वे संसार के विभिन्न भागों जैसे अफ्रीका, यूरोप और एशिया से दास इकट्ठा करते थे एवं उन्हें द्वार रक्षक के रूप में चीनी अमीर व्यक्तियों को बेच दिया करते थे या उन्हें नावों पर दास के रूप में नियुक्त कर देते थे। दास मध्यपूर्व के बाजारों में अंगूरों के बागों में काम करने के लिये भी बेचे जाते थे।[5]

इस समय भारतीय भी विदेशों से दास व्यापार में रांलग्न थे। लेखपद्धति से दासों को समुद्रपार ले जाये जाने एवं उन्हें अन्य वस्तुओं की तरह बेचे जाने का प्रसंग प्राप्त होता है।[6] वृहतकथाकोष में एक सार्थवाह द्वारा चूंकारिका नामक एक कन्या को एक पारसी के हाथ में बेचे जाने का प्रसंग

---

1. मसऊदी, मुरूजुज जहब, खण्ड 2, पृ0 438.
2. वहीं
3. अबू हामिद गरनाती तोहफतुल अहवाव, पृ0 49
4. सुलेमान एव अबूजैद का यात्रा विवरण, पृ0 93, 130.
5. काले, एम0आर0 द्वारा सम्पादित, दशकुमारचरित, पृ0 155
6. लेखपद्धति, पृ0 47

प्राप्त होता है।[1] समराइच्चकहा में वन्य जनजातियों एवं डाकुओं का विवरण है जो रास्ते में व्यक्तियों को पकड़ लेते थे एवं दास की तरह बेंच देते थे।[2] उपमितिभवप्रपंचकथा की कहानी में वर्णित है कि कुछ डाकुओं ने एक व्यक्ति का इसलिये अच्छी तरह पोषण किया ताकि उससे विदेश में अच्छा दाम प्राप्त हो सके।[3]

इस समय यह व्यापार बहुत बढ़ गया था। किन्तु यह अमानवीय था। तेजपाल जो बघेला राजा का एक मंत्री था, ने इस पर प्रतिबंध लगाया।[4]

(2) भारत का चीन के साथ व्यापार

चीन के साथ भारत का प्राचीन काल से ही व्यापारिक सम्बन्ध था। प्राचीन काल में भारत का चीन से अधिकतर व्यापार स्थलमार्गों से होता था किन्तु इस समय जलमार्ग महत्वपूर्ण हो गया। यह मार्ग अपेक्षाकृत सुविधाजनक एवं कम बाधाओं वाला था साथ ही मध्यएशिया की राजनीतिक स्थिति भी ऐसी थी कि चीन से स्थल मार्ग से व्यापार करना सरल नहीं रह गया था।

पूर्व मध्यकाल में शुरू में भी भारत और चीन के व्यापारिक सम्बन्धों में अरबों की भूमिका महत्वपूर्ण थी किन्तु दसवीं शती के पश्चात् हिन्द महासागर के पूर्वी क्षेत्र पर चीनियों का एकाधिकार हो गया। अनेक चीनी भिक्षु इस काल में भारत आये। 749 ई0 के एक चीनी वर्णन से ज्ञात होता है कि कैण्टन के बन्दरगाह में भारत, ईरान एवं अरब के अनेक जहाज खड़े थे।[5]

---

1. वृहत्कथाकोष, पृ0 248.
2 समराइच्चकहा, 6, पृ0 511
3. उपमितिथवप्रपंचकथा, पृ0 404-5.
4. मेरूतुंग, प्रबंधचिन्तामणि, 99, 120.
5. शास्त्री, के0ए0एन0, फारिन नोटिसिज, पृ0 19

चोल शासक राजेन्द्र प्रथम ने दक्षिणी एवं पूर्वी कुछ एशियाई क्षेत्रों, केदाह, पालेमबेंग, नीकोबार टापू, जम्बी, उत्तरी सुमात्रा एवं दक्षिणी बर्मा पर अधिकार कर लिया था। इसका कारण व्यापारिक ही था। दक्षिणी पूर्वी द्वीपसमूहों का शासक वंश शैलेन्द्र वंश इस व्यापार में बाधा उपस्थित कर रहा था। इस विजय से भारत एवं चीन में व्यापार पुनः तीव्र हो गया। इस समय चीन-भारत व्यापार से भारत को पर्याप्त लाभ अर्जित होता था। भारत चीन से अनेक वस्तुये आयात करता था।

आयात

प्राचीन काल की ही तरह इस समय भी चीन से आयात की प्रमुख सामग्री रेशम थी। चीनी रेशम का व्यापार ईसा की प्रारम्भिक सदियों में मध्य एशिया से होकर जाने वाले रेशम मार्ग से होता था जिसमें भारतीय मध्यस्थ के रूप में काम आते थे। किन्तु इस समय यह जलमार्ग से होता था।

पूर्वमध्यकाल में चीनी रेशम का निर्यात पश्चिमी देशों को होता था। चीन एवं पश्चिमी देशों के आपूर्ति वाले देशों के बीच कई क्षेत्र इस व्यापार में मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। जिसमें भारत एवं दक्षिणी पूर्वी एशियाई देश प्रमुख थे।

दक्षिणी पूर्वी एशिया के देश चीन से रेशम लेकर बदले में उसे मसाले एवं इमारती लकड़ी की आपूर्ति करते थे। इन देशों से ही भारत एवं पश्चिमी देशों को पुनः रेशम का निर्यात कर दिया जाता था।

चीनी रेशम भारत को सीधे भी प्राप्त होता था। रशीहिद्दीन ने लिखा है कि चीन से भारत में बहुत सा रेशम लाया जाता था।[1] कुवलयमाला कथा

---

1. इलियट एवं डाउसन, 3, 33, 34.

में वर्णित है कि कुछ व्यापारी चीन एवं महाचीन गये थे एवं रेशम के साथ वापस लौटे थे।[1] मार्कोपोलो भी चीन से रेशम आने का उल्लेख करता है।[2] चाऊ-जु-कुआ दक्षिणी पूर्वी एशिया के टापुओं से रेशम भारत लाये जाने का उल्लेख करता है।[3] भारत में चीनी रेशम लोकप्रिय था।[4]

रेशम के अतिरिक्त चीन से सोना एवं चांदी भी भारत आता था। 1296 ई0 में चीन की सरकार ने इन धातुओं के चीन से निर्यात पर रोक लगा दी थी।[5] वैजयन्ती में टिन के लिये चिनपट्ट शब्द का प्रयोग इस बात को इंगित करता है कि भारत में यह धातु चीन या दक्षिणी-पूर्वी एशिया से आयात की जाती थी।[6] लोहा भी चीन से मंगाये जाने के साक्ष्य मिले हैं।[7] अलइद्रीसी के वर्णन से श्वेत चीनी (व्यंजन बनाने में प्रयुक्त होने वाला पौधा जनित पदार्थो, तैनइतइद्ध की जो चीन से भारत आती थी उत्तम किस्म की होती थी।[8]

निर्यात

चीन को भारत से विविध वस्तुओं का निर्यात होता था। चाऊ-जु-कुआ कहता है कि सभी रंग का सूती कपड़ा, गुजरात से चीन एवं अरब देशों को भेजा जाता था।[9]

कच्चा लोहा, तलवारें एवं भाले भारत से चीन जाते थे चाऊ-जु-कुआ कहता है कि छड़ के रूप में लोहा बाहर जाता था। भारत से विलासिता का

---

1. कुवलयमालाकहा, पृ0 65-66.
2. मार्कोपोलो पृ0 2, 292, 2, 24.
3 चाऊ-जु-कुआ, पृ0 101.
4. चीनांशुक, कुट्टनीमत्त, दामोदरपंडित, VV, 66, पृ0 344
5. चाऊ-जु-कुआ, पृ0 101.
6 वैजयन्ती, पृ0 43, पंक्ति 60.
7. वही.
8. अलइद्रीसी, पृ0 71.
9. चाऊ-जु-कुआ, 92-92

समान चीन जाता था इस व्यापार में चीन का सोना भारत आता था। इसी कारण चीन को 12वीं शताब्दी में भारत के कुछ क्षेत्रों के साथ व्यापार पर प्रतिबंध लगाना पड़ा था।[1]

(3) भारत का दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों के साथ व्यापार

पूर्वमध्यकाल में भारतीय व्यापारी दक्षिणी पूर्वी द्वीपसमूहों की यात्रा करते थे। इस समय इस क्षेत्र में जाने वाले ज्यादातर जहाज ताम्रलिप्ति से चलते थे।[2] दक्षिण भारत का भी इस क्षेत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस व्यापार से भारत को बहुत लाभ होता था। एक गुजराती कविता में लिखा है 'जो कोई व्यापारी जावा जाता है, वहां से लौटता नहीं, यदि भाग्यवश वह लौट आये तो इतना धन लाता है कि उसके वंशज दो पीढ़ियों तक सुख से रख सकते हैं।[3] राजेन्द्रचोल की इस क्षेत्र में विजय के पश्चात् इस सम्बन्ध में और घनिष्ठता आई।

आयात

दक्षिणी पूर्वी एशियाई क्षेत्र के लिये भारतीय साहित्य में सुवर्णद्वीप शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह क्षेत्र बहुमूल्य धातुओं का क्षेत्र था एवं भारत में इसकी आपूर्ति यहीं से होती थी।[4] यहां से सोना, चाँदी, बहुमूल्य पत्थर, मसाले प्रमुख रूप से भारत में आयात किये

---

1. चाऊ-जु-कुआ, पृ0 18
2. समराइच्चकहा, पृ0 327, वृहत्कथाकोष संग्रह 18, 176 के आगे, वृहत्कथामजरी 2, 183, कथासरित्सागर (दानी) 3, 375.
3. फार्ब्स, ए0के0, रासमाला, पृ0 418.
4 जैन, वी0के0, ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ0 91.

जाते थे। मार्कोपोलो कहता है कि सुमात्रा सोने के लिये बहुत प्रसिद्ध था।[1] कुवलयमालाकथा में कुछ व्यापारियों के विषय में लिखा है कि वे सुवर्णद्वीप से वापस भारत बहुत से सोने के साथ लौटे।[2] समराइच्चकहा की कथाओं से भी सोने के दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों से आयात की जानकारी प्राप्त होती है।[3]

दक्षिणी पूर्वी द्वीपसमूहों से भारत में कीमती पत्थर आयात किये जाते थे। कुवलयमालाकहा की कहानियों में बारबारकुला एवं रत्नद्वीप (द0पू0 एशिया के द्वीप) से लौटने वाले व्यापारियों द्वारा क्रमशः मोती एवं जवाहरात लाने का उल्लेख है।[4] समराइच्चकहा में भी ऐसा ही प्रसंग प्राप्त होता है।[5] मसाले भी इन क्षेत्रों से आयात की प्रमुख सामग्री थी। कभी-कभी मसाले इन क्षेत्रों से भारत लाकर पुनः पश्चिमी देशों को निर्यात कर दिये जाते थे।

मलक्का से जायफल एवं लौंग आता था। पूर्वी जावा एवं निचला सुण्ड द्वीप से चन्दन की लकड़ी तथा जावा से कालीमिर्च प्राप्त होती थी। चाऊ-जु-कुआ ने लिखा है कि दक्षिणी-पूर्वी एशिया के टापुओं से रेशम, चीनी के बर्तन, कपूर, रेवतचीनी, लौंग, चंदन, इलायची आदि भारत लाये जाते थे।[6] बालछड़ एवं अगर भी भारत लायी जाती थी। ईलायची, कपूर, अदरक पूरे क्षेत्र में पाया जाता था।

यद्यपि दक्षिण भारत में भी पर्याप्त मात्रा में मसाले होते थे किन्तु उनकी गुणवत्ता ज्यादा अच्छी होने के कारण वे प्रायः दक्षिणी पूर्वी देशों से ही आयात किये जाते थे।

---

1 मार्कोपोलो, II, 284-290
2 कुवलयमालाकहा, पृ0 65-66
3. समराइच्चकहा, पृ0 240-41
4. कुवलयमालाकहा, पृ0 65-66.
5 समराइच्चकहा, 4, पृ0 240-41, 247, 286-87
6 चाऊ-जु-कुआ, पृ0 88 से आगे.

निर्यात

इन देशों में विविध वस्तुयें भारत से आती थी। समराइच्च्कहा भारतीय व्यापारियों की रत्नद्वीप एवं यवनद्वीप की सामुद्रिक यात्राओं का वर्णन करती है। इसमें प्रसंग मिलता है कि एक श्रेष्ठीपुत्र ने यवनद्वीप के लिये समुद्री यात्रा शुरू की। उसकी व्यापारिक सामग्रियों में सफेद चन्दन एवं कपड़े थे। उसने यवनद्वीप के बन्दरगाह पहुंचने पर चुंगी अदा की एवं विदेशी सामान के साथ वापस देश लौटा।[1] इससे सफेद चन्दन एवं कपड़ों का इन क्षेत्रों में भारत से निर्यात की जानकारी प्राप्त होती है। कुवलयमालाकहा में एक व्यापारी के कपड़ों के साथ बारबारकुला जाने एवं मोती एवं हाथी दांत के साथ वापस आने का प्रसंग प्राप्त है। एक दूसरी कहानियों में नीम की पत्तियों का इन क्षेत्रों में निर्यात का प्रसंग प्राप्त होता है।[2]

(4) श्रीलंका के साथ भारत का व्यापार

प्राचीन काल से ही निकट का देश होने के कारण भारत का श्रीलंका से घनिष्ठ व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सम्पर्क थे।

श्रीलंका से आयात होने वाली सबसे महत्वपूर्ण सामग्री मोती थी।[3] अरबी भूगोलवेत्ताओं के वर्णन से श्रीलंका में बहुमूल्य पत्थरों की उपलब्धता के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। अलइद्रीसी इस संबंध में कहता है कि श्रीलंका के पर्वतों में सभी प्रकार की लालमणियों एवं विविध प्रकार की बहुमूल्य पत्थरों की प्राप्ति होती है। वह कहता है कि उसकी नदियों में हीरे पाये जाते हैं एवं उसके समुद्री तटों पर उत्तम किस्म की मोतियों की सुन्दर

---

1 समराइच्चकहा, 4, पृ0 254.
2. कुवलययालाकहा पृ0 65-66.
3. चाऊ-जु-कुआ, पृ0 91

पंक्ति है।[1]

वैजयन्ती अरदक[2] एवं टीन[3] का भी श्रीलंका से भारत में आयात का उल्लेख करता है। मानसोल्लास में श्रीलंका से महीन कपड़े लाये जाने का प्रसंग प्राप्त है।[4] कपड़े आदि वस्तुयें भारत से श्रीलंका को निर्यात की जाती थी।

विदेशी व्यापार का स्वरूप

इस समय भारत के विदेशी व्यापार का स्वरूप बदल गया था। प्राचीन काल में भारत से मुख्यतः बिलासिता की वस्तुयें निर्यात की जाती थीं जैसे मसाले, रेशम एवं उत्तम किस्म का मलमल। किन्तु अब चीनी, बकरम, सन के बने हुये एवं सूती कपड़े, कमाया हुआ चमड़ा, चमड़े की सामग्री, तलवारे एवं भाले एवं कुछ खाद्यान्न भी निर्यात होता था। विलासिता की वस्तुओं का भी व्यापार जारी था। काकतीय राजा गणपतिदेव के मोस्तुपल्ली स्तम्भ लेख में उल्लिखित है कि जहाजों के माल में मुख्य रूप से चन्दन, देशी कपूर, चीनी कपूर, मोती, गुलाबजल, हाथी दांत, तांबा, जिंक, सीसा, रेशम का धागा, मूंगा, इत्र होते थे।[5] मार्कोपोलो कहता है कि भारत से होरमुज को जाने वाले जहाज मसाले, बहुमूल्य पत्थर, मोती, रेशमी वस्त्र, सोना, हाथीदाँत एवं बहुत सी अन्य वस्तुओं से परिपूर्ण होते थे।[6] इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यापारी ज्यादा मूल्य एवं अधिक लाभ वाला, तथा वहन करने में सुविधाजनक सामग्री ले जाना पसंद करते थे।

---

1 अलइद्रीसी, पृ0 27-28
2 वैजयन्ती, पृ0 129, पक्ति 150
3 वही, पृ0 43, पक्ति 62
4. मानसोल्लास, 2, पृ0 90, श्लोक 1040
5. इपिग्राफिया इण्डिका, 12, पृ0 195-96, II.
6. मार्कोपोलो I, पृ0 107

व्यापार में ज्यादातर वस्तु के बदले वस्तु ली जाती थी। वस्तुतः जो व्यापारी माल से परिपूर्ण जहाज लेकर दूरस्थ देशों को जाते थे वे वापस खाली जहाजों को लेकर लौटने की जगह अपने क्षेत्र या मार्ग के क्षेत्र में मांग की वस्तुओं को भर लेते थे। इससे व्यापारियों को दुगुना लाभ होता था। वासफ कहता है कि भारत आयातित वस्तुओं के बदले में धन देने की अपेक्षा सामग्री देता था।[1] चाऊ-जु-कुआ[2] एवं मार्कोपोला[3] के विवरण से भी इस बात की पुष्टि होती है।

व्यापारिक संघ

प्राचीन काल में भारत में व्यापारियों एवं शिल्पियों ने स्वहितों की सुरक्षा एवं उन्नति हेतु अपने अपने संगठ्न बनाये। ये समूह या संगठ्न श्रेणी, निगम, संघ वार्ता पूग आदि कहलाये। इनकी प्राचीनता ऋग्वैदिक काल तक जाती है। ऋग्वेद में पणि नामक व्यापारी समूह बनाकर व्यापार करते थे। आर0सी0 मजूमदार के अनुसार इन्हें श्रेणियों के रूप में माना जा सकता है।[4] उत्तरवैदिक साहित्य में श्रेष्ठिन्[5] शब्द का प्रयोग मिलता है जो बाद में श्रेणियों के अध्यक्ष हेतु प्रयोग किया गया था। छठी शता0 ई0पू0 हुये व्यापारिक उत्थान से इस संस्था के समुचित विकास को बल मिला। बौद्ध साहित्य से इनके विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। एक जातक में व्यापारियों की अठारह श्रेणियों को बताया गया है।[6] कौटिल्य ने श्रेणि संगठ्न के विषय में अनेक नियम बनाये। मौर्योत्तर काल में श्रेणियों के पास अक्षयनीति के रूप से धन

---

1. इलियट एवं डाउसन, III, पृ0 30.
2 चाऊ-जु-कुआ, पृ0 95.
3. मार्कोपोलो, II, पृ0 389-90.
4. कारपोरेट लाइफ इन ऐन्शेन्ट इण्डिया, पृ0 2
5. अथर्ववेद 1, 9, 3
6 जातक, जिल्द 2, पृ0 18

जमा किये जाने के प्रमाण मिलते हैं।[1] गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में भी अनेक व्यापारी श्रेणी संगठन के सदस्य थे। पूर्वमध्यकाल में विज्ञानेश्वर ने पूग एवं श्रेणी के मध्य भेद बताते हुये कहा है कि पूग संगठन के सदस्य एक ही क्षेत्र के होते थे भले ही उनके जाति एवं व्यवसाय पृथक-पृथक् हों किन्तु श्रेणी संगठन के सदस्य एक ही व्यवसाय से सम्बद्ध होते थे। विज्ञानेश्वर ने जुलाहों, तमोलियों एवं चमारों की श्रेणियों का उल्लेख किया है।[2] मेधातिथि ने शिल्पकारों, व्यापारियों, साहूकारों, गाड़ीचलाने वालों आदि की श्रेणियों का उल्लेख किया है।[3] अलबरूनी के विवरणों[4], अभिलेखों[5] आदि से भी पूर्वमध्यकालीन श्रेणी संगठन पर प्रकाश पड़ता है। इस समय विभिन्न व्यापार से सम्बन्धित लोगों की अलग श्रेणियां थीं। अहाड़ अभिलेख (नवी सदी) में सोने के व्यापारियों की श्रेणियों का उल्लेख है।[6]

श्रेणियों का अध्यक्ष जेष्ठक तथा श्रेष्ठि कहलाता था। यह शासन एवं व्यापारियों दोनों का प्रतिनिधित्व करता था। वह राजदरबार में जाकर राजा को व्यापार एवं वाणिज्य से सम्बंधित मामलों की सलाह देता था साथ ही वह कारवों (सार्थो) का नेतृत्व करता था तथा श्रेणी के व्यापार-वाणिज्य का संचालन करता था। राज्य तथा समाज में उसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा होती थी।

श्रेणी संगठन के अपने नियम थे जिन्हें श्रेणी धर्म कहा गया है। इसका पालन प्रत्येक सदस्य को करना होता था अन्यथा हमें दण्ड का भागी होना पड़ता था। इस संगठन की कार्यकारी परिषद तथा साधारण सभा होती थी।

---

1 एपिग्राफिया इडिका, जिल्द 21, पृ0 60
2. विज्ञानेश्वर, टीका याज्ञवल्क्य स्मृति, 2, 30
3. अलबरूनीज इण्डिा, सचाऊ, 1, पृ0 101
4. तिशष्टिश्लाकापुरूषचरित 1, 258, 3, 366
5. एपिग्राफिया इण्डिका 23, पृ0 138
6. एपिग्राफिया इंडिका, 14 पृ0 55.

श्रेणी संगठन का मुख्य कार्य व्यापार-वाणिज्य एवं उद्योगों का संचालन था। व्यापार पर नियंत्रण, वस्तुओं का मूल्य निर्धारण, सदस्यों के उत्थान का प्रयास, उनकी सुरक्षा एवं उनको ऋण आदि की सुविधा प्रदान करना उनके प्रमुख आर्थिक काम थे। श्रेणि संगठन बैंकों का भी कार्य करती थीं वे सदस्यों से धन प्राप्त करके उन्हें ब्याज सहित वापस देती थीं। बहुत से लोग धन को सुरक्षा की दृष्टि से श्रेणियों के पास जमा करते थे।

श्रेणियों द्वारा समय-समय पर अनेक धार्मिक एवं जनकल्याणकारी कार्यो का सम्पादन किया गया। मठ, मन्दिर, मूर्तियों, आदि के निर्माण में एवं अकाल आदि संकट के समय में अनेक श्रेणियों ने पर्याप्त सहायता की। कारवाँ बनाकर व्यापार करने वाली श्रेणी 'सार्थ' कही जाती थी जिसका नेता सार्थवाह होता था। पूर्वमध्यकाल में सामंतवाद का प्रभाव श्रेणी-संगठन पर भी पड़ा। सनदों से व्यापारियों को पर्याप्त स्वतंत्रता दिये जाने के प्रमाण प्राप्त होते है।[1] उन्हें अपने श्रमिकों चरवाहों आदि से स्वेच्छानुसार व्यवहार करने की छूट दी गयी है एवं कई तरह के शुल्कों से मुक्ति प्रदान की गयी है।[2] इस समय उन्हें लोहारों, बुनकरों, नाइयों कुम्हारों एवं शिल्पियों से बेगार कराने का भी अधिकार प्रदान किया गया है।[3] कई श्रेणियों को एक बाजार में एक साथ रहने का निषेध करके प्रतिस्पर्धा पर रोक सी लगायी गयी है। साधारण ग्राहक से लिये जाने वाले मूल्य के आधे मूल्य पर राज्य को माल देने का कहीं-कहीं निर्देश दिया गया है।

चालुक्य नरेश द्वारा एक जगह मंदिर की व्यवस्था का अधिकार व्यापारियों के समूह को सौंप दिया गया है।[4] इस समय कई गांव एवं उनका

---

1 शर्मा रामशरण, भारतीय सामंतवाद, पृ0 71.
2 एपिग्राफिया इण्डिका 30 न0 30, पंक्ति 8
3 वही, 30, नं0 30, पंक्ति 28
4 कॉ0इं0इं0, 4 नं0, 31, पक्तियाँ 25-49, 56-62

प्रशासन व्यापारियों को सौंप कर तथा उन्हें राज्य की ओर से सभी प्रकार की चुंगियों से छूट देकर व्यापारियों पर गांवों के प्रबंध का भार डाल दिया इसरो उनका पूरा ध्यान अब व्यापार पर ही केन्द्रित न रह कर गांव के प्रशासन पर भी लग गया। इस प्रकार ये व्यापारी भी सामन्तवादी ढांचे में ढलते जा रहे थे क्योंकि इन सनदों के कारण वे भी एक प्रकार से भूमिधर मध्यवर्ती लोग बनते जा रहे थे।[1] श्रेणी की गतिविधियों को एक ही जगह सीमित कर देने से स्पर्धा का अभाव तत्कालीन गतिहीन अर्थव्यवस्था को द्योतित करता है।

इस समय चुंगी आदि से प्राप्त आय मंदिरों को आनुदान में दी गयी। इस समय यापारियों को शिल्पियों पर नियंत्रण रखने का अधिकार दे दिया गया। व्यापारियों को सत्ता प्रदान करने से शहरी इलाकों में राजकीय सत्ता कम हो गयी एवं व्यापारियों की श्रेणियां राजकीय नियंत्रण से अधिकाधिक स्वतंत्र होकर आत्मनिर्भर बनती जा रही थी।[2]

बैंकिंग एवं ऋण व्यवस्था

प्राचीन काल से ही भारत में व्यापारादि के लिये पूंजी की प्राप्ति हेतु व्यापारी ऋण प्राप्त करते रहे हैं एवं अपना धन वृद्धि एवं सुरक्षा हेतु 'अक्षयनीति' के रूप में श्रेणी आदि के पास जमा करते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में बैंकिग व्यवस्था का अस्तित्व था। **उत्तरवैदिक काल** (शतपथ ब्राह्मण) **में साहूकार (कुसीदि) का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[3] गौतम[4] एवं मनु[5]** धनार्जन के साधनों सात प्रकारों में ब्याज प्राप्ति की शर्त पर ऋण प्रदान करने को भी माना है। प्राचीन स्मृतिकारों गौतम, मनु, नारद एवं वृहस्पति ने इस

---

1. शर्मा, रामशरण भारतीय सामंतवाद, पृ0 73
2. वही पृ0 75
3 शतपथ ब्रा0 13, 4, 3, 11
4. गौतम, 10, 49
5. मनु - 10, 115-117.

विषय में अनेक नियम बनाये हैं। यह ऋण कभी प्रतिभूति युक्त एवं कभी प्रतिभूति रहित होता था।

पूर्वमध्यकाल में व्यापार से सम्बन्धित केवल एक 'साहूकारी- ही ऐसा व्यवसाय था जिससे सम्बद्ध लोगों की समृद्धि हुयी।

पूर्वमध्यकाल में दसवी शता0 के आस पास ऋण प्रदान करने सम्बन्धी विषयों में कतिपय नयी प्रवृत्तियां दिखायी देती हैं। ऋण हेतु भूमि को गिरवी रखने की प्रवृत्ति ज्यादा विकसित हुयी जिसके प्राचीन काल में विद्यमान रहने का प्रमाण का प्रमाण नहीं मिलते हैं एवं सर्वप्रथम **वृहस्पति स्मृति** (300-500 ण्क्०) में खेत को लाभ रूप में वर्णित किया गया है। इससे पूर्व गौतम एवं मनु बंधक रखने योग्य वस्तुओं में खेत का उल्लेख नहीं करते हैं। किन्तु आठवीं शता0 में एवं पश्चात् असहाय, मेधातिथि एवं लेखपद्धति के विवरणों से खेतों को गिरवी रख कर ऋण प्राप्त करने की प्रवृत्ति के पर्याप्त प्रचलन का संकेत मिलता है। जब भी ऋण लेने वाला व्यक्ति ऋण चुकाने में असफल हो जाता तो उसकी यह भूमि साहूकार जो प्रायः व्यापारी वर्ग से सम्बद्ध होते थे, की सम्पत्ति बन जाती थी। पूर्वमध्यकाल में व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के साथ पुनः बन्धक रखने की प्रवृत्ति बहुप्रचलित हो गयी। **मेधातिथि, लेखपद्धति, कुल्लुकाचार्य** के विवरण से इसके विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है। **मेधातिथि** इसको उचित नहीं मानते हैं जबकि कुल्लूकाचार्य इसका समर्थन करते हैं।

इस समय ब्याज की दर में भी परिवर्तन हुआ। शास्त्रों के अनुसार विधित सामान्यतः ब्याज की दर 2 प्रतिशत मासिक थी। **अलबरूनी** एवं **लेखपद्धति** के विवरणों से भी ऐसा सिद्ध होता है। यद्यपि व्यवहार में इस

काल में कुछ अधिक प्रतीत होती है फिर भी यह 2 प्रतिशत से 6 प्रतिशत वार्षिक के बीच रही होगी।

राष्ट्रकूटों के समय यह 25 प्रतिशत थी परन्तु चौहान स्रोतों जैसे थीनमाल अभिलेख आदि से यह दर 30 प्रतिशत तक होने के उदाहरण मिलते हैं। संभवतः मुद्रा की कमी एवं व्यापार की अवनति ब्याज दर के ऊंचा होने का एक कारण थी।

व्यास (600-900) ने प्रतिभूति जमा करने पर वार्षिक 15 प्रतिशत ब्याजदर बताया है जबकि प्रतिभूति के अभाव में 24 प्रतिशत ब्याजदर बतायी है।[1] हारीत ने भी प्रतिभूति रहित ऋण पर 24 प्रतिशत वार्षिक बतायी है।[2]

मित्रता वश दिये गये ऋण पर सामान्यतः ब्याज नहीं लिया जाता था। ऐसा नारद एवं कात्यायन के वर्णनों से भी ज्ञात होता है। कि प्राचीन काल में ही अतिलोलुप महाजनों पर नियंत्रण हेतु 'द्विगुना' का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया।

इस सिद्धांत के अनुसार ब्याज की अधिकतम सीमा तय कर दी गयी। किन्तु पूंजी की मांग के दबाव में इसका उल्लंघन भी हो जाता था। मेधातिथि के अनुसार यदि ब्याज मूलधन के बराबर हो जाय एवं यदि वह अदा नहीं किया गया है तो वह ब्याज मूलधन के साथ जुड़ जायेगा एवं नवीन मूलधन बन जायेगा एवं नवीन मूलधन पर ब्याजदर कुछ कम होनी चाहिये। किन्तु इसके अतिक्रमण के भी प्रमाण मिलते हैं।

इस समय अनाज, वस्त्र, घी आदि वस्तुयें भी ब्याज पर उधार दी जाती थीं। इस पर ब्याज की दरें एक समान नहीं थी। मेधातिथि अनाज का

---

1. व्यास, मध्वाचार्य की पराशरमाध्वीय में उद्धृत III, पृ0 221.
2. हारीत चण्डेश्वर ठाक्कुर की गृहस्थ रत्नाकर में उद्धृत, बी0आई0पृ0 447

पांचगुना, विष्णु एवं नारद तिगुना एवं वृहस्पति चार गुना ब्याज निर्धारित करते हैं। इस प्रकार कपास, शक्कर, नमक, शराब, घी आदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की अलग-अलग ब्याजदर निर्धारित की गयी है। ये वस्तुयें संभवतः थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों को उधार पर देते थे। **लेखपद्धति** में एक जगह एक व्यक्ति द्वारा 20 इकाई गेहूं उधार लेने पर फसल उगाही पश्चात् 25 इकाई वापसी का वचन देता है एवं तब तक वह अपना मकान, जमीन या सम्पत्ति अन्य किसी को नहीं प्रदान करेगा।[1] **लेखपद्धति** से ही ज्ञात होता है वस्तु की जगह बाजार मूल्य पर नकद धन रूप में भी वापसी संभव थी।

साहूकार निश्चित शर्तो, सुरक्षित राशि या वस्तु के आधार पर एवं गिरवी रखने पर ऋण प्रदान करते थे।

जमानतें दो प्रकार की होती थीं, एक प्रयोग किये जाने योग्य एवं दूसरे प्रयोग के अयोग्य।

प्रयोग किये जाने जमानतों पर कोई ब्याज नहीं लगता था एवं ऋणदाता ब्याज की जगह सम्बद्ध जमानत से लाभ प्राप्त करते थे। **मेधातिथि खेत, बाग, दुधारू** गाय आदि को लाभकारी जमानतों में परिगणित करते हैं।[2] **लेखपद्धति**[3] एवं **कात्यायन** के विवरण में मकान को गिरवी रखने एवं महाजन द्वारा उसके प्रयोग के उल्लेख मिलते हैं। अन्य जगह भैंसे, बैल, गाय आदि गिरवी रखने के प्रमाण मिलते हैं। लेखपद्धति के एक अन्य विवरण में आम के बाग के जमानत पर रखने के प्रमाण मिलते हैं।

प्रयोग न किये जाने योग्य जमानतों पर ऋणदाता ब्याज लिया करते थे लेखपद्धति में इस प्रकार मकान गिरवी रखे जाने का उल्लेख मिलता है

1 लेखपद्धति पृ0 11-21, 36-49
2. मेधातिथि, मनुस्मृति पर टीका, VIII, 143.
3 लेखपद्धति P 36-38

जिसका ऋणदाता प्रयोग नहीं कर सकता। यदि ऋणग्राही निश्चित अवधि तक ब्याज सहित मूलधन के भुगतान में असमर्थ हो जाता था तभी वे मकान का अधिकारपूर्वक प्रयोग कर सकते थे।

ऋण प्रदान करने से सम्बन्धित एक इकरारनामा ऋणदाता एवं महाजन के बीच होता था। यह इकरारनामा कई प्रकार का होता था।[1] **व्यवहारपत्र** ऐसा इकरारनामा था जिसमें साहूकार कर्ज लेने की व्यक्तिगत जमानत लेकर कर्ज देता था। **हस्ताक्षराणि** में कर्जदारों के हस्ताक्षरों के साथ जमानतियों के भी हस्ताक्षर होते थे। **सन्मुखहस्ताक्षरणाणि** में कर्जे का उल्लेख होता था परन्तु किसी प्रकार की जमानत नहीं होती थी। **आधिकृतवस्तुनामुपरिगृहीत द्रव्यपत्रविधि** उस प्रकार के इकरारनामें को कहते थे जिसमें गिरवी रखकर ऋण लिया जाता था।

महाजनों के इकरारनामा तैयार करने में पर्याप्त बेइमानी के प्रमाण मिलते हैं। **कुट्टनीमत्त** में एक ऐसे साहूकार का उल्लेख है जो इकरारनामें में जितना धन देता था उसका दस गुना लिख देता था।[2] यदि कर्जदार समय पर ऋण का भुगतान नहीं करता था साहूकार गिरवी रखी हुयी वस्तु को बेच सकता था। साहूकार विधिशास्त्रों ने **लिखित ब्याज की दरों से अधिक ब्याज लेते थे। मेधातिथि** ने लिखा है कि साहूकार जो वसन्त में अनाज उधार देते थे उसका दूना किसान से पतझड़ में लेते थे।

यदि ऋणग्राही के उत्तराधिकारी पुत्र, पोता एवं पड़पोता को पैतृक सम्पत्ति मिली हो तभी वह ऋणग्राही के पश्चात् उसके कर्ज को चुकाने के लिये बाध्य था।[3] ऋण के न चुकाने पर ऋणदाता के पक्ष में कुछ प्रावधान

---

1 लेखपद्धति पृ0 36-38
2 कुट्टनीयत्तम् श्लोक 146
3. उपमितिभवप्रपचकथा, पृ0 1019-20

धर्मशास्त्रों में किये गये हैं। उपमितिप्रपंचकथा में ऋणग्राही के साथ कठोर व्यवहार का उल्लेख मिलता है।[1] हेमचन्द्र[2] अल इद्रीसी, असहाय के वर्णनों से भी इस प्रकार की कठोर यातना ऋणदाता को ऋण न चुकाने पर देने के प्रमाण मिलते हैं।

सामान्यतः महाजनी से व्यापारी वर्ग (जिसमें मूलतः वैश्य थे) के सम्बन्ध थे। यह धर्मसम्मत व्यवसाय वैश्वों के लिये ही धर्मसम्मत था एवं ब्राह्मण आपद् काल में ही यह व्यवसाय अपना सकते थे। इस समय सामान्य व्यक्ति एवं व्यापारी धन की सुरक्षा एवं ब्याज प्राप्ति हेतु श्रेणियों, साहूकारों आदि के पास धन जमा करते थे।

वाणिज्यिक कर

अत्यंत प्राचीन काल से ही कर राज्य व्यवस्था का प्रमुख आधार रहा है। इसका उदय राज्य के उदय के साथ ही माना जाता है। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि प्रारम्भ में राज्य का अस्तित्व नहीं था।[3] लोग आपस में मिलजुलकर शांतिपूर्वक रहते थे। किन्तु कालान्तर में संघर्ष एवं भय की स्थिति उत्पन्न हो गयी तब प्रजा ब्राह्माजी के पास गयी एवं उनसे एक योग्य राजा बनाने हेतु अनुरोध किया। ब्रह्माजी ने मनु को राजा बनाया एवं उसे धर्मशास्त्रानुसार शासन करने का निर्देश दिया। प्रजा ने मनु को राजा स्वीकार करते हुये उसे उसकी सेवाओं के बदले उसे कर देने का वचन दिया।[4] कौटिल्य

---

1 मिताक्षप याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका 11-51

2. दिव्याश्रव्य काव्य III, 40.

3 न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिक·।
धर्मेण च प्रजाः सर्वा रक्षान्तिस्य परस्परम्।। महाभारत, शातिपर्व, 23

4 तमब्रुवन्प्रजा मा भै कर्तृनेनो गमिष्यति।
धान्यस्य दशमं भागं दास्याम· कोशवर्धनम्।। वही

ने राज्य के सात अंग बताये हैं[1] जिसमें कोष सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।[2] कामन्दक ने भी कोष को राजा का मूल कहा है।[3] कोष वृद्धि हेतु राज्य का सर्वप्रमुख साधन है कर।

राजा प्रजा से अनेक प्रकार के कर लेता था। मनु ने बलि, शुल्क, दण्डक, पशुकर, आय कर, तस्कर, श्रमजीवी एवं शिल्पीकार, कर के प्रमुख प्रकारों में गिनाया है। समय-समय पर राज्य द्वारा अन्य अनेक लगाये जाते थे। यद्यपि भूमिकर राजस्व का सर्वप्रमुख स्रोत था। किन्तु राज्य को व्यापारिक वस्तुओं पर लगाये जाने वाले करों से भी पर्याप्त आय प्राप्त होती थी।

प्राचीन काल की ही तरह पूर्वमध्य काल में भी व्यापार सम्बन्धी वस्तुओं पर अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर लगाये गये थे।

शुल्क

व्यापार सम्बन्धी करों के सन्दर्भ में 'शुल्क' का सर्वाधिक उल्लेख साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों में मिलता है। इसकी प्राचीनता वैदिक काल तक जाती है। अथर्ववेद में सबसे पहले इसका उल्लेख मिलता है।[4] दिव्यावदान[5], वशिष्ठ धर्मसूत्र[6], गौतमधर्मसूत्र[7] एवं मनुस्मृति[8] में इसके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। पूर्वमध्यकालीन विभिन्न ग्रन्थों एवं अभिलेखों में इसका प्रयोग दिखायी देता है।

---

1. स्वाम्यमात्य जनपददुर्ग कोश दण्डमित्राणि प्रकृतय, अर्थशास्त्र 8, I, श्लोक 66
2. कोष मूलों हि राजान. महा0 12/119/16
3 कामन्दकनीतिकार, XIII, 33, पृ0 69
4. अथर्ववेद, III, 19.3, ए0पी0 पण्डित खण्ड 1, 495-96.
5. दिव्यावदान, III, 5. पृ0 501
6. वशिष्ट धर्मसूत्र, 19, 37.
7. गौतम धर्मसूत्र, 10 25-26
8. मनुस्मृति 8, 307

घोषाल का मत है कि व्यापारियों पर यह कर मुख्यत· किलेबंद शहर में उनके प्रविष्ट होने पर लगाया जाता था।[1] किन्तु धर्मशास्त्र, शब्दकोषों एवं अभिलेखों के साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि यह 'शुल्क' शब्द उस कर के लिये प्रयुक्त होता था जो वाणिज्यिक आवागमन, विक्रय हेतु लगाये गये सामान पर कर लगता था। यह विक्रय सम्बन्धी गतिविधियों पारगमन देयों, शहर द्वारा घाटों एवं बंदरगाहों पर लगता था।[2] **अमरकोष** के टीकाकार **क्षीरस्वामी** कहते हैं कि यह घाटों पर सैनिक एवं पुलिस केन्द्रों पर एवं पारगमन देयों के रूप में लिया जाने वाला कर था। कहीं-कहीं पर यह चुंगी के रूप में भी लिया जाता था। गहड़वाल शासकों के समय 'प्रवणि' कर व्यापारियों से उनके माल पर लिया जाने वाला एक शुल्क ही था। घोषाल ने 'प्रवणि' को व्यापारी ही माना है।[3] मथनदेव के राजोर अभिलेख में 'वणिक्' के लिये 'प्रवणि' ही कहा गया है।[4]

पारगमन शुल्क राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्रोत था। वह गाड़ियों, बैलों एवं ऊँट आदि पर लदे सामानों पर लगाया जाता था।

शुल्क क्रय-विक्रय, मार्ग, भोजन, चोरो से रक्षा का व्यय और लाभ देखकर व्यापारी से लिया जाता था।

हेमचन्द्र का मत है कि वणिकों की रक्षा करने के कारण राज्य को 'शुल्क' प्राप्त होता था।[5] शुक के अनुसार यह वस्तु का 1/16, 1/20, 1/32 भाग हो सकता था।[6]

---

1 घोषाल, हिस्टोरियोग्राफी, पृ0 177
2 सुशील मालती देवी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 246
3 घोषाल, हिस्ट्री अव द हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ0 263
4 ई0, 3 266-67
5. हेमचन्द्र, शब्दानुशासन, 6.4.158, वणिजां रक्षानिवेशों
6 शुक्र 4.2.109-11 राजभाग : शुल्कम्।

यह सामान्यतः रोज लिया जाता था एवं नगद तथा वस्तु दोनों रूपों में ग्रहण किया जाता था। यह न केवल व्यापारिक वस्तुओं अपितु निर्माण एवं आवासों पर भी लगता था।

शुल्क ग्रहण के लिये शुल्कशालयें होती थीं जो विभिन्न स्थानों पर होती थीं एवं मार्ग से आने-जाने वाले व्यापारियों को रोककर उनके सामानों पर शुल्क लगाया करती थीं। यह शुल्काध्यक्ष या शौल्किक नामक अधिकारी के द्वारा ग्रहण किया जाता था। कभी-कभी शुल्क संग्रहण अधिकारी से व्यापारियों द्वारा शुल्क चोरी के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। **पुण्याश्रव कथाकोष** की कहानियों से ऐसा ही एक सन्दर्भ प्राप्त होता है कि दो व्यापारियों ने बहुत सा धन कमाने के बाद शहर में प्रवेश करते समय शौल्किक के भय से उसे जमीन में गाड़ दिया।[1] यह अधिकारी शुल्क एवं चुंगी दोनों के ग्रहण के लिये जिम्मेदार था।[2] इशोवर्म्न के रामगंजप्लेट में शौल्किक शब्द का प्रयोग एक अधिकारी के रूप में हुआ है।[3] कलचुरियों में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता था।[4]

राजतंरगिणी में सुरपुर में शुल्कस्थान के विषय में पता लगता है।[5] अभिलेखों में इसे शुल्कमंडापिका, मंडापिका कहा गया है। कुमार पाल के समय के मंगरोल अभिलेख (1145 ई0 सन्) में मंगलपुर एवं बामनस्थली में शुल्कमंडापिका के होने का उल्लेख करता है।[6]

---

1. पुण्याश्रव्यकथाकोष, पृ0 63
2 जैन, वी0के0 पूर्वनिर्दिष्ट, अध्याय 7, पृ0 171
3 इन्सक्रिप्शन् ऑफ बगाल, खण्ड, III, पृ0 153 1 19.
4. वी0वी0 मिराशी का0इं0इं0, भाग, IV, पृ0 390.
5 कल्हण राजतंरगिणी, खण्ड, II, पृ0 227.
6 पीटर्सन पी0ए0 कलेक्शन ऑफ द प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्सक्रिप्शन्स्, पृ0 153.

आय

शुल्क से राज्य को पर्याप्त आय होती थी। फोर्ब द्वारा सम्पादित रासमाला में विवरण प्राप्त होता है कि अन्हिलपुरा में करों से लाखों टका प्राप्त होता था[1], 'शुल्क' से प्राप्त आय कभी धमार्थ कार्यो में व्यय कर दी जाती थी। रायपाल के नाडल प्रस्तर लेख से भी ऐसा ही प्रमाण मिलता है।

चुंगी

कहीं-कहीं चुंगी (मार्ग कर) शुल्क में ही समाहित है और कहीं-कहीं इसका अलग उल्लेख मिलता है। जयभट्ट द्वितीय की नवसारी प्लेट में इसके लिये 'रथ्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[2] मालवा के जयसिंह (वि0संवत् 1116) के पन्हेरा लेख में वर्णित है कि मार्ग से गुजरनें वाले हर बैल से एक विमसोपाक कर लिया जाता था।[3] गहड़वाल राजा[4] एवं चाहमान शासक सामंतसिंहदेव[5] के समय भी मार्ग कर लिया जाता था।

द्वारिकादान

यह संभवतः द्वार पर लिये जाने वाला कर था। गोपाल द्वितीय के जाजिलपारा अनुदान में इस कर का सन्दर्भ आया है। कुछ अभिलेखों में संग्राम प्रवेशम[6] शब्द ग्रामीण संरचना से सम्बन्धित है। इससे सम्बन्धित अधिकारी वाह्यभ्यान्तरिक एवं गमागंनिका थे जो संभवतः उन वस्तुओं की कर वसूली से सम्बन्धित थे, जो किसी ग्राम विशेष से बाहर जाती थी या वहां पर आती थी।[7]

---

1. फोर्ब, रासमाला, पृ0 192
2. वी0वी0 मिराशी इन्सक्रिप्शन्स् ऑफ द कलचुरि इरा, का इ इ भाग 4
3. इपि0इण्डि0 21, पृ0 41
4. वही 14, पृ0 184
5. वही 11, पृ0 59
6. वी0वी0 मिराशी, पूर्वनिर्दिष्ट, I, पृ0 232.
7 वही, पृ0 114.

बाजार सम्बन्धी कर

पूर्वमध्यकाल में वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर भी कर लगाये जाने के प्रमाण मिलते हैं। इसे हट्टदन, पण्यकर एवं हट्ट शुल्क कहा गया है। राजतरंगिणी में 'हट्टपतिभाग' का उल्लेख मिलता है। जो हट्टपति (बाजार का नियंत्रक) के दिये जाने वाले हिस्से को इंगित करता है।[1]

विभिन्न अभिलेखों से व्यापारिक वस्तुओं के विक्रय पर कर लगाये जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिसमें निर्मित एवं कृषि सम्बन्धी सामग्री के साथ-साथ पशु भी शामिल थे। हस्तिकुण्डी शिलालेख[2] के दूसरे भाग में हट्टशुल्क से सम्बंधित उपयोगी सूचनायें प्राप्त होती है। गाड़ी के 20 बोझों पर तथा ऊँट के भार पर तथा ऊँट की बिक्री पर एक रूपया कर लिया जाता था। जुआरियों, पान विक्रेताओं एवं तेल विक्रेताओं से भी एक निश्चित बिक्रीकर (शुल्क) वसूल होता था। एक बोझ, जो सर पर उठाया जा सकता था, उसकी बिक्री एक 'विशयक' तथा सूती कपड़े, ताँबा, केसर के भार पर 10 पल सरकारी कर था। इसी प्रकार प्रति द्रोण गेहूं, यव, लवण, राल आदि से एक माणक के हिसाब से बिक्री कर प्राप्त किया जाता था।

नारंगदेव के अनवद प्रस्तर अभिलेख (वि0स0 1348)[3] के साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि यहां बिक्री किये जाने वाले कृषि उत्पादनों पर क्रेता एवं विक्रेता दोनों पक्षों से शुल्क ग्रहण किया जाता था। हट्ट में बिकने वाली वस्तुओं में मंजीठ, हिगुंदी, अन्न एवं मक्खन का उल्लेख हुआ है।

---

1 राजतरगिणी, V, 167, पृ0 208
2 एपि0 इण्डि0 भाग 10, पृ0 17-20
3. इडियन एण्टीक्वेयरी भाग 41, पृ0 20

प्राचीन विधिवेत्ताओं ने भी वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर शुल्क अथवा कर लेने का विधान दिया है। शुक्र ने एक बार ही शुल्क लेने का निर्देश दिया है।[1] तृण एवं काष्ठ विक्रेता से 1/20 भाग[2] गाय भैंस एवं बकरी के दुग्ध विक्रेता से 1/16 भाग वसूल किया जाता था। किन्तु परिवार के उपयोग के लिये रखी हुयी गाय, भैंस और बकरी के दूध पर कोई कर नहीं लगता था। शुक्र ने विक्रेता की हानि होने पर कोई कर न लेने की संस्तुति की है। सोनेश्वर ने पशु से लाभांश एक 1/50 भाग कर के रूप में प्राप्त करने का विधान दिया है।[3]

दुकानों पर लगाये जाने वाला करः-व्यापारियों की दुकानों पर भी कर लगाया जाता था। 959 ई0 के राजौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि हर दुकान पर से दो विमसोपाक कर लिया जाता था।[4] 1145-46 ई0 के मंगरोल लेख से ज्ञात होता है कि दो पान एवं एक सुपारी प्रत्येक पान विक्रेता की दुकान से लिया जाता था।[5]

कर ग्रहण करने के सिद्धांत

प्राचीन काल की भाँति पूर्वमध्यकालीन विधि ग्रन्थों में राज्य को जनता से न्यायपूर्ण कर ग्रहण करने के लिये निर्देश दिये गये हैं। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। विभिन्न साहित्यिक एवं अभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकाल में राजाओं द्वारा करों के मदों एवं मात्रा में भारी वृद्धि की गयी थी। अतः लोग करों से बचने का प्रयास करने लगे। अपराजितपृच्छा में

---

1. शुक्र0 504, श्लोक 105
2. वही, श्लोक 17
3. सोमेश्वर, मानसोल्लास, 2.3 63.
4 इपिग्राफिया इण्डिका, 3, पृ0 263 से आगे
5 पी0 पीटर्सन, ए कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स्, पृ0 158

राजा द्वारा अन्यायपूर्ण कर लगाये जाने का विवरण मिलता है।[1] **राजतरंगिणी** से काश्मीर में पूर्वमध्यकालीन शासकों द्वारा नये-नये कर लगाये जाने की जानकारी प्राप्त होती है। **शंकरवर्मन्** के समय दो नये कर विभाग बनाये गये जिसमें से एक बाजार सम्बन्धी करों एवं एक गृहसम्बन्धी करों (गृहकृत्य) के लिये था।[2] विद्दा[3] जयापीड़[4] एवं हर्ष[5] के समय भी नये-नये कर लगाये गये थे। इस समय कृषि, व्यापार, तीर्थस्थल, मंदिर आदि पर नये-नये कर लगाये गये। आपत् काल में कर वृद्धि एवं कर से छूट के मदों पर करोपण किया जा सकता था।[6] इस काल के विधि ग्रन्थों में इसका समय मिलता है। सोमदेव के नीतिवाक्यामृतम् में कहा गया है कि खजाना खाली होने पर राजा व्यापारियों से, यहां तक मंदिरों एवं ब्राह्मणों से अधिशेष धन ले सकता है।[7] लक्ष्मीधर एवं शुक्र भी इसी तरह के सिद्धांत प्रतिपादित किये है जो कि राज्य के नये मदों में करारोपण एवं कर वृद्धि हेतु समर्थित करते हैं। अभिलेखों से भी अनेक नये करों के उल्लेख मिलते हैं। इस प्रकार अन्यायपूर्ण करों से बचने हेतु व्यापारी छलपूर्ण तरीके अपनाते थे। कथासरित्सागर में वर्णित है कि व्यापारियों का एक कारवॉं कर से बचने के लिये सड़क से न जाकर घने जंगलों में जाता है।[8] सामंतसिंह देव के 1268 ई0 के लेख से ज्ञात होता है कि व्यापारियों के कांरवॉं पारगमन कर से बचने हेतु छल करते थे अतः राज्य की ओर से इस

---

1 अपराजितपृच्छा, पृ0 186, खण्ड 13
2 राजतरगिणी, V, 167
3 वही, VI, 261 IV, 589, VII-125 26 एव 570.
4 वही, IV, 628 से आगे
5 वही, VII, पृ0 1071, 1100-01, 1103-04, 1105-06.
6. शुक्र, IV, पृ0 19-20.
7. नीतिवाक्यामृत, पाठ 21, पृ0 82
8 कथासरित्सागर, III, पृ0 46.

लेख से ऐसे कांरवों पर दस भीमप्रिया विमसोपाक अर्थदण्ड लगने की घोषणा की गयी है।[1]

कर से छूट

बिक्री योग्य वस्तुओं के एक स्थान से दूसरे स्थान जाने पर पारगमन शुल्क लगता था। किन्तु वह प्राचीन सिद्धांत कि लाभ न होने वाली वस्तु पर कर नहीं लगता था, इस काल में भी अपनाया गया था। प्रबन्धचिन्तामणि में राजा सिद्धार्थराजा द्वारा ब्राह्मणों को नये आवास स्थल पर अनाज ले जाने पर उसे कर से छूट दी गयी थी।[2]

ब्राह्मण पारम्परिक रूप से ही करों से मुक्त थे। अलबरूनी[3] और सोमेश्वर[4] के विवरण इसकी पुष्टि करते है। किन्तु यह मात्र क्षोत्रिय ब्राह्मण हेतु ही था। वाणिज्य-व्यापार में लगे ब्राह्मण इससे मुक्त नहीं थे। जिनसेन की आदिपुराण[5] (नवीं शत0) में राजा से ब्राह्मणों से भी अन्य लोगों की तरह कर लेने को कहा गया है।

व्यापारी समुदाय

प्राचीन काल में व्यापार के सामान्यतया वैश्यों का ही कर्तव्य माना जाता था। अन्य वर्ण इसको आपात्काल में ही अपना सकते थे। इस समय भी वैश्य ही मुख्यतः व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न थे। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग वैश्यों को व्यापारी के वर्ग एवं शूद्रों को कृषकों के रूप में परिगणित

---

1. इपिग्राफिया इण्डिका, 10.1. पृ0 59
2. प्रबंध चिन्तामणि, पृ0 107
3. अलबरूनीज इण्डिया, II, पृ0 149
4. मानसार - 1, पृ0 44, V, 66.
5. आदिपुराण 42-50 191

करता है।[1] किन्तु अन्य वर्ण के लोग भी इस समय पर्याप्त संख्या में व्यापार में संलग्न थे। अलबरूनी[2] क्षेमेन्द्र, मिताक्षरा[3] ने ब्रह्मण, व्यापारियों का उल्लेख करते हैं। इस समय क्षत्रियों का स्पष्टतः व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न होने का संकेत नहीं प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में दशरथ शर्मा कहते हैं।[4] कि ओसवाल, जायसवाल, खण्डेलवाल, अग्रवाल एवं महेश्वरी जो राजस्थान की पांच प्रमुख क्षत्रिय शाखायें थी, क्षत्रिय मूल की थी। उनकी वैश्य के रूप में परिणित जैन धर्म में निहित अहिंसा एवं निरामिष भोजन के आदर्शों के कारण हुयी। इस प्रकार व्यापारिक गतिविधि में संलग्न क्षत्रिय वैश्य रूप में परिणित दिखते हैं। कुछ शूद्र भी इस समय व्यापार में संलग्न दिखते हैं। विज्ञानेश्वर[5] एवं पराशर[6] शूद्रों को व्यापार एवं वाणिज्य करने की अनुमति देते हैं।

पश्चिमी भारत में ग्यारहवीं एवं बारहवीं सदियों में बड़ी संख्या में व्यापारी जैन थे। जिनेश्वर सूरी कहता है कि एक व्यापारी को अनाज का संग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि कीड़े आदि से उसने क्षति होने की संभावना रहती है। बल्कि उसे कुछ वस्तुयें जैसे कपास, ऊन, कपड़े, मूंगा, मोती, मंजीठ आदि का संग्रह करना चाहिये जो गोदामों में ज्यादातर समय तक रह सके।[7] अहिंसा के सिद्धान्त के कारण जैनियों ने व्यापार को प्रमुखता दी थी क्योंकि कृषि में हिंसा की (हलादिजोतने से) संभावना थी।

वणिक्, महाजन, साहू, श्रेष्ठी, सार्थ, व्यापारियों को इंगित करने वाले नाम है।

---

1 ऑन युआन च्वाग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, अनु टी0वाटर्स द्वारा I, पृ0 168
2. अलबरूनीज इण्डिया, II, पृ0 132
3 विज्ञानेश्वर, मनुस्मृति पर टीका, पृ0 210
4. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रो द एजस्, पृ0 438
5 याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका,
6. पराशरस्मृति, 2 13
7 कथा कोषप्रकरण, पृ0 51

व्यापारियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण एवं उनका समाज एवं शासन में महत्व

पूर्वमध्यकाल में व्यापारियों का राज्य एवं समाज में अच्छा स्थान था। प्राचीन काल में ऊंचे पद पर प्राय· ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं सामंतों ही आसीन रहते थे किन्तु इस समय कई व्यापारी इस पद पर आसीन दिखते हैं। आठवीं शती0 के वनराजा नामक गुजरात के चावड वंशीय नरेश ने जाम्बा नामक एक व्यापारी (श्रेष्ठी) को अपना महामात्य बनाया।[1] श्रीमाल के एक धनी व्यापारी के पुत्र लहरा को उसने अपना 'दण्डपति' पद पर नियुक्त किया। गुजरात के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराजा के समय (ई0 सन् 1093–1143) बहुत से अधिकारी एवं मंत्री वणिक् थे। मुंजल, शान्तु, सज्जन, उदयन प्रमुख थे। वस्तुपाल एवं तेजपाल नामक दो भाई जो वणिक् थे बाद में वघेला नरेश वीराधल के समय प्रभावपूर्ण मंत्री हुये।

इस समय बहुत से वणिक् वर्ग के विद्वानों ने साहित्य रचना की। हेमचन्द्र भी व्यापारी वर्ग का था। उसने बहुत से ग्रन्थों की रचना की जिसमें त्रिशष्टिश्लाकापुरुषचरित एवं परिशिष्टपर्वन् प्रमुख हैं। उन्होंने कला एवं चित्रकारी के विकास में भी योगदान दिया, तथा मंदिर एवं स्थापत्य निर्माण में भी दानदेकर पर्याप्त सहायता की।

⌘

---

1 मेरुतुग, प्रबन्धचिन्तामणि, पृ0 17.

अध्याय : तीन

प्रमुख व्यापारिक मार्ग

किसी भी देश या राज्य के विकास में यातायात एवं परिवहन हेतु प्रयुक्त किये जाने वाले मार्गो की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वस्तुतः यह किसी राज्य के आर्थिक जीवन रूपी शरीर में धमनियों की तरह हैं। प्राचीन काल से ही भारत में इन्हीं आंतरिक एवं बाह्य व्यापारिक मार्गो के माध्यम से व्यापार होता रहा था। जिनका विकास एक लम्बे समय में शनैः शनैः हुआ होगा।

पूर्वमध्यकाल में भी उत्तरी भारत में आंतरिक एवं बाह्य व्यापारिक मार्गो का जाल बिछा था। तत्कालीन साहित्य, विदेशी यात्रियों के वर्णन, पुरातत्व तथा अभिलेखों से तत्कालीन मार्गो पर वृहद् प्रकाश पड़ता है।

पूर्वमध्यकाल में भी बहुधा वही मार्ग प्रयुक्त होते थे जिनका प्रयोग भारत में प्राचीन काल से होता था। यद्यपि इस समय अनेक नये मार्गो का भी उदय हुआ तथा प्राचीन समय के कुछ ज्यादा प्रमुख मार्ग कम महत्व के हो गये जबकि कुछ कम महत्वपूर्ण मार्गो की इस काल में अधिक महत्ता हो गयी।

अध्ययन के सुविधा की दृष्टि से पूर्वमध्यकालीन व्यापारिक मार्गो को दो भागों में बांटा जा सकता है–

(1) विदेशी व्यापार हेतु प्रयुक्त किये जाने वाले मार्ग

(2) देशीय या आंतरिक व्यापार हेतु प्रयुक्त किये जाने वाले मार्ग

(क) विदेशी व्यापारिक मार्ग

प्राचीन काल से ही भारत का विदेशों से व्यापारिक सम्पर्क रहा है। उत्तर भारत के व्यापारी विदेशों से व्यापार हेतु स्थलीय एवं समुद्री दोनों मार्गो का प्रयोग करते थे। वस्तुतः मार्गो की दिशा एवं महत्ता निर्धारण में भौगोलिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। प्राचीन काल से ही विदेशी व्यापारिक मार्गो के सम्बन्ध में उत्तर एवं दक्षिण भारत स्थितियां भिन्न-भिन्न रही है। भारत का दक्षिणी भाग प्रायद्वीपीय है जो दक्षिण में हिन्दमहासागर, पूर्व में बंगाल की खाड़ी एवं पश्चिम में अरब सागर से घिरा है। अत. यहाँ विदेशी व्यापार हेतु समुद्री मार्गो का प्रयोग आवश्यक है। जबकि उत्तरी भारत में गुजरात एवं बंगाल को छोड़कर जहां की सीमायें समुद्री है, शेष क्षेत्रों में भारत एवं दूसरे देशों के बीच स्थलीय सीमायें हैं। अतः यहां अधिकांश विदेशी व्यापार स्थल मार्गो, जो बीच-बीच में नदी मार्गो से भी जुड़े हैं, के द्वारा होता था। भारत का उत्तरी भाग जो मोटे तौर पर विन्ध्य पर्वत श्रृंखलाओं द्वारा सीमांकित किया गया है के गुजरात एवं बंगाल प्रदेशों से ही विदेशों से जलमार्गो द्वारा व्यापार संभव था।

[I] विदेशी स्थलीय मार्ग

भारत के उत्तरी एवं उत्तरी पूर्वी सीमाक्षेत्र जिसमें जम्मू एवं काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, सिक्किम, पश्चिमबंगाल का दार्जिलिंग क्षेत्र, अरूणाचल प्रदेश तथा असम के वर्तमान राज्यों की वर्तमान विदेशी सीमायें आती हैं, से होकर जाने वाले विदेशी स्थलीय व्यापारिक मार्ग, हिमालय की उत्तुंग पर्वत श्रृंखलाओं, घाटियों एवं दुर्गम जंगलों से घिरे होने के कारण

प्राचीनकाल से ही अपेक्षतया कम प्रयुक्त होते थे। जबकि उत्तरी–पश्चिमी भारत में हिमालय की अपेक्षतया नीची पर्वत मालाओं, अनेक दर्रों की विद्यमानता, नव्यनदियों की सुविधा, अरब सागर द्वारा फारस की खाड़ी आदि होते हुये व्यापार की सुविधा आदि कारणों से प्राचीन समय में पश्चिमी एशियाई, मध्य एशियाई एवं चीन आदि देशों का व्यापार मुख्यतया उत्तरी–पश्चिमी भारत से होकर जाने वाले पथों से होता था। उत्तरी देशों यथा चीन आदि जाने के लिये बंगाल स्थित ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से समुद्री मार्ग का भी अवलम्बन लिया जाता था।

पूर्वमध्यकालीन विदेशी स्थलीय मार्गो पर तत्कालीन परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव पड़ा। वस्तुतः स्थलमार्ग जिन क्षेत्रों से गुजरते हैं वहां के राज्यक्षेत्र के शासकों के रूख एवं राजनीतिक दशा से गहरे तौर पर प्रभावित होते हैं।

प्राचीन काल से ही यूरोपीय देशों का पूर्वी देशों से प्रचुर व्यापार होता था। किन्तु इस्लाम के उदय ने इसको प्रभावित किया। भूमध्यसागर के पार दो धर्मों के मानने वालों के अमित्रतापूर्ण सम्बन्धों में व्यापार को बहुत प्रभावित किया।[1] अरबों के मध्य एशिया में आक्रमण का एक कारण पूर्व एवं पश्चिम के स्थलीय मार्ग से होने वाले व्यापार पर नियंत्रण रखना था। इसी क्रम में उन्होंने भारत पर भी आक्रमण किया (712 ई0) एवं वे सिंध एवं मुल्तान पर अधिकार रखने में सफल हुये। उत्तरी पश्चिमी भारत से गुजरने वाले मार्ग पर वह 1022 ई0 सन् के आस–पास नियंत्रण रखने में सफल हुये।[2]

---

1. गोपाल, लल्लन जी, द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ0 105
2. वही

650 ई0 सन् से 750 ई0 सन् तक तुर्कों, तिब्बतियों, अरबों एवं चीनियों में मध्यएशिया पर अधिकार के लिये चतुष्कोणीय संघर्ष चल रहा था। इस समय तिब्बतियों की शक्ति का पर्याप्त विस्तार हो गया था। काश्मीर के राजवंशों ने तिब्बतियों की बंगाल तक अपना विस्तार करने की महात्वाकांक्षा पर रोक लगायी।

प्राचीन काल में भारत एवं विश्व से व्यापार में चीनी लोग मध्य एशियाई मार्गो का ज्यादा प्रयोग करते थे। किन्तु इस समय इसका स्थान धीरे-धीरे समुद्री मार्गो ने ले लिया।[1] इस समय चीन इन मार्गो के प्रयोग में ज्यादा रूचि नहीं लेता था। इसका कारण संभवतः यह था कि चीन इन क्षेत्रों पर नियंत्रण रखने में असमर्थ था। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत एवं चीन के बीच में समुद्री मार्ग ज्यादा प्रयुक्त होने लगा था। समुद्री मार्गो को प्रोत्साहन देना चीनियों की नीति थी।[2] इस समय भारत के अनेक क्षेत्रों से विदेशीय स्थलीय मार्ग जाते थे।

(1) उत्तरी पश्चिमी भारत से विदेशों को जाने वाले स्थल मार्ग

प्राचीन काल से ही तक्षशिला से होकर काबुल जाने वाला स्थलमार्ग भारत के लिये यूनान, पश्चिमी एशिया एवं चीन से होने वाले व्यापार के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण था। इस रास्ते द्वारा भारत का पश्चिम से मिलन होता था। वैदिक आर्य, कुरूष और दारा के ईरानी सिपाही, सिकन्दर और उसके

---

1. चाऊ-जु-कुआ, पृ0 201-2.
2. गोपाल, लल्लन जी पूर्वनिर्दिष्ट.

उत्तराधिकारियों के यवन सैनिक, शक, पहल्व, तुषार, हूण और तुर्क बल्ख के रास्ते इसी महापथ से भारत आये।[1]

काबुल से विभिन्न दिशाओं को मार्ग जाते थे। एक मार्ग बैक्ट्रिया (बल्ख) तक जाता था। बैक्ट्रिया से तक्षशिला वाले इसी मार्ग को कौटिल्य ने 'हेमवतपथ' कहा था।

ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में मध्यएशिया से वह व्यापारिक मार्ग गुजरता था जो चीन को रोमन साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों से जोड़ता था। जिसे 'सिल्क मार्ग' कहा जाता था क्योंकि चीन से होने वाले रेशम का समस्त व्यापार अधिकतर इसी मार्ग से होता था। इसी चीनी रेशम व्यापार में भारतीय व्यापारी मध्यस्थ के रूप में भाग लेते थे।[2]

इस पथ पद्धति में भूमध्यसागर से सुदूरपूर्व जाने वाले रास्तों में तीन रास्ते मुख्य थे जो कभी सामानान्तर और कभी एक दूसरे को काटते हुये चलते थे। इस सम्बन्ध में हम उस उत्तरी पथ को भी नहीं भूल सकते जो कृष्ण सागर के उत्तर से होकर कैम्पियन समुद्र होता हुआ मध्यएशिया की पर्वत श्रेणियों को पार करके चीन पहुंचता था। हमें लालसागर से होकर भूमध्यसागर तक के समुद्री रास्ते को भी नहीं भूलना होगा, जिसमें हिप्पालस द्वारा मौसमी हवा का पता लग जाने पर, जहाज किनारे-किनारे न चलकर बीच समुद्र में ही यात्रा कर सकते थे। लेकिन तीनों रास्तों में से मुख्य रास्ता उपर्युक्त दोनों पथ-पद्धतियों के बीच से होकर गुजरता था। यह सीरिया, ईराक

---

1. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पटना, पृ0 3.
2 झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास.

और ईरान से होता हुआ हिन्दुकुश पार करके भारत पहुंचता था और पामीर के रास्ते चीन।[1]

यद्यपि ईसा की चौथी शता0 के बाद चीन एवं रोम के बीच रेशम का व्यापार बन्द होने से इस रास्ते द्वारा होने वाले अत्यधिक लाभप्रद व्यापार में कमी आयी तथापि अब भी उत्तरी पश्चिमी भारत का पश्चिमी एवं मध्यएशियाई देशों से होने वाले व्यापार में यह मार्ग महत्वपूर्ण था। चीन से भी कुछ व्यापार इसी मार्ग से होता था। ह्वेनसांग ने सातवीं शताब्दी ई0 में भारत आने के लिये इसी मार्ग को अपनाया था। वह बल्ख (बैक्ट्रिया) से तक्षशिला गया था। जबकि वापसी यात्रा उसने कन्धार से होते हुये की थी।

इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में भी यह मार्ग व्यापारियों के लिये महत्वपूर्ण था। देश के भीतर तक्षशिला से ताम्रलिप्ति वाले पथ से जुड़ा होने के कारण समस्त उत्तर भारत के व्यापारी एवं यात्री, पश्चिमी देशों एवं मध्यएशिया को इस मार्ग से जा सकते थे। यद्यपि पूर्वमध्यकाल में चीन से जलमार्ग (समुद्र द्वारा) से ही अधिकांश व्यापार होता था तथापि इस मार्ग का प्रयोग बंद नहीं हुआ था। पश्चिमी एशिया के देशों से भी अब स्थलमार्ग के साथ-साथ अरब सागर, लालसागर, फारस की खाड़ी एवं भूमध्यसागर से, जो कि बीच-बीच में कहीं-कहीं स्थल मार्गो से भी जुड़ा था, होकर जाने वाले सामुद्रिक व्यापार में अभूतपूर्व विकास हुआ था। तथापि इसको आक्रमणकारी, व्यापारी एवं यात्री प्रयोग करते रहे। तेरहवीं शताब्दी में मंगोलों के आक्रमण से मध्यएशिया से होकर चीन को होने वाला व्यापार पूर्णतया बंद हो गया।[2]

---

1. मोतीचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 3
2. थापर रोमिला, भारत का इतिहास, दिल्ली, 1975, पृ0 190.

उत्तरी पश्चिमी भारत से मध्यएशिया होते हुये चीन को होने वाला व्यापार इस काल में कम होने के कई कारण थे।

(1) हूणों ने इस समय इस महापथ के मध्यएशिया को जाने वाले मार्ग के पश्चिमी आधे हिस्से पर अधिकार कर लिया था। युद्ध एवं आक्रमण से उत्पन्न अव्यवस्था से व्यापार को धक्का पहुंचा।

(2) इस्लाम के उदय से अरबों में एक नया जोश आ गया। उन्होंने पूर्व एवं पश्चिम के मध्य के व्यापारिक मार्ग पर नियंत्रण रखने की कोशिश की 712 ईस्वी सन् के भारत पर अरब आक्रमणों से अरबों ने सिंध एवं मुल्लतान अधिकार कर लिया था। उत्तरी पश्चिमी भारत से होकर गुजरने वाले मार्ग पर उन्होंने 1022 ईस्वी सन् पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था।[1] किन्तु युद्धाभियानों से शुरू में इस व्यापार को ठेस लगी।

(3) ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में रेशम के व्यापार में भारतीय व्यापारी मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। वे चीन से आने वाला रेशम खरीद कर उसे रोमन व्यापारियों को पुनः बेचकर प्रभूत लाभ अर्जित करते थे, इस व्यापार में इस काल में रोमन साम्राज्य का विभाजन एवं वहाँ हूणों के आक्रमण होने, रेशम के कीड़ों का वहां पालने की शुरूआत होने, जहाजरानी का ज्यादा विकास होने से पश्चिमी देशों को व्यापार हेतु जलमार्गों

---

1. गोपाल लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 105.

का अधिक प्रयोग होने से, धक्का लगा। अतः भारतीय व्यापारियों की इस मार्ग में रूचि पूर्व की भांति नहीं रह गयी।

(4) इस मार्ग पर पूर्वमध्यकाल में सुरक्षा का भी अभाव था क्योंकि अरब, तिब्बत तथा चीन में मध्यएशिया पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिये संघर्ष चल रहा था। मध्य एशिया पर चीन के नियंत्रण के अभाव में व्यापारियों ने अन्य मार्गों को अपनाया।[1]

(5) मध्य एशियाई मार्गों पर अपनी असमर्थता के कारण चीन की नीति समुद्री व्यापार को प्रोत्साहन देना बन गयी। चाऊ-जु-कुआ कहता है कि समुद्री यात्रा ज्यादा सस्ती पड़ती है और बौद्ध यात्रियों ने भारत आने के लिये समुद्री मार्ग का अवलम्बन किया।

(6) पूर्वमध्यकाल तक समुद्री व्यापार में अभूतपूर्व विकास हो चुका था। चीन से भारत तक समुद्री व्यापार ज्यादा सस्ता एवं लाभदायक होता था।

अबू जैद ट्रांस-ओक्सियाना एवं चीन के बीच के कठिन मध्य एशियाई मार्ग का विवरण देता है। वह कहता है कि यह दो महीने में पार किया जाता था जो कठिन मरूस्थल एवं बालू भरे प्रदेशों से होकर जाती थी। कुछ साहसी यात्री कस्तूरी से पूर्ण पात्र (पीपा आदि) लेकर पैदल ही समरकन्द से खानफू (कैण्टन) जाते थे पर उनकी संख्या विरल थी।[2] **मत्वालिन** भी मध्य एशिया मार्ग से खोतन से चीन जाने का वर्णन करता है। चीन से बहुत से बौद्ध यात्री इसी मार्ग से होकर भारत आये।

---

1. झा एवं श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 388.
2 इब्न, पृ0 7576

सिंध पर मुस्लिम अधिकार के पश्चात् भारत का अरब ईरान, ईराक आदि पश्चिमी एशियाई देशों से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। कॉरवां काबुल, बमियान आदि होते हुये खुरासान एवं वहॉं से सिंध तक नियमित रूप से कांरवॉं आया-जाया करते थे। गजनी एवं कन्धार होते हुये जाबुलिस्तान एवं सिजिस्तान से सिंध का सम्पर्क बराबर बना रहता था।[1] **अलबरूनी** ने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में इस मार्ग पर प्रकाश डाला है। वह कहता है कि 'हम अपने देश (तुर्किस्तान) से नैमरोज, सिजिस्तान आदि क्षेत्रों से होते हुये सिंध पहुंचे एवं फिर काबुल होते हुये हिन्द पहुंचे।[2]

उ0प0 भारत से इस महापथ के अतिरिक्त अन्य मार्ग भी निकलते थे। जिससे भारत का विदेशों से व्यापार होता था।

(2) असम, बर्मा एवं सिक्किम से चीन जाने वाला स्थल मार्ग

पूर्व मध्यकाल में मध्य एशियाई मार्गो पर चीनी नियंत्रण के अभाव में व्यापारियों ने अन्य स्थल मार्गो को अपनाया। असम, बर्मा, सिक्किम एवं चुंबी घाटी से होकर दक्षिणी चीन तक अनेक मार्ग थे।[3] इनमें से कुछ मार्ग प्राचीन काल से ही विद्यमान थे किन्तु पूर्वमध्यकाल में इनका महत्व बढ़ गया।

(1) चीनी राजदूत **चांग-कियेन** ने यह इंगित किया है कि 126 ई0पू0 में एक मार्ग उत्तरी बर्मा से दक्षिणी चीन पहुंचता था एवं अंततः वहां से बैक्ट्रिया जाता था।[4] पूर्वमध्यकाल में उत्तरी बर्मा को पार करके जाने वाला मार्ग ज्यादा प्रयुक्त होने लगा।

---

1. इलियट और डाउसन, पृ0 467.
2. अलबरूनीज इण्डिया (सपाऊ), भाग 1, पाठ 18, पृ0 198.
3. झा एवं श्रीमाली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 388.
4 पी0सी0 बागची, इण्डिया एण्ड चाइना पृ0 7-16.

किया-तान (785-805 ईस्वी सन्) ने अपने विवरण में टोंकिन से कामरूप जाने वाले मार्ग का विस्तृत विवरण दिया है जो निरंतर प्रयोग में आता था। यह मार्ग यून्नानसेन, यूनानफाओ, एवं तलिफो से होता हुआ जाता था। पश्चिम की तरफ जाते समय यह सालविन एवं फिर चाउ-को-लेंग जाता था। चाउ-को-लेंग से मुख्य रास्ता सि-ली, ताउमिन (पैगन) प्रोन एवं अराकान पहाड़ियाँ होता हुआ अराकान पर्वत एवं फिर कामरूप पहुंचता था। एक छोटा रास्ता चाउ-को-लेंग के पश्चिम को जाता हुआ तेंग-चो-ओंग पहुंचता था एवं फिर ली-शोई (भामो के निकट इरावदी की पहाड़ियाँ) से छोटा हुआ मागेओंग नदी पार करके नागैनन्सी शहर से होता हुआ, अंततः कामरूप पहुंचता था।[1]

चाऊ-जु-कुआ उस परम्परा का वर्णन करता है जिससे कियो-ची (टोंनकिंग) के उत्तर में स्थित ताली (यून-नान) से व्यक्ति पश्चिम में वांग-शो-चॉंग (मगध) को चालीस दिनों से भी कम समय में पहुंच जाता था। वह चाऊ-जु-कुआ को उद्धृत करते हुये कहता है कि अन्नाम से एक स्थलीय मार्ग तिथेन-चु (भारत) को जाता था।

एक कठिन मार्ग हिमालय के दर्रों से होकर प्राचीन सिक्किम एवं चम्बा घाटी से जाता था। जो तिब्बत एवं चीन को जाता था।

(3) भारत से तिब्बत होकर चीन को जाने वाले स्थल मार्ग

भारत के बिहार से तिब्बत एवं वहाँ से चीन को स्थलीय मार्ग जाया करते थे। बहुत से बौद्ध भिक्षु इसी मार्ग से भारत आये। यह मार्ग नेपाल होकर जाता था। इसके द्वारा होने वाले व्यापार से नेपाल आर्थिक एवं कलात्मक विकास हुआ। तबकाते नासिरी इस मार्ग द्वारा घोड़े लाये जाने का

---

1 उद्धृत, पी0सी0 बागची, वही, पृ0 18.

वर्णन करता है। कामरूप एवं तिब्बत के बीच 35 घाटियों से होकर व्यापार होता था। इसी से बंगाल में लखनावती में घोड़े लाये जाते थे।[1] तिब्बत एवं असम से चीन को व्यापार होता था।

[II] विदेशी समुद्री मार्ग

पूर्वमध्यकाल में भारत का विदेशों से अधिकांश व्यापार समुद्री मार्गों द्वारा होता था। प्रशान्त महासागर एवं हिन्दमहासागर के बीच की व्यापारिक गतिविधियों में अफ्रीका एवं चीन के बीच बहुत से देश, जिसमें भारत भी शामिल था, भाग लेते थे।

वस्तुतः इस काल में भारत के समुद्री व्यापार के स्वरूप की सम्यक् जानकारी इन दोनों महासागरों के बीच चलने वाले व्यापार का समग्र रूप से अध्ययन करके प्राप्त की जा सकती है। पहले इस व्यापार में फारसी, भारतीय, इण्डोनेशियाई एवं श्रीलंकाई लोग भाग लेते थे। किन्तु इस काल में ईस्लाम के उदय के पश्चात् अरबों ने फारसियों की जगह ले ली।[2] पश्चिम में उम्मैया खलीफाओं एवं पूर्व में चीन के तांग वंश के समय इस व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। किन्तु जैसा कि किया-तान के विवरण से ज्ञात होता है कि ई0 सन् 785 से 805 के बीच चीनी लोग कैण्टन (चीन) से फारस की खाड़ी तक के समुद्री मार्ग से परिचित नहीं थे।[3] वे क्विलोन तक ही रास्ता जानते थे।[4]

यद्यपि अरबों ने चीनी जहाजों का उल्लेख किया है किन्तु इसका तात्पर्य चीन में निर्मित जहाजों से है न कि चीनियों के द्वारा लाये गये उनके

---

1. इलियट और डाउसन, II, 312.
2. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 119
3 चाऊ-जु-कुआ, पृ0 9-10.
4. वही.

स्वयं के जहाजों से है। इसी तरह अरब वाले, कोरिया एवं जापान देशों से परिचित थे किन्तु वे सीधे वहां की यात्रा नहीं करते थे।[1]

इस चीनी-अरबी व्यापार का केन्द्र मलयप्रायद्वीप का केदाह बन्दरगाह था। इस व्यापार में इण्डोनेशियाईयों की महत्ता दसवीं सदी के अरब आख्यानों से ज्ञात होती है।

दसवीं शताब्दी ई0 के पश्चात चीनी शासन ने व्यापार की उन्नति हेतु विशेष प्रयास किया एवं दूतमण्डलों को दूर-दूर देशों में भेजा गया। इस समय दक्षिणी समुद्रों में अरब अत्यंत प्रभावशाली थे। उत्तरी पश्चिमी भारत में तुर्को के आक्रमण के कारण यह क्षेत्र निरापद नहीं रह गया था। अतः व्यापारियों ने चीन एवं पश्चिम के देशों से व्यापार हेतु समुद्री मार्ग का अवलम्बन करना उचित समझा। दक्षिणी चीन में विदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ रही थी। व्यापारियों ने इस मांग की पूर्ति हेतु समुद्री मार्गो को अधिक सुरक्षित पाया।[2]

धीरे-धीरे फारस की खाड़ी से दक्षिणी चीन का समुद्री मार्ग बहुत महत्वपूर्ण हो गया। इस व्यापार में भारतीयों ने मध्यस्थ की भूमिका अदा करके पर्याप्त लाभ अर्जित किया।

पश्चिम से भारत एवं चीन को मार्ग या तो फारस की खाडी या लाल सागर से होकर जाते थे। किन्तु फारस की खाड़ी का रास्ता अधिक सुरक्षित था।[3]

फारस की खाड़ी में व्यापार के केन्द्र सिरफ, किश, पुराना होरमुज एवं नया होरमुज थे। लालसागर में अल-फस्तत व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र एवं

---

1 चाऊ-जु-कुआ पृ0 17-18
2. वाल्टर्स ओ0डब्ल्यू0 अर्लीइण्डोनेशियन्स कामर्स, पृ0 137
3 रोनाल्ड ब्रेडेल, जर्नल ऑफ द मलाया ब्रांच ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, 20, II. 1947, पृ0 11.

अदन एक प्रमुख बन्दरगाह था। ग्यारहवीं एवं बारहवीं शताब्दियों में फारस की खाड़ी वाला मार्ग ज्यादा महत्वपूर्ण था। नवीं एवं दसवीं शताब्दी में भारत एवं चीन को सिरफ से जाने वाले जहाज दो मार्गों का अवलम्बन करते थे।[1] ओमन तट पर स्थित सुहर एवं मस्कट के बन्दरगाहों पर पानी लेने के बाद भारत के क्विलोन तक जाते थे। फिर वहाँ से लम्बी चीन यात्रा पर निकलते थे। दूसरा मार्ग तटीय मार्ग था जो किश, पुराना होरमुज, तिज (मकरान) देवल एवं सिंध के अन्य बन्दरगाहों से होते हुये नीचे गुजरात तट पर क्विलोन को तक जाता था।

क्विलोन से जहाज श्रीलंका एवं वहां से पाकजलसंधि से होते हुये बंगाल की खाड़ी में जाते थे एवं वहां से वे दक्षिणी पूर्वी-एशिया एवं चीन जाते थे या वे सीधे श्रीलंका से निकोबार द्वीपसमूह होते हुये मलाया के केदाह में जाते थे एवं अंततः चीन के कैण्टन में पहुंचते थे।

सुंगकाल (960 ई0-1279 ई0) में चीनियों का चीन से समस्त भारत तक के समुद्री क्षेत्र के व्यापार पर नियंत्रण हो गया। इब्नबतूता (चौदहवी शती) कहता है कि कालीकट एवं अन्य मालाबार तट से चीन को समुद्री यात्रा केवल चीनी जहाजों में ही होती थी। प्रतीत होता है कि मालाबार तट चीनियों की वह दूरस्थ सीमा थी, जहां तक वे जाते थे।

इस प्रकार इस समय हिन्दमहासागर का व्यापार मुख्यतः अरबों एवं चीनियों द्वारा नियंत्रित था। अरबों का आधिपत्य क्विलोन से फारस की खाड़ी तक के क्षेत्र पर था जबकि बाद में चीनियों की महासागर के पूर्वी भाग में स्थिति सुदृढ़ हो गयी थी।

---

1. रोनाल्ड ब्रेडेल, ज0म0ब्रां0रॉ0ए0सो0, 23, I, 1950, पृ0 21.

इस समय के अरबी एवं चीनी स्रोतों में भारतीय जहाजरानी का उल्लेख नगण्य है। इस समय भारतीय जहाज निर्माण की तकनीक एवं संचालन में अरबों एवं चीनियों से पिछड़े हुये थे।[1] इसके कई कारण थे एक, भारतीय जहाज चीनियों के जहाज से छोटे होते थे।[2] दूसरा, इन जहाजों की गति चीनी एवं अरबी जहाजों की अपेक्षा कम थी। तीसरा इस समय भारतीय राजा अपने समुद्री हितों की रक्षा में समर्थ नहीं थे। चौथा, इस समय कई राजा भी जहाजों की लूट को प्रोत्साहित करते थे। पांचवा, इस समय समुद्री डाकुओं का खतरा बहुत बढ़ गया था। छठा इस समय कुछ विधिग्रन्थों द्वारा समुद्र यात्रा को निन्दनीय बताया गया।

पूर्वमध्यकाल में चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों, श्रीलंका एवं पश्चिम के देशों के साथ समुद्री मार्गों द्वारा पर्याप्त मात्रा में व्यापार होता था।

(1) चीन के साथ जलमार्ग द्वारा व्यापार

भारत एवं चीन के व्यापारिक संबंध अत्यन्त प्राचीन है। किन्तु ईसा की प्रारम्भिक सदियों में अधिकांश व्यापार उत्तर पश्चिम भारत से मध्य एशिया एवं वहां से चीन को जाने वाले स्थल मार्गों से होता था। कालान्तर में चीन के साथ समुद्रों द्वारा होने वाले व्यापार की मात्रा में वृद्धि होती गयी। गुप्त युग में भारत एवं चीन के बीच जहाज आते जाते रहते थे। एक व्यापारिक जहाज से ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से ही फाह्यान चीन वापस गया था।[3]

सातवीं शताब्दी में चीनियों ने जहाजरानी के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता अर्जित कर ली थी। चीनी जहाज दूसरों की अपेक्षा बहुत उत्तम, बड़े एवं

---

1. बाशम ए0एल0 आर्टस् एण्ड लेटर्स, 23, पृ0 69.
2. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 125.
3. लैगे, पृ0 111-114.

सुरक्षित होते थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि लोग चीनी जहाजों में ही जाने को प्राथमिकता दे।[1] समुद्री डाकुओं से संघर्ष हेतु छहः सौ यात्रियों के अतिरिक्त चार सौ सशस्त्र रक्षकों की जहाजों पर व्यवस्था की जाती थी।[2]

ग्यारहवीं शता0 के आसपास चीनियों द्वारा मारीनर कम्पस के आविष्कार से इसमें और गति मिली। विदेशों के विषय में बढ़ती जानकारी एवं शासक वर्ग के प्रोत्साहन से चीनी नौकावहन में महान् प्रगति हो गयी। अब भारत का चीन से समुद्री मार्गो से व्यापार स्थल मार्गो की अपेक्षा ज्यादा सुगम हो गया।

इस समय चीन का समुद्री व्यापार अरबों एवं अफ्रीका तक के देशों से होता था किन्तु वे सीधा इस व्यापार को स्वयं नहीं करते थे। अपितु पारसी, भारतीय, चीनी एवं श्रीलंका के व्यापारियों द्वारा इसमें भाग लिया जाता था। धीरे-धीरे पारसियों का हिस्सा बढ़ता गया। किन्तु इस्लाम धर्म के उदय के पश्चात् पारसियों की जगह अरब लोग लेते गये।[3] किया-तान के विवरण (आठवीं नवीं शता0) से ज्ञात होता है कि चीनी लोग क्विलोन के पश्चिम फारस की खाड़ी तक के मार्ग से अनजान थे।[4] यद्यपि अरबी भूगोलवेत्ताओं द्वारा चीनी जहाजों का उल्लेख हुआ है किन्तु ये जहाज चीन में मात्र निर्मित प्रतीत होते है। चीनी लोग यहां तक स्वयं नहीं आते थे।[5] बारहवीं शता0 के आसपास चीनी लोग अदन एवं सिरफ के नाम से अनजान थे।

इसी प्रकार अरब लोग भी सीधे चीन की यात्रा नहीं करते थे। व्यापार का केन्द्र इस समय (नवीं शताब्दी के आसपास) मलावा प्रायद्वीप के पश्चिम में

---

1. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 124
2. वही, पृ0 119.
3 चाऊ-जु-कुआ, पृ0 7-8
4. गोपाल, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 120.
5. वही

स्थित केदाह था जहां चीन एवं अरब देशों से आने वाले जहाज रूकते थे। पूर्वमध्यकाल में भारत का समुद्रों के माध्यम से होने वाला विदेशी व्यापार, केवल सेतु व्यवसाय था, जो कि हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के बीच था। हवेनसांग श्रीलंका से सुमात्रा, जावा, हिन्दचीन एवं चीन तक के सामुद्रिक मार्गों को नहीं जानता था। परन्तु यह स्थिति लम्बे समय तक नहीं बनी रही। सातवीं शती के अंत में चीनी यात्री जहाजों का पर्याप्त प्रयोग करने लगे एवं वे कैण्टन (चीन स्थित बन्दरगाह) से पश्चिमी जावा एवं पैलम्बेग (सुमात्रा) को नियमित आने लगे। सामान्यतः यहां यात्री चीनी जहाजों को छोड़ देते थे। निकोबार होते हुये श्रीलंका जाने के लिये वे दूसरा जहाज लिया करते थे। फिर ताम्रलिप्ति के लिये पुनः दूसरे जहाज पर बैठ्ते थे। चीन से श्रीलंका की यात्रा में लगभग तीन माह का समय लगता था। जाड़े में जबकि उत्तरी–पूर्वी हवायें बहती थीं, जहाज चीन से भारत को चलते थे। अप्रैल से अक्टूबर के बीच, जब दक्षिणी–पश्चिमी मानसून का समय होता था जहाज भारत से चीन को जाते थे।[1]

भारतीयों की समुद्र यात्रा सम्बंधी विवरण कुछ भारतीय साहित्य में भी प्राप्त होते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरी की समराइच्चकहा में इससे सम्बन्धित कथा जिसमें प्राप्त होती है।[2] जिसमें धन, उसकी पत्नी एवं धन के मित्रनन्द की समुद्री यात्रा वर्णित है।

वसुभूति एवं कुमार की कथा से भी इस काल की जहाजरानी पर प्रकाश पड़ता है।[3] वसुभूति एवं कुमार ताम्रलिप्ति से सुर्वभूमि दो माह में पहुंचे। वहां से वे जहाज से श्रीलंका गये।[4]

---

1. इब्नबतूता, पृ0 8–9
2. समराइच्चकहा, बम्बई, 1938 पृ0 264 से आगे.
3 वही
4. वही.

धीरे-धीरे चीनियों द्वारा सीधे प0 एशिया तक के देशों में व्यापार किया जाने लगा। चीनी शासकों ने व्यापार में वृद्धि हेतु दूर देशों को दूत भेजे। बारहवीं शता0 तक चीन सीधे अरबों एवं अन्य विदेशी व्यापारियों से व्यापार करने लग। उन्होंने द0पू0 देशों एवं भारत को जाने वाले मार्गों पर नियंत्रण कर लिया। इससे दक्षिणी समुद्रों पर अरबों के एकाधिकार को धक्का लगा। इब्नबतूता के समय चीनियों ने कालीकट एवं दूसरे मालाबार बन्दरगाहों पर जाने वाले मार्गों पर मजबूती से कब्जा कर लिया था।

8वीं शता0 में कैंटन के बन्दरगाह में भारत, ईराक एवं अरब के जहाजों की उपस्थिति का विवरण प्राप्त होता है।[1] धीरे-धीरे भारत एवं चीन का सीधा व्यापार कम हो रहा था।

चाउ-कू-फे के वर्णन से चीन को निर्यात करने वाले देशों में अरब, जावा पैलेम्बेग का नाम मिलता है किन्तु भारत का नहीं।[2]

राजेन्द्र चोल की केदाह, पालेमबेंग, नीकोबार टापू, जम्बी, उत्तरी सुमात्रा एवं बर्मा पर आक्रमण का कारण चीन के साथ बाधित हुये व्यापार का पुनः संचालन था। इससे ज्ञात कि द0 भारत का चीन के साथ व्यापार जारी था।

(2) पश्चिमी देशों से जलमार्ग द्वारा व्यापार

भारत एवं अरब देश के बीच अरब सागर है। प्राचीन काल से ही भारत एवं पश्चिमी देशों के बीच व्यापारिक सम्बंध थे। इस समय भारत का प्रमुख व्यापारिक भागीदार पश्चिमी देश अरब था। एक व्यापारिक मार्ग अरब से मिस्र और वहां से लाल सागर के किनारे-किनारे चलकर अफ्रीका चला जाता था। कुछ लोग ईरान की खाड़ी पारकर विलोचिस्तान के बन्दरगाह तेज में

---

1 शास्त्री, के0ए0एन0, फारिन नोटिसिज, पृ0 19
2. चाउ-जु-कुआ पृष्ठ-23

उतरते थे। वहां से सिंध के बन्दरगाह देवल पहुंचते थे। देबल से कठियावाड़ के बन्दरगाह थाना एवं खम्भात बन्दरगाह जाते, वहां से कुछ अण्डमान चले जाते थे और शेष बंगाल की खाड़ी में से होकर वर्मा और स्याम होकर चीन तक जाते और व्यापारिक सामान लेकर उसी मार्ग से वापस भी लौट जाते थे।[1]

इस्लाम के उदय से यह सम्बन्ध और बढ़ा। 762 ई0 में जब अरब साम्राज्य की राजधानी दमिश्क से बगदाद आई तो भारत और चीन से उसका सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया। अब भारत के साथ व्यापार और भी बढ़ गया।[2] दूसरा व्यापारिक मार्ग फारस की खाड़ी से था। इस पर इस समय अरबों का ही प्रभुत्व था। ईराक पर अरबों का अधिकार होने के पूर्व भारत हेतु फारस की खाड़ी का सबसे प्रमुख बन्दरगाह उवल्ला था। भारत एवं चीन से पश्चिमी देशों को जाने वाले जहाज यहां रूकते थे।[3] अरबों के उदय के पश्चात् बसरा यहां का महत्वपूर्ण बन्दरगाह हो गया। सिन्ध पर अरबों का अधिकार हो जाने के कारण यह भारत आने-जाने का केन्द्र बन गया था।[4] सौराफ यहां का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। कैस, जो फारस की खाड़ी में उमान के पास एक टापू था, के बन्दरगाह ने बाद में सौराफ की जगह ले ली थी। इस मार्ग के विषय में सुलेमान कहता है कि पहले बसरे और उमान से सब पदार्थ सौराफ में आ जाते है और यहां सैराफ़ में वह जहाजों पर लादे जाते है। यही से पीने का मीठा पानी लेते हैं। यहाँ से लंगर उठता है तब मसकत पहुंचकर लंगर डालते हैं। इसके बाद जहाज यहां से भारत के लिये चल पड़ते हैं और

---

1. सुलेमान, नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ0 40.
2. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग प्प्ए खण्ड 2, पृ0 212.
3. अल - अकवारूतवाल अबू हनीफा, दीनवरी, पृ0 133
4. भारत-अरब सम्बन्ध पृ0 40.

एक महीने में कोलममली पहुंचते हैं। कोलममली में जहाज बनाने और उनके मरम्मत करने का कारखाना है। वहीं से मीठा पानी भी ले लिया जाता है।[1]

अरब व्यापारी समुद्री यात्रायें अनुकूल समय होने पर करते थे। **अबूजैद सराफी** कहता है कि वर्षा के दिनों में जहाज नहीं चलते हैं। भारत वाले उन दिनों खेतीबारी या और कोई व्यवसाय करते हैं। इसी वर्षा पर उनका निर्वाह होता है। इसी ऋतु में चावल होता है जो उनका भोजन है।[2]

इस समय भारतीय सामान्यतया बसरा तक ही जाते थे। इसके बाद उनकी वस्तुयें किश एवं हरमूज अन्य देशों के लोगों द्वारा ले जायी जाती थीं। संभवतः अरब व्यापारी उन्हें ईरान से आगे नहीं जाने देते थे।[3] इण्डोनेशिया के व्यापारी किलो तक आते थे।[4] वहां से उत्तर की ओर स्थित पश्चिम के बन्दरगाहों का व्यापार अरब व्यापारियों के हाथ में था।[5]

(3) दक्षिण पूर्वी द्वीप समूह के देशों के साथ जलमार्ग से व्यापार

दक्षिण पूर्वी एशिया के द्वीप समूह पूर्व मध्यकाल में जलयानों के लिये आकर्षण का केन्द्र थे। इन द्वीपों की स्थिति प्रशान्त महासागर एवं हिन्दमहासागर के मिलन क्षेत्र में है। यहां प्राकृतिक बन्दरगाहों की सुलभता है। पूर्वमध्यकाल में अधिकांश चीनी व्यापारियों की व्यापार सीमा यहीं समाप्त होती थी। वे यहां पर अन्य विदेशी व्यापारियों के साथ सामान का क्रय-विक्रय करके वापस चीन को चले जाते थे। पश्चिम एशिया एवं भारत से आने वाले जलयान, जो चीनियों एवं इन क्षेत्रों के साथ व्यापार के इच्छुक थे यहीं पर

---

1. सुलेमान सौदागर का यात्रा विवरण, पृ0 15-16
2. अबूजैद सराफी का यात्रा विवरण, पृ0 116.
3. ओमप्रकाश-प्रा0भा0का सा0 एवं आ0 इतिहास पृ0 127.
4 चाऊ-जु-कुआ, पृ0 88-89.
5. इब्नहौकल इलिएट एव डाउसन पृष्ठ 34-36.

यथेष्ट सामग्री का क्रय एवं स्वदेशी वस्तुओं का चीनियों एवं इण्डोनेशियाई लोगों को विक्रय करते थे।

दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों से भारतीय व्यापारियों के सम्बन्धों की जानकारी अनेक भारतीय ग्रन्थों से प्राप्त होती है। **क्षेमेन्द्र** की रामायणमंजरी में समुद्रद्वीप का वर्णन आया है जो सुमात्रा द्वीप को इंगित करता है।[1] **भविष्यतकथामंजरी** में व्यापारियों के कत्तहद्वीप, तथा समराइच्चकहा में सुवर्णभूमि जाने का वर्णन मिलता है।

वृहतकथाश्लोकसंग्रह एवं कथाकोष में व्यापारियों के सुवर्णद्वीप जाने का वर्णन प्राप्त होता है। जबकि हरिषेण की वृहत्कथाकोष में व्यापारियों के सुवर्णद्वीप एवं रत्नद्वीप जाने का वर्णन प्राप्त होता है। कथासरित्सागर में नारिकेलाद्वीप, कत्तहाद्वीप, कर्पूरद्वीप, सुवर्णद्वीप एवं सिहंलद्वीप को व्यापारियों के जाने का प्रसंग मिलता है। **तिलकमंजरी** में द्वीपान्तर पर नौसैनिक आक्रमण किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। **उक्तिव्यक्तिप्रकरण** के यह प्रसंग कि एक अध्यापक ने वाराणसी से फल मंगाये थे सिद्ध करता है कि इन क्षेत्रों में जल्दी-जल्दी जाना-आना होता था।[2]

भारत के ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से इन द्वीप समूहों को बहुत जहाज जाते थे। बौद्ध विद्वानों, द्वीपंकर एवं धर्मपाल ने बंगाल से सुवर्णद्वीप जाने के लिये इसी बन्दरगाह को अपनाया। वैजयन्ती बन्दरगाह से दक्षिणी पूर्वी एशियाई इण्डोनेशियाई क्षेत्रों के जाने के विषय में जानकारी समराइच्चकहा से प्राप्त होती है।[3]

---

1. आर0सी0 मजूमदार, सुबर्णद्वीप, ♡ 54-55
2 उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ0 19 1 33
3 मोती चन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 199 इस बन्दरगाह की पहचान नहीं हो पायी है।

पूर्वमध्यकाल से पर्याप्त मात्रा में गुजराती व्यापारियों के जावा जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक पारंपरिक गुजराती कविता में कहा गया है कि जो जावा जाता है वह कभी वापस नहीं लौटता है। यदि वह संयोग से वापस लौट जाता है तो अपने साथ इतना धन लाता है कि दो पीढ़ियां आराम से रह सकें।[1]

(4) श्रीलंका के साथ जलमार्ग से व्यापार

श्रीलंका के साथ भारत के व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध अत्यंत प्राचीन काल से ही थे। चूंकि श्रीलंका की स्थिति द्वीपीय है अतः इससे जलमार्गों से ही सम्पर्क संभव था। भारत के विभिन्न भागों से श्रीलंका को जहाज जाते थे। **कॉसमॉस** ने लिखा है कि भारत के प्रत्येक क्षेत्र से श्रीलंका को जहाज जाते थे।[2] तांग काल के मध्य में भी विदेशी चीनी स्रोतों से ज्ञात होता है कि इस समय सबसे बड़े जहाज श्रीलंकावासियों के होते थे।[3] श्रीलंका की भौगोलिक स्थिति भी जहाजों के आवागमन को आकर्षित करती थी। श्रीलंका से मलाया को सीधे आवागमन मानसून की दिशा होने से सुविधाप्रद रहता था।[4]

फाह्यान के विवरण से ही जहाजों के ताम्रलिप्ति से श्रीलंका एवं वहां से सुमात्रा जाने के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।[5] यह उस समय तक जारी रहा जब इत्सिंग ने भारत की यात्रा की। कॉसमॉस ने पूर्व एवं पश्चिम के बीच पारगमन व्यापार में श्रीलंका की केन्द्रीय स्थिति का वर्णन किया है।[6]

---

1 ए0के0 फोर्बस, रासमाला.
2. कॉसमॉस, 11 पृ0 363-65.
3 जरनल ऑफ द मलाया ब्रांच आफ द रॉयल एशियारिक सोसाइटी 31, भाग 2, पृ0 106
4. गोपाल, लल्लनज, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 122.
5. लेगे, पृ0 100
6. क्रिश्चिन टोपोग्राफी, पृ0 365.

जैन ग्रन्थ समराइच्चकहा में वर्णन आया है कि सुवर्ण भूमि के श्रीपुरा से सिंहलद्वीप को जहाज रोजाना जाया करते थे।

भारतीय जहाजरानी

पूर्वमध्यकाल में अरब एवं चीन के मुकाबले भारतीय नौकावहन गतिविधियों में गिरावट दृष्टिगत होती है। इसके कई कारण थे।

(1) इन देशों की तुलना में इस समय भारतीय लोग नौसंचालन एवं जहाज निर्माण की गतिविधियों में पिछड़े हुये थे।[1] भारतीय जहाज चीनी जहाजों की तुलना में बहुत छोटे थे।[2] भारत में भी इस समय जहाजनिर्माण जारी था। परमार राजा भोज की युक्तिकल्पतरू से (ग्यारहवीं शता0) भारत में बने जहाजों पर प्रकाश पड़ता है।[3] इससे जहाजों को दो वर्गों में बांटा गया हैः-1. सामान्य एवं 2. विशेष। सामान्य प्रकार लम्बाई चौड़ाई आदि आधारों पर दस भागों में विभक्त है। इसमें नदियों में चलने योग्य नावों का वर्णन है। विशेष प्रकार में समुद्र में चलने योग्य नौकायें शामिल हैं। ये दो भागों में बंटी है। जिसमें एक लम्बाई में विशाल है जबकि दूसरे प्रकार की नौकाओं की ऊंचाई ज्यादा थी। ये दोनों भी कई विशेषताओं के आधार पर 15 वर्गों में बांटी गयी है। इसी ग्रन्थ में यह सलाह दी गयी है कि समुद्री नावों में तली के पटरों को लोहे की कील से नहीं जोड़ा जाना चाहिये। क्योंकि लोहे की कीलें चुम्बक वाली चट्टानों के पास जहाज के लिये खतरनाक हो सकती हैं।[4]

---

1 बाशम एल0 आर्टस् एण्ड लेटर्स, 23, पृ0 69
2 मार्कोपोलो, युले, ण्ण पृ0 39
3. उद्धृत आई0सी0 शास्त्री सम्पादित, पृ0 23
4 वही

लोहे की कील न प्रयुक्त करने के सिद्धांत का भारतीय एवं अरबी जहाजों में पालन किया गया था।[1] जहाज के टुकड़ों को जोड़ने के लिये नारियल आदि के तन्तुओं का प्रयोग होता था। ये अधिक उपयोगी सिद्ध होते थे।

हेमचन्द्र की अभिधानचिन्तामणि में जहाजों के पाँच प्रकार गिनाये गये हैं। संचालक को कर्णधार या नाविक कहा गया है।[2] कुवलयमाला से यह संकेत मिलता है कि संकट के समय में सुरक्षा की दृष्टि से द्रोणी आदि छोटी नौकार्यें बड़े जहाजों में रखी जाती थीं। भारतीय तकनीक को अरबों ने अपनाया एवं वे अधिक कुशल जहाज निर्माणकर्ता एवं संचालक हो गये। मार्कोपोलो कहता है कि होरमुज के जहाजों में लोहे की जगह भारतीय नारियल के जूटों से बने तंतु प्रयुक्त होते थे।[3] अरबों के जहाज हेतु टीक एवं अन्य बहुत चीजे जो नरियल वृक्ष से प्राप्त होती थीं, भारत से अरब को जाती थी। इस प्रकार मूलतः भारतीयों से तकनीक सीख कर अरब पारंगत हो गये एवं ज्यादा कुशल हो गये।

इस समय भारत में बहुत से कुशल नौकाचालक थे। किन्तु अरबों से प्रतिद्वन्दिता के कारण भारत के जहाजों में भारतीय व्यापारियों द्वारा उनको कम अवसर प्राप्त थे। अरब व्यापारियों ने उन्हें वह अवसर दिया। अलबरुनी[4] एवं मार्कोपोलों[5] के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि भारतीयों को नौकावहन के विषय में अच्छी जानकारी थी।

---

1. हारुनी, जी0एफ0, अरब सीफारिंग, पृ0 91-93.
2. अभिधान चिन्तामणि, III, 539-40.
3. मार्कोपोलो, I. पृ0 108 एव 117
4. अलबरुनीज इण्डिया I, पृ0 208
5 मार्कोपोलो, II. पृ0 389-392.

(2) भारतीय जहाजों की गति भी चीनी एवं अरबी जहाजों की तुलना में कम होती थी।[1]

(3) चीनी जहाज यात्रा हेतु दिशाज्ञान के लिये कम्पस का प्रयोग करने लगे थे। जबकि भारतीय इससे अनभिज्ञ थे।[2]

(4) भारतीय विदेशी समुद्री व्यापारी से भागीदारी गिरावट का मुख्य कारण सुरक्षात्मक उपायों में कमी था। जहाजनिर्माण एवं संचालन में तकनीकी कमी का नहीं।[3] जबकि चीनी एवं अरबी जहाजों में रक्षकों की नियुक्ति की व्यवस्था थी। इब्नबतूता कहता है कि चीनी जहाजों में एक हजार लोग थे जिसमें छह सौ नाविक एवं चार सौ सुरक्षाकर्मी थे।[4]

(5) इस समय ब्राह्मणों के द्वारा समुद्र यात्रा का निषेध किया गया है। यद्यपि यह निषेद्य मात्र ब्राह्मणों के लिये था किन्तु यह सिद्ध करता है कि विदेशी साहसिक समुद्रयात्रा को समाज में अच्छे दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता था।

प्रमुख बन्दरगाह

भारत के बन्दरगाह वह माध्यम थे जिससे भारत का वाह्य संसार से व्यापार होता था।[5] इस समय के विभिन्न अध्ययन स्रोतों से भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी तट के बन्दरगाहों का पता चलता है। भारत के पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति, सप्तग्राम, पुरी, कलिंग या कलिनागपट्टम, चिल्काकुली, बानपुर एवं

---

1. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 126.
2 मार्कोपोलो एण्ड दी निकोली कोष्टी, अनु0 जॉन फैम्पशन, सम्पादन एन0एम0 पेंजर, पृ0 140
3. जैन, वी0के0 ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ0 88.
4 इब्नबतूता, रेहला, पृ0 190.
5. नियोगी पुष्पा, 'इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया' पृ0 129.

रामेश्वर थे।[1] अरब लेखकों के विवरणों से यहां कावेरीपट्टनम, नागपट्टनम, आदिवरमपट्टनम, देवीपट्टनम, किलाकराई में भी बन्दरगाह होने का पता चलता है।[2] माबर या कोरोमण्डल तट बहुत महत्वपूर्ण था। वासफ इसे भारत की चाभी कहता है।[3]

भारत के पश्चिमी तट पर क्विलोन एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था। कैम्बे, सोमनाथ एवं डेबाल यहाँ के अन्य प्रमुख बन्दरगाह थे।

पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारत के बन्दरगाहों को पुष्पानियोगी ने तीन वर्गो में रखा है। पहले वे, जो सिन्ध के किनारे या उसके मुख के आसपास स्थित थे। दूसरे वे जो गुजरात के समुद्र तट के किनारे थे, तीसरे वे जो बंगाल एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्र में स्थित थे।[4]

ताम्रलिप्तिः–प्राचीन काल से ही ताम्रलिप्ति भारत का एक प्रमुख बन्दरगाह था। यह चीन, श्रीलंका एवं पूर्वीद्वीपसमूहों से व्यापार के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण था। किन्तु बाद में इसमें मिट्टी भर गयी। धीरे–धीरे सप्तग्राम बंगाल का एक प्रमुख बन्दरगाह हो गया।[5]

भड़ौचः–भड़ौच भी प्राचीनकाल से ही भारत का एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था। ह्वेनसांग ने इसके विषय में कहा है कि इस नगर की सम्पन्नता समुद्री व्यापारिक गतिविधियों के कारण थी।[6] अलइद्रीसी कहता है कि यहां पर चीन एवं सिंध से लोग आते थे।[7] मोहराज पराजय में यह कहा गया

---

1. दासगुप्त, टी0सी0, आस्पेक्ट्स ऑफ बंगाल सोसाइटी, पृ0 30.
2. नैनार, अरब ज्योगरफर्स, पृ0 44–45
3. इलियट एण्ड डाउसन, III, 32.
4. नियोगी पुष्पा, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 129.
5. मजूमदार, आर0 सी0, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग I, पृ0 4.
6. बील, एस0, सि–यु–कि II, पृ0 259.
7. इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एस टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, I, पृ0 87.

है कि अन्हिलपुरा का धनी व्यापारी कुबेर पांच सौ जहाजों एवं पचपन व्यापारियों के साथ व्यापार के लिये भृगुकच्छ गया था।[1]

कैम्बे:-कैम्बे बन्दरगाह भी पूर्वमध्यकाल में आयात-निर्यात का एक प्रमुख केन्द्र था। इस बन्दरगाह का इसी समय विकास हुआ। तट से सोलह मील भीतर होने के कारण अरब आक्रमणों से सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण था।[2] दसवीं शतियों के पश्चात् नौकावहन व्यापार में उत्कर्ष से इसकी महत्ता एवं सम्पन्नता में वृद्धि हुयी। अल इद्रीसी इसके विषय में कहता है कि यह एक सुन्दर शहर है। यहां जहाज सब प्रकार की व्यापारिक वस्तुयें हर जगह से लेकर आते हैं जहां से ये सभी दिशाओं में निर्यात की जातीं हैं।[3] यह पश्चिम भारत के उन प्रमुख बन्दरगाहों में से एक था जहां अरब संसार से घोड़े जहाजों द्वारा लाये जाते थे।[4] यहाँ राज्य की ओर से भी डाकुओं आदि से सुरक्षा की व्यवस्था की गयी थी। मार्कोपोलो कहता है कि यहां डाकू नहीं थे एवं काम्बे के लोग व्यापार एवं उद्योग द्वारा जीवन निर्वाह करते थे।[5]

सोमनाथ पट्टनम्:-सोमनाथ एक पुराना बन्दरगाह था। किन्तु यह आर्थिक समृद्धि एवं धार्मिक आकर्षण की दृष्टि से दसवीं सदी के पश्चात् उत्कर्ष पर पहुंचा।[6] अलबरूनी के अनुसार इसकी प्रसिद्धि का एक प्रमुख कारण था कि यह समुद्री यात्रियों हेतु एक प्रमुख पड़ाव था एवं जंजीबार तथा चीन के

---

1. मोहराजपराजय, III. पृ0 61.
2. जैन, वी0के0, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 130.
3. इलियट एण्ड डाउसन, I, पृ0 84
4. वही, III, पृ0 33.
5 मार्कोपोलो, द्वितीय, पृ0 398.
6. जैन, वी0के0 पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 131.

बीच एक प्रमुख स्टेशन था।[1] चालुक्य काल में समुद्री डकैतों पर अंकुश लग जाने से इसकी वाणिज्यिक गतिविधियों में वृद्धि हुयी।

देबुलः–देबुल सिंध क्षेत्र का एक प्रमुख बन्दरगाह था। यहां ओमान, चीन और भारत तीनों के जहाज आते थे।[2] अलइद्रीसी इसकी नाविक महत्ता के विषय में कहता है कि यहाँ हर देश से आया हुआ व्यापारिक सामान उपलब्ध है एवं यहां से दूसरे देशों में माल भेजा जाता है। यह एक खाड़ी पर स्थित है। जहां नावें प्रवेश कर सकती हैं एवं रुक सकती हैं। यहां पानी की अच्छी उपलब्धता है एवं किश द्वीप के निवासियों की सुरक्षा हेतु भारत के शासन द्वारा अच्छा इंतजाम किया गया है।[3]

सिंध में स्थित भाम्बूर, सौराष्ट्र का पीरावल, गुजरात में स्थित मंगरोल, ड्यू आदि इस समय उत्तरी भारत के अन्य प्रमुख बन्दरगाह थे। दक्षिण भारत में मालाबार तट का क्विलोन बन्दरगाह अत्यंत महत्वपूर्ण था। अरब लेखक कहते हैं कि पश्चिम से आने वाले जहाज केदाह जाने से पूर्व ताज पानी के लिये क्विलोन के बन्दरगाह पर रुकते थे।[4] चीनी स्रोतों से भी ज्ञात होता है कि चीनी व्यापारी अरबों के देश में जाने के लिये छोटी नावों को क्विलोन में लेते थे।

---

1. अलबरूनीज इण्डिया, III, 104
2 इलियट एण्ड डाउसन, I, 77.
3. वहीं, 84.
4. नैयार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 44-55.

(ख) आंतरिक व्यापारिक मार्ग

पूर्वमध्यकाल में देश के उत्तरी भाग में अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं सहित आंतरिक व्यापारिक मार्गो का सुविस्तृत संजाल विद्यमान था जो महत्वपूर्ण धार्मिक व्यापारिक एवं औद्योगिक महत्व के नगरों, राजधानियों नव्यनदियों की सुविधा, सम्यक् आवागमन के साधनों की उपलब्धता आदि के अनुसार विकसित हो गये थे। आंतरिक व्यापार नदियों, नहरों एवं स्थलमार्गो द्वारा होता था। वस्तुतः पूर्वमध्यकाल में उत्तरी भारत के अधिकतर मार्ग लगभग वही थे जो प्राचीन समय में थे। भले ही स्थलों के नाम परिवर्तित हो गये हों। कुछ नये मार्गो का भी इस समय विकास हुआ।

पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत के आंतरिक व्यापारिक मार्गो को दो भागों में बांटा जा सकता है। यह हैं-जलीय मार्ग एवं स्थलीय मार्ग।

[I] आंतरिक जलीय मार्ग

आंतरिक जलीय व्यापारिक मार्गो में नदियों एवं नहरों को सम्मिलित किया जा सकता है। इसमें नदियां महत्वपूर्ण थीं। वस्तुतः भारत को प्रकृति द्वारा नदियों के रूप में अमूल्य जल परिवहन के साधन प्रदत्त हुये हैं। इसमें उत्तर भारत की स्थिति विशेष महत्व की है। उत्तर भारत की अधिकांश नदियां सदावाहिनी हैं तथा ज्यादातर क्षेत्रों में समतल भूमि पर होकर बहती हैं। अतः यहां गंगा एवं उसकी सहायक नदियाँ मिलकर एक विस्तृत जलमार्ग बनाती हैं। जबकि दक्षिण भारत एक पठारी प्रदेश है। उबड़-खाबड़ होने के कारण यहाँ लम्बी दूरी तक सुगमतापूर्वक जलपरिवहन संभव नहीं है। साथ ही वहाँ की नदियाँ सदावाहिनी नहीं हैं। उन्हें वर्ष भर, नदियों को जलपूर्ण रखने वाला

हिमालय की तरह स्रोत उपलब्ध नहीं है। वे मुख्यतः वर्षा पर निर्भर करती हैं। इन्हीं कारणों से उनमें गर्मियों में जलापूर्ति कठिन हो जाती है। अतः वे उत्तर भारत की नदियों की अपेक्षा व्यापार में कम ही सहायक रही हैं।

प्राचीन काल से ही उत्तर भारतीय नदियों के उत्तम व्यापारिक मार्गो के रूप में प्रयुक्त होने के कारण ही उनके तटवर्ती क्षेत्रों, संगमस्थलों, दोआबों, समुद्रसंगम स्थलों पर राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नगरों का विकास हुआ। वस्तुतः नदियों द्वारा व्यापारिक वस्तुओं का परिवहन स्थलमार्गो की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्ण है। जलीय परिवहन में स्थलीय परिवहन की अपेक्षा कम श्रम एवं समय लगता है एवं अपेक्षतया कम अवरोधों का सामना करना पड़ता है। अतः कच्चेमाल एवं तैयार माल के परिवहन में नदियाँ महत्वपूर्ण हैं। प्राचीनकाल से ही कौशाम्बी, वाराणसी, पाटलिपुत्र आदि महत्वपूर्ण नगरों का विकास उनके नदियों के तट पर अवस्थित होने के ही कारण हुआ था। पूर्वमध्यकाल में भी इनका आंतरिक व्यापार में पूर्ववत् महत्व था।

उत्तर भारत में पंजाब एवं सिन्धु क्षेत्र में, सिन्धु, झेलम, रावी, सतलज, व्यास, चेनाब तथा सरस्वती नदियां तथा भारत के उत्तरी मैदानों में, गंगा, यमुना, सरयू, गोमती नदियाँ महत्वपूर्ण थी। असम में ब्रह्मपुत्र नदी का इस दृष्टि से महत्व था।

पूर्वमध्यकाल में इन नदियों द्वारा व्यापार होने के अनेक प्रमाण प्रापत होते हैं। उक्ति-व्यक्ति प्रकरण से यह जानकारी प्राप्त होती है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में बहुत लोग नदियों द्वारा यात्रा करते थे।[1] भोज की युक्तिकल्पतरू में यातायात एवं परिवहन के साधनों का विवरण मिलता है। इसमें नावों की

---

1. उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, पृ0 46, 1, 11, पृ0 39, 1, 7.

विविध किस्मों का उल्लेख है जो समुद्रों एवं नदियों में पर्याप्त परिवहन का संकेत देता है।[1] डॉ0 मुकर्जी भी नदियों से माल परिवहन का विवरण देते हैं।[2] राजतरंगिणी में नदियों को यातायात मार्गों के रूप में प्रयुक्त किये जाने का सन्दर्भ प्राप्त होता है।[3]

गंगा एवं उसकी सहायक नदियों द्वारा उत्तरी भारत में नदी मार्गों का जाल बिछा था। व्यापारिक दृष्टि से गंगा एवं यमुना नदियाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण थीं। गंगा नदी उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों से निकलकर उत्तर प्रदेश, बिहार एवं बंगाल के विस्तृत भू-भाग से गुजरती है। प्राचीन एवं पूर्वमध्यकाल में अनेक मार्ग गंगा नदी एवं उसकी शाखाओं के समानान्तर चलते थे एवं अनेकत्र इसको पार करके आगे भी विस्तारित रहते थे। गंगा एवं यमुना के संगम स्थल पर स्थित प्रयाग एवं गंगा एवं सोन के संगम पर स्थित पाटलिपुत्र महत्वपूर्ण नगर थे। वाराणसी का अधिकतर व्यापार नावों द्वारा गंगा नदी के माध्यम से होता था। उत्तरी भारत में स्थल मार्ग अनेकत्र नदी मार्गों द्वारा परस्पर जुड़े हुये थे। रामचरित में गंगानदी की नौकाओं के बेड़े का मनोरम वर्णन हुआ है।[4]

सिन्धु एवं पंजाब में सिन्धु नदी अपनी सहायक नदियों के साथ एक जलीय व्यापार तंत्र का निर्माण करती है। महमूदगजनवी ने अपने आक्रमण के समय 1400 नावों को मुल्तान में तैयार करवाया था।[5]

असम में ब्रह्मपुत्र नदी महत्वपूर्ण थी। यह डिब्रूगढ़ से ग्वालैण्डो जहां

---

1. भोज, युक्तिकल्पतरू, ईश्वर चन्द्र शास्त्री सम्पादित, कलकत्ता, 1971, पृ0 223
2. मुकर्जी, आर0के0, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिग एण्ड मैरीटाइम एक्टिविटी, कलकत्ता, 1957, पृ0 244
3 राजतरंगिणी, 5, 84.
4. सन्ध्याकरनन्दी, रामचरित, पृ0 29.
5. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ0 13.

वह गंगा से मिलती है, तक नव्य थी।[1] यहां लोग नदियों द्वारा माल ले जाते एवं यात्रा करते थे।[2]

दक्षिण भारत की भांति गुजरात क्षेत्र के आसपास, नदियाँ मुहाने के पास कुछ मीलों तक के क्षेत्र को छोड़कर अधिक नव्य नहीं थीं। अतः वहां अधिकतर आंतरिक व्यापार स्थल मार्गो से ही होता था। यद्यपि तटीय क्षेत्र आपस में नावों द्वारा जुड़े थे। आंतरिक कठिन मार्गो की अपेक्षा समुद्र तटीय क्षेत्रों में नावों से व्यापार करना सरल था। 1093 ई0 सन् के चन्द्रवती अभिलेख से ज्ञात होता है कि गाहड़वाल शासकों के समय शासन की ओर से सरकारी नावें व्यापारियों एवं नाविकों को किराये पर दी जाती थी।[3]

करः–घाट एवं नावों पर राज्य की ओर से कर लगाया जाता था। पालवंश के अभिलेखों में 'तारिक' नामक अधिकारी का उल्लेख आया है।[4] यह घाटों पर नियुक्त होता था एवं शुल्क और सुरक्षा की देखभाल करता था। 'तर' सरकारी नावों का किराया था।[5] गाहड़वालों के समय तरादाय एवं स्वनौका भाटक नामक करों का प्रसंग आता है। तरादाय का तात्पर्य नावों पर कर एवं स्वनौकाभाटक का अर्थ सरकारी नावों के चलाने का किराया है।[6]

पुलः–नदियों को पार करने के लिये नदियों के अतिरिक्त पुलों का भी निर्माण होता था। हवेनसांग दरेल से बालोर सिन्धु नदी पर झूलते पुलों को पार करके पहुंचा था।[7] हेमचन्द्र ने सेतु आदि चार प्रकार के पुलों का उल्लेख

1. वही, पृ0 12
2. चौधरी, पी0सी0 हिस्ट्री आफ सिविलाइजेशन ऑफ असम, पृ0 379.
3. चन्द्रदेव का चन्द्रनवती अभिलेख, 1093 ई0, एपि0 इण्डि0 14, 193–96
4. एवि0 इडि0, भाग 6, इन्सक्रिप्शन्स ऑफ बंगाल, भाग 3, संदर्भ सं0 153.
5. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, दिल्ली, 1975, पृ0 71.
6. वाटर्स, I, पृ0 86
7. वाटर्स, I, पृ0 86.

किया है।[1] तबकाते नासिरी से असम में पत्थर के पुल होने का उल्लेख प्राप्त होता है जिसको तोड़ने के पश्चात् असम के सैनिकों ने बख्तियार खिलजी को पराजित किया था।[2] साधारणतः नदियों पर नावों के ही पुल बनाये जाते थे।[3] नदियां पशुओं द्वारा भी पार की जाती थीं। त्रिशष्टिश्लाकापुरूषचरित में बैल द्वारा गाड़ियों को नदी पार किये जाने का प्रसंग प्राप्त होता है।[4]

[II] आंतरिक स्थलीय मार्ग

प्राचीन काल से ही भारत के विभिन्न नगरों एवं व्यापार के विकास में देश के अन्तर्वर्ती भागों में स्थित व्यापार मार्गो की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस समय भारत में ऐसे अनेक मार्ग थे जो व्यापारिक दृष्टि से बहुत उपयोगी थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण वह महान् मार्ग था जो भारत में तक्षशिला से काशी तक एवं तत्पश्चात् ताम्रलिप्ति तक जाता था। उत्तर पश्चिम में यह भारत की सीमा को पार करके काबुल आदि प्रदेशों को जोड़ता था। समस्त उत्तर भारत में इसकी अनेक शाखायें प्रशाखायें थीं। 500 ई0पू0 के लगभग यह अस्तित्व में आ चुका था। बौद्ध साहित्य से भी इस पर प्रकाश पड़ता है। चीनी यात्री हवेनसांग के यात्रा विवरणों से ज्ञात होता है कि सातवीं सदी में भी वही रास्ते चलते थे जो ईसा पूर्व पांचवी सदी में थे। ईसा की ग्यारहवीं सदी में भी भारत की पथपद्धति वही थी जो कि इस युग में है। उस पर स्थित बहुत से प्राचीन नगर नष्ट हो गये थे और उनकी जगह नये नगर बस गये थे।[5] ग्यारहवीं सदी की इस पथपद्धति में अलबरूनी के अनुसार 16

---

1. हेमचन्द्र अभिधान चिन्तामणि, IV, 31.
2. रेवर्टी, तबकाते नासिरी, पृ0 569 से आगे
3. राजतरंगिणी, 3, 354
4. त्रिशष्टिश्लाकापुरूषचरित, 4, पृ0 45.
5. त्रिशष्टिश्लाकापुरूषचरित, 4, पृ0 45.

मार्ग आते थे, जो कन्नौज, मथुरा, अलहिलवाड़, धार, बाड़ी एवं बयाना से चलते थे।[1]

अलबरुनी इन मार्गों का वर्णन करता है। एक मार्ग कन्नौज से प्रयाग और तत्पश्चात् पूर्वीतट तक जाकर दक्षिण में कांजीवरन् तक जाता था। दूसरा मार्ग कन्नौज बारी से वाराणसी और उसके बाद गंगा के मुहाने तक जाता था। तीसरा मार्ग कन्नौज से लेकर पूर्व में कामरूप और उत्तर के सीमावर्ती देश नेपाल और तिब्बत तक पहुंचता था। चौथा मार्ग कन्नौज से दक्षिण की ओर जाकर दक्षिण तट पर स्थित वनवासी (दक्षिण के कदम्ब राजवंश की राजधानी) को जोड़ता था। पांचवाँ मार्ग कन्नौज से बजान या नारायण तक और तत्पश्चात् गुजरात की राजधानी तक जाता था। छठा मार्ग मथुरा से धार (मालवा की राजधानी) तक पहुंचता था। सातवां मार्ग धार से उज्जैन को संयुक्त करता था। आठवां मार्ग धार से होकर मन्दगिरि (गोदावरी) तक जाता था। नवाँ मार्ग धार से पश्चिम की ओर सागरतटीय तान (आधुनिक थान) को जोड़ता था। दसवाँ मार्ग बजान से काठियावाड़ के दक्षिण तट में सोमनाथ तक फैला था। ग्यारहवाँ मार्ग अनहिलवार (अनहिलपाटन) से बम्बई के पश्चिमी तट तान तक जाता था। बारहवां मार्ग बजान से भारी (भटिण्डा) होते हुये सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित लोहरानी (सम्भवतः वर्तमान करांची) तक पहुंचता था। तेरहवाँ मार्ग कन्नौज से काश्मीर तक जाता था। चौदहवाँ मार्ग कन्नौज से पानीपत, अटक, काबुल और गजन तक पहुंचता था। पंद्रहवाँ मार्ग बब्रहान से अधिष्ठान (कश्मीर की राजधानी) तक जाता था। सोलहवाँ मार्ग मकरान स्थित

---

1. मोतीचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 21.

तीज से सेतुबंध पहुंचता था।[1]

यह महान् मार्ग गांगेयमैदान में दो भागों में विभक्त हो जाता है। उत्तरी मार्ग हिमालय की पहाड़ियों के समीप से गुजरता है जबकि इसी के समानान्तर दक्षिणी मार्ग चलता था। इन दोनों मार्गों की अनेक शाखायें-प्रशाखायें हैं जो दोनों को जोड़ती हैं। उत्तरी मार्ग कामरूप को एवं दक्षिणी मार्ग ताम्रलिप्ति को जाता था। उत्तरी मार्ग वर्तमान पेशावर, तक्षशिला, लाहौर, वाजिराबाद के दक्षिण, जालंधर, सहारनपुर लखनऊ एवं गंगा के उत्तर में होता हुआ, तिरहुत, कटिहार, पार्वतीपुर होता हुआ असम जाता है। इसी के समानान्तर दक्षिणी मार्ग है जो पेशावर, तक्षशिला तथा लाहौर तक उत्तरी मार्ग से अलग नहीं है। लाहौर में विभक्त होकर दक्षिणी मार्ग रायपिण्डी, फिरोजपुर, भटिण्डा, दिल्ली जाकर दिल्ली में यमुना को पार करने के पश्चात् गंगा के दाहिने किनारे का अनुकरण करता हुआ इलाहाबाद पहुंचता है। इलाहाबाद से वाराणसी पहुंचकर गंगा के दाहिने किनारे का अनुकरण करता हुआ पटना, भागलपुर एवं कलकत्ता जाता है।[1] उत्तरी मार्ग में पेशावर से पार्वतीपुर के बीच अनेक छोटे मार्ग हिमालय को जाते हैं जबकि दक्षिण मार्ग से बहुत से मार्ग दक्षिण को जाते हैं। बनारस के बाद दक्षिण मार्ग का महत्व ज्यादा है क्योंकि उत्तरी मार्ग असम को जबकि दक्षिण मार्ग कलकत्ता एवं गंगासागर को जाता है। प्राचीन समय के तक्षशिला, हस्तिनापुर (मेरठ), कुरुक्षेत्र, साकल, संकिशा (फर्रुखाबाद में) कन्नौज, प्रयाग, वाराणसी, सोनपुर, वैशाली, पटि्लग्राम, उरुबेला, राजगृह, मुंगेर, चम्पा, ताम्रलिप्ति आदि नगर इन मार्गों के प्रमुख केन्द्र थे।

---

1. मिश्र जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968.

पंजाब एवं सिन्ध के स्थल मार्ग नदियों के साथ-साथ चलते हैं। भटिण्डा से एक रास्ता निकलकर सतलज के साथ-साथ जाता है उसी तरह अटक में से एक दूसरा रास्ता निकलकर सिन्धु के साथ-साथ चलता है। इन दोनों रास्तों के बीच में पांच रास्ते हैं जो पंजाब की पांच नदियों की तरह एक बिन्दु पर मिलते हैं। सिन्धु पथ नदी के दोनों किनारों पर चलते हैं और रोहरी और कोटरी पर पुलों द्वारा सम्बद्ध हैं।[2] यही मार्ग पूर्वमध्यकाल में भी थे।

वैशाली से एक लघुमार्ग नेपाल को जाता था। ह्वेनसांग इसी से नेपाल गया था।[3] कौशाम्बी कारवों का मुख्य पड़ाव था। यहां से महिष्मती होता एक मार्ग दक्कन तक जाता था। उत्तरापथ की चेदि एवं उज्जैन से सम्बद्धता कौशाम्बी के माध्यम से ही थी।[4]

इस महान मार्ग जिसकी अनेक शाखाओं एवं प्रशाखाओं का विस्तार समस्त उत्तर भारत में था, के अतिरिक्त अनेक अन्य मार्ग भी इस काल में महत्वपूर्ण थे।

हेमचन्द्र (बारहवीं सदी) ने अनेक वाणिज्य पथों का वर्णन किया है। शंकुकुकपथ जो पहाड़ी मार्ग होता था, एक कठिन पथ था। जिस पर लोहे की कील ठोंककर चढ़ा जाता था। इसके अतिरिक्त [illegible] **अज-प [illegible]** और **वारिप [illegible]** भी थे।[5]

बंगदेश अनेक सड़कों से पाटलिपुत्र, बनारस तथा उत्तरी भारत में महत्वपूर्ण नगरों से मिला हुआ था।

---

1 मोतीचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट पटना, 1953, पृ0 12-23.
2. मोतीचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पटना, 1953 पृ0 13
3. वही पृ0 12-23
4. वही.
5. हेमचन्द्र, शब्दानुशासन, 6.4 90, शङ्कूत्तरकान्ताराजवारिस्थलजजंगलादेस्तेनाहृतेच एपिग्रा0 इंडि0 1.186.

पेहोवा अभिलेख (882-883 ई0) से ज्ञात होता है कि वहां व्यापारी देश के विभिन्न भागों से आया करते थे।[1] चालुक्यों के शासनाकाल में **पश्चिमी-भारत** में पर्याप्त व्यापारिक मार्गो का विकास हुआ। गुजरात की स्थिति प्राकृतिक प्रवेश द्वार के रूप में थी। अतः पश्चिमी बन्दरगाहों से आने जाने वाले मार्ग गुजरात होकर जाया करते थे। चालुक्यों का दक्षिणी राजस्थान, मालवा एवं गुजरात, सौराष्ट्र एवं कच्छ आदि क्षेत्रों के साम्राज्य विस्तार था। उन्होंने मार्गो की व्यवस्था की ओर अपेक्षतया ज्यादा ध्यान दिया। सौराष्ट्र, कच्छ एवं उत्तरी गुजरात के अनेक भाग विभिन्न मार्गो द्वारा परस्पर सम्बद्ध थे।[2] **बारहवीं** शता0 में सिद्धराजा द्वारा बनवायी गयी सड़क जो **अन्हिलपुरा** से मुंजपुरा, झिंझुवाड़, बढ़गांव, जैतपुर होते हुये **सोमना I पट्टन** तक जाती थी, बाद में **व्यापारियों** के द्वारा अधिक प्रयुक्त की जाने लगी। एक रास्ता **अन्हिलवाड़ा** से **भड़ौच** तक जाता था। आशापल्ली के भीलों पर राजा **कर्ण** (1064-94 ई0) की विजय पश्चात् **कर्नावती** (वर्तमान अहमदाबाद) के नये नगर की स्थापना हुयी। जिसमें दक्षिण एवं उत्तरी गुजरात को जोड़ने वाला नया मार्ग प्राप्त हुआ।[3]

अन्हिलपुरा से उत्तर को एक मार्ग जाता था। वह सिद्धपुरा, चन्द्रवती, नाडोल, जालौर, बाली, पाली आदि होते हुये अंततः मथुरा, अजमेर एवं नरियाना (बजान) होते हुये कन्नौज पहुंचता था। कन्नौज से काबुल एवं काश्मीर तथा तिब्बत, चीन एवं असम को अनेक सड़क मार्ग जाया करते थे। **अल-इदरीसी** के अनुसार मामूहल (अन्हिलवाड़ा या भीनमाल) स्थल मार्गो द्वारा सिन्ध एवं मानसुरा से सम्बद्ध था। एक **मरूस् ालीय मार्ग** भी मुल्तान एवं

---

1. एपि0 इण्डि0 1, 186.
2. जैन, वी0के0 पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 110.
3. वही, पृ0 112-122

गुजरात के मध्य था जो जैसलमेर एवं बारमेर होता हुआ जाता था। गुजरात के आक्रमण के समय मुहम्मद गोरी एवं महमूद गजनवी द्वारा इसी मार्ग का अनुकरण किया गया।[1] गुजरात से पूर्व की तरफ गोघरा, दोहद होते हुये परमारों की राजधानी धार तक एक मार्ग जाता था। यह मार्ग पश्चिमी भारत को परमारों की राजधानी धार से जोड़ता था। मेरुतुंग के वर्णन से पता चलता है कि चालुक्य राजा दुलर्भराजा (1009-24) वाराणसी को तीर्थ यात्रा हेतु जाते समय मालवा में रूका था। बिल्हण भी वाराणसी से धार होते हुये ही अन्हिलपुरा एवं सोमनाथ पट्टन पहुंचे थे। इस प्रकार गुजरात के व्यापारी इस मार्ग से बनारस जा सकते थे जहां से नेपाल, तिब्बत एवं कामरूप को सड़क जाया करती थी। जहां से असम की पहाड़ियों से द0 चीन एवं उपरी बर्मा जाया जा सकता था। यह एक पुराना मार्ग था एवं किया तान (Kia-Tan A.D.) 785.805 ई0 सन् के विवरण से ज्ञात होता है कि वह नवीं शता0 में प्रयुक्त होता था। यहाँ से एक और कठिन रास्ता था जो हिमालय के दर्रो से होकर चीन पहुंचता था। **तबकाते-नासिरी** के अनुसार कामरूप एवं तिब्बत के बीच 35 दर्रे थे जहां से लखनौती घोड़े लाये जाते थे।[2] संक्षेप में **गोधरा** दोहद मार्ग एक प्रमुख राजमार्ग था जो पश्चिमी भारत को (गुजरात क्षेत्र) गांगेय मैदान एवं देश के अन्य पूर्वी भागों से जोड़ता था। गुजरात से **दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व** की तरफ व्यापारिक मार्ग तट का अनुसरण करता हुआ या नर्मदा एवं ताप्ती की गहरी घाटियों एवं पश्चिमी घाट की पहाड़ियों से होता हुआ कठिन रास्ते से जाता था। मारवाड़ के रेगिस्तान एवं कच्छ के रन की भौगोलिक स्थिति के कारण गुजरात एवं सिंध का रास्ता मालवा होकर जाता था। किन्तु कभी-कभी महमूद जैसे विजेता काठियावाड़ का रास्ता कम करने के

1. वही, पृ0 112-122.
2. इलियट एवं डाउसन, II, पृ0 312.

लिये सिंध एवं मारवाड़ होकर भी गुजरते थे पर गुजरात एवं सिंध के बीच का रास्ता मामूली तौर पर समुद्र से होकर था।[1]

उत्तर भारत से अनेक मार्ग दक्षिण को जाते थे। एक रास्ता मथुरा से उज्जैन होता हुआ भृगृकच्छ एवं सूर्पारक के बन्दरगाह तक पहुंचता था। जबकि एक रास्ता कौशाम्बी से बेतवा नदी घाटी होते हुये विदिशा तक जाता था।[2] प्रयाग से जबलपुर तक भी एक मार्ग था। यहां से यह भिलसा, उज्जैन, महीष्मती, गोदावरीघाटी एवं छत्तीसगढ़ जाने के अनेक मार्ग थे। दक्षिण भारत के मार्ग नदियों के साथ-साथ चलते थे।[3] मनमाड से मुसलीपट्टम, पूना से कांजीवरन्, कालीकट से रामेश्वरम्, गोआ से तंजौर, नेगापट्टम् को जाने वाले मार्ग महत्वपूर्ण थे।

यातायात एवं परिवहन के साधन

इस समय व्यापार हेतु विभिन्न साधनों का प्रयोग किया जाता था। युक्ति कल्पतरू में इन्हें चार वर्गों में रखा गया है-चार पैरो वाले जैसे जानवर, दो पैरो वाले जैसे मनुष्य, बहुत पैरों वाले जैसे गाड़ियां एवं रथ एवं पैर रहित जैसे नावें।[4] मेधातिथि के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि बैल, खच्चर, भैसें एवं अन्य पशुओं को गाड़ियों में जोतकर और उनकी पीठ पर माल लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया एवं ले जाया जाता था।[5] तिशाष्टिश्लाकापुरूषचरित में वर्णन आता है कि एक कारवाँ जो धन के नेतृत्व में व्यापार हेतु चला था, में ऊंटो, भैंसों, बैलों, खच्चरों एवं गधों पर सामान

---

1. वही.
2. वही.
3. वही.
4 भोज, युक्तिकल्पतरू, उद्धृत पुष्पानियोगी, कॉन्ट्रीब्यूशन्स, टू द इकोनॉमिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया, पृ0 173.
5. मेधातिथि, मनुस्मृति पर टीका, 8, 210.

लादा गया था। इस समय एक या कई जानवरों द्वारा जोती गाडियों पर भी माल लादकर व्यापार हेतु आवागमन किया जाता था। बहुत से व्यक्ति भी अपने कंधे एवं सिर पर माल ढोते थे।[1]

सड़क–प्रणाली

सड़कों का देश के व्यापार एवं विकास में बहुत योगदान होता है। इस समय ज्यादातर सड़के प्राचीन मार्गो का ही विकसित रूप थीं किन्तु कतिपय नयी भी बनवायी जाती थीं। राजा अपने सामरिक अभियानों के दौरान सेना के बढ़ने के लिये मार्ग साफ करवाते थे एवं बाद में व्यापारी भी उसका लाभ उठाते थे। कभी–कभी जंगलों को साफ करने के लिये कुल्हाड़ी युक्त व्यक्ति भी साथ होते थे। कभी–कभी इस क्रम में पर्वतों को भी काटना पड़ता था।

सड़कों एवं जलमार्गो की व्यवस्था हेतु एक पृथक् विभाग होता था। इसके लिये कहीं–कहीं मार्गपति अधिकारी की भी नियुक्ति होती थी।

इस समय सड़कों की अनेक समस्यायें थीं:–

1. सड़कों में पानी की निकास प्रणाली की व्यवस्था नहीं थी, अतः बरसात में दलदल सी हो जाती थीं। जबकि मिट्टी की बनी ये सड़के सूखे मौसम में धूल की आंधियों के कारण परेशानी का कारण बन जाती थीं।
2. मार्गो पर डाकुओं का भी खतरा रहता था। पहाड़ी एवं जंगली क्षेत्रों में स्थानीय जातियां, यात्रियों एवं कारवों को लूट लेती थीं।
3. जंगली जानवर भी व्यापारियों में भय एवं असुरक्षा की स्थिति

---

1. उपमितिभवप्रपंचककथा, पृ0 867–68.

पैदा करते थे।

4. सामंत, गांव प्रमुख भी कभी-कभी व्यापारिक काफिलों को लूट लेते थे।

सड़कों पर राज्य की ओर से उपलब्ध सुविधायें एवं समस्याओं के निराकरण के प्रयास

राज्य की ओर से सड़कों पर व्यापारियों की सुविधायें उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया था। कृत्यकल्पतरू[1] एवं तिलकमंजरी[2] के विवरणों से ज्ञात होता है कि मुख्यमार्गो के निकट पीने के पानी की व्यवस्था की जाती थी। इस समय कुछ शासकों ने धर्मशाला, विश्राम घर आदि बनवाये।[3] इन धर्मशालाओं में यात्रियों को भोजन आदि की सुविधायें उपलब्ध करायी जाती थी।[4] अबू-जैद हसन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि भारतीय यात्रियों के लिये धर्मशालायें बनवाना अपना मुख्य कार्य समझते थे।[5] इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में भारत के व्यापारिक मार्गोकी देखरेख का उत्तरदायित्व राज्य का था।

⌘

1. कृत्यकल्पतरू, पृ0 257
2. तिलकमंजरी, पृ0 117.
3. समयमातृक, 2, 3
4. प्रबंध चिन्तामणि, पृ0 106.
5. एंशियंट एकाउंट्स आफ इण्डिया एण्ड चाइना, पृ0 87 के आगे.

अध्याय : चार

पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत में सिक्कों के प्रकार एवं उनके मान

वर्तमान मानव सभ्यता का विकास एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है विकास के आधुनिक स्तर तक पहुंचने में इसे उन्नति के विविध सोपानों को पार करना पड़ा। मनुष्य की बढ़ती आवश्यकताओं एवं उत्तम ढंग से जीवन जीने की इच्छा ने उसको प्रेरणा प्रदान की। अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का एक दूसरे से आदान-प्रदान करने के क्रम में व्यापार का उदय हुआ।

प्रारम्भ में व्यापार अदल-बदल प्रणाली (Barter System) पर आधारित था। किन्तु धीरे-धीरे यह प्रणाली अप्रासंगिक होने लगी। क्योंकि इससे क्रीत एवं विक्रीत वस्तु का पारस्परिक मूल्य निर्धारण कठिन था। अतः किसी अन्य विनिमय का साधन अपनाये जाने पर विचार किया जाने लगा। यह विनिमय का माध्यम विक्रय के समय मापक (Standard) माना जाता था। **ऋग्वैदिक काल** में गाय विनिमय का साधन थी।[1] धीरेधीरे विनिमय के साधन के रूप में धातु अपनाये जाने लगी। वैदिक साहित्य में निष्क[2] सुवर्ण एवं शतमान इस रूप में प्रयुक्त होते देखते हैं।

इस अनिश्चित धातु पिण्ड या चूर्ण का बारंबार परीक्षण एवं तौल असुविधापूर्ण था। अतः निश्चित मूल्य, भार एवं चिह्नों के अंकन द्वारा धातु को एक सुनिश्चित रूप देने से सिक्कों का आर्विभाव हुआ। गार्डनर[3] के अनुसार

---

1. क इमं दशभिर्मय इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः, ऋग्वेद IV, 24.10.
2. ऋग्वेद, 5, 19,3.
3. गार्डनर, द अर्लियस्ट क्वॉइन्स ऑफ ग्रीक प्रॉपर, पृष्ठ 5, उद्धृत शोभासत्यदेव एवं अभिनव सत्यदेव, भारतीय पुरालिपि अभिलेख एवं मुद्राएँ, द्वितीय संस्करण 1994, दूसरा खण्ड, पृष्ठ 4.

'धातु का निश्चित चिह्नांकित, पूर्वनिर्धारित, गुण एवं भार का टुकड़ा सिक्का है, जो कि किसी उत्तरदायी अधिकारी द्वारा जारी किया जाता था तथा जिसकी शुद्धता भार एवं गुण का उत्तरदायित्व अधिकारी व्यक्ति पर होता था।।'

भारत में सिक्कों का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ।[1] छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व लौह धातु का युद्ध एवं कृषि दोनों क्षेत्रों में प्रयोग होने से कुछ मूलभूत सामाजिक परिवर्तन आने लगे। इससे एक ओर, शक्तिशाली क्षत्रिय वर्ग का उदय हुआ दूसरी ओर खेती में भी क्रांतिकारी परिणाम सामने आने लगे। जंगल साफ करना सरल हो गया। लोहे के फाल से गहरी जुताई के कारण अधिक उपज होना स्वाभाविक था। कम श्रम से अधिक उत्पादन की क्षमता बढ़ी।[2]

कृषि के विकास के अतिरिक्त लौह उपकरणों के बढ़ते प्रयोग से अनेक शिल्पों तथा उद्योग धंधों की भी प्रगति हुयी। फलस्वरूप व्यवस्थापनों का पर्याप्त विकास तो हुआ ही, नगरीकरण की युगान्तकारी प्रक्रिया भी उत्तर-पूर्व भारत में प्रारंभ हुयी।[3] ईसा पूर्व 600 से 300 के बीच देश भर में 60 नगरों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।[4] इसी समय से मुद्रा के निश्चित प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं।

प्रारम्भिक भारतीय मुद्राएं आहत मुद्रायें कही जाती हैं क्योंकि इन सिक्कों पर आहत (Punch) करके चिह्नों का अंकन किया जाता था। भारत में खुदाई से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इनकी तिथि निर्धारित की जा सकती है। गंगा की घाटी में एक प्रकार की मिट्टी के पात्र मिले हैं जिन्हें उत्तर भारतीय

---

1. कनिंघम, क्वाइन्स ऑफ एनशियण्ट इण्डिया, पृ0 32, एवं चक्रवर्ती एस0के0, ए स्टडी ऑफ एनशियण्ट इण्डियन न्यूमिसमैटिक्स, पृ0 36.
2. झा एवं श्रीमाली, प्राचीनल भारत का इतिहास, पृष्ठ 139.
3. वही, पृ0 140
4. झा, डी0एन0 'ऐशेंट इंडिया, ऐन इंट्रोडक्टरी आउटलाइन, नई दिल्ली, 1977, पृ0 29

काले लेप वाले पात्र (N.B.P.) कहते हैं। विद्वान् इस प्रकार के मिट्टी के पात्रों की प्रारम्भिक तिथि ईसा पूर्व 600 तक मानते हैं। खुदाई में रूपेर, हस्तिनापुर, प्रहलादपुर, उज्जैन, महेश्वर, कुम्हरार, राजगिरि तथा वैशाली से जो काला पात्र (N B.P.) मिले हैं उनके साथ आहत सिक्के (P.M.C.) भी प्राप्त हुये हैं। उन पात्रों की वैज्ञानिक ढंग (C.14. Dating) से तिथि ईसा पूर्व 600 के आसपास आंकी गयी है। अतएव आहत मुद्राओं की तिथि भी उसी के समय निश्चिम करना उचित होगा।[1] जबकि रामशरण शर्मा इसका समय पांचवी शताब्दी ई0पू0 मानते हैं।[2]

प्रारम्भिक आहत मुद्राएं चांदी एवं तांबे दोनों धातुओं की प्राप्त हुयी हैं। ये मुद्राएं धातु की चादर काटकर, सांचे में ढालकर एवं ठप्पे से निशान लगाकार बनायी जाती थीं। इस प्रकार के सिक्के वर्गाकार, चतुष्कोणाकार, वृत्ताकार, लम्बे तथा अनिश्चित आकृति के होते थे। इन पर सूर्य, स्तूप, वृक्ष, पशु, मोर आदि पक्षी एवं मनुष्य आदि चिह्न अंकित किये जाते थे। शिशुनाग, नन्द, मौर्य एवं शुंग राजवंशों के सिक्के इसी प्रकार के थे।

भारत में द्वितीय शता0 ई0पू0 के आरम्भ में इण्डो-यूनानी आधिपत्य के पश्चात् मुद्रा निर्माण के क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन हुये। इन्होंने सोने, चाँदी एवं तांबे (कुछ ने सीसे के भी) के सिक्के चलाये। ये सिक्के शासक का उर्ध्वचित्र एवं देवी-देवता के अंकन से युक्त, निश्चित आकार एवं निश्चित तौल के तथा सांचे में ढले हुये हैं। इनके सिक्के कलात्मक एवं मुद्रालेख युक्त थे। मुद्राओं की कलात्मकता एवं विनिमय में नियमित रूप से मुद्रा का प्रयोग

1 उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मुद्राएं, पृ0 47.
2. शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज एवं संस्कृति, पृ0 101.

वास्तव में इस युग की सबसे बड़ी देन है।[1]

इण्डो-यूनानियों के सोने के सिक्के 'स्टेटर' एवं चांदी के सिक्के 'ड्रेक्म' कहलाते थे। ड्रेक्म को भारतीयों ने 'द्रम्म' नाम से पुकारा। सोने के सिक्के का 'स्टेटर' नाम भारत में स्वीकार नहीं किया गया। उसके स्थान पर भारतीयों ने रोमन स्वर्णमुद्रा का 'डेनेरियस' नाम अपनाया जिसे कालान्तर में गुप्त लेखों में 'दीनार' की संज्ञा दी गयी।[2] तांबे के सिक्के कार्षापण ही कहे गये। वजन में सोने के सिक्के 132 ग्रेन के तौल के आधार पर एवं चाँदी के द्रम्म 67.2 ग्रेनके आधार पर बने थे। चांदी के द्रम्म (33 ग्रेन) के सिक्के ज्यादा प्रचलित थे जिसका गुप्तों की रजत मुद्राओं में अनुकरण किया गया।

यौधेय, आर्जुनायन, मालव, कुणिन्द, पांचाल आदि जनपदों एवं गणराज्यों ने अपने सिक्के चलाये। ये चांदी एवं तांबे के हैं। इनकी आकृति गोल तथा चौकोर है। ये सिक्के सांचे में ढ्ले हुये हैं। दक्कन में सातवाहनों ने सीसे, पोटीन (तांबे एवं टिन का मिश्रण), खराब तांबे एवं खराब चांदी के सिक्के चलाये।[3] पश्चिम भारत के शकों के सिक्कों पर शक संवत् का प्रयोग किया गया है।

प्रथम शताब्दी ईस्वी में शासन करने वाले कुषाणवंशीय नरेश वीमकदफिस ने भारत में सर्वप्रथम सोने का सिक्का तैयार करवाया।[4] इसके चांदी एवं तांबे के सिक्के भी मिले हैं। कनिष्क एवं उसके उत्तराधिकारियों ने मुख्यतः सोने एवं तांबे के सिक्के चलाये। जिनके अग्रभाग पर राजा ईरानी

---

1. झा एवं श्रीमाली, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 239.
2. सत्यदेव, शोभा एवं अभिनव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 28
3. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एव आर्थिक इतिहास, पृष्ठ 149.
4. उपाध्याय वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 126, यद्यपि हिन्दयवनों ने इससे पूर्व स्वर्ण का मुद्रा हेतु प्रयोग किया किन्तु उनकी राजधानी भारतीय क्षेत्र के बाहर थी अतः वे भारतीय कम विदेशी ज्यादा माने जाते हैं।

वेषभूषा में खड़ा हुआ अग्निवेदिका में हविष डाल रहा है। पृष्ठ भाग पर विभिन्न देवी-देवताओं आदि का चित्रण है। इस समय व्यापार द्वारा रोमन मुद्रा के रूप में बड़ी मात्रा में सोना भारत आता था। कुषाणों की चांदी की मुद्रायें नहीं मिली हैं। इस सम्बन्ध में कनिंघम कहते हैं कि संभवतः यूनानियों एवं शकों के चांदी के सिक्के बिना किसी रोक-टोक के कुषाण साम्राज्य में चलते थे, इसीलिये कुषाणों को चांदी के सिक्के चलाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुयी।[1]

कुषाणों के सोने के सिक्कों का वजन औसतन 123.2 ग्रेन होता था।[2] कुषाणों के ज्यादातर सिक्के एक दीनार, दो दीनार एवं चौथाई दीनार के मिले हैं।[3] कुषाणों के तांबे के सिक्के 240 से 260 ग्रेन तक के हैं।

मुद्राशास्त्र के इतिहास में गुप्त मुद्रायें महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इसमें भारतीयता की छाप है। गुप्तों ने सोने, चांदी एवं अल्पमात्रा में तांबे की मुद्रायें चलायीं। कलात्मकता, मौलिकता एवं विविधता में गुप्त सम्राटों की स्वर्णमुद्रायें प्राचीन भारतीय मुद्राओं में अपना सानी नहीं रखती हैं।[4] मुद्राओं पर राजा का प्रदर्शन अनेक रीति से हुआ है। मुद्राओं के अनेक प्रकार एवं उपप्रकार प्रचलित किये गये।

चन्द्रगुप्त प्रथम (ई० सन् 319-345) के समय गुप्त सिक्कों का आरम्भ हुआ जिसके सोने के सिक्कों के अग्रभाग पर राजा रानी को कुछ देता हुआ एवं पृष्ठ भाग पर देवी का चित्र अंकित है।

इसके पुत्र समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर कुषाण प्रभाव दिखाई देता

---

1. कनिंघम, क्वाइन्स ऑफ इण्डोसीथियन्स, पृष्ठ-20-27, उद्धृत मैटी, अर्ली इंडियन क्वाइन्स एंड करेंसी सिस्टम, पृ0 26
2. ओम प्रकाश, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 148.
3. वही.
4. अलतेकर, अनन्त सदाशिव, गुप्तकालीन मुद्राएं, 201वि0संवत् पृ0 8.

है। जिसमें कुषाणों की तरह अग्र भाग पर राजा कोटपतलूनधारी चित्रित है एवं पृष्ठ भाग पर ऊंची पीठ वाले सिंहासन पर बैठी एवं हाथ में कार्नुकोपिया[1] लिये आर्दोक्षों देवी का अंकन किया गया है। बाद में भारतीयता की छाप सिक्कों पर दिखाई देती है। बाद के सिक्कों में राजा धोती पहने अंकित है एवं ओर्दोक्षों देवी का स्थान सिंहवाहिनी दुर्गा या कमलासना लक्ष्मी ने ले लिया।

समुद्रगुप्त ने छह प्रकार की स्वर्णमुद्राएं प्रचलित की। आर०डी० बनर्जी ने अपने ग्रन्थ में समुद्रगुप्त के दो तांबे के सिक्कों का उल्लेख किया है[2] किन्तु अब वे उपलब्ध नहीं हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने आठ प्रकार के सोने के सिक्के चलाये। उसने मालवा, गुजरात एवं काठियावाड़ को जीतकर वहां के शक क्षत्रपों के अनुकरण पर चांदी के अर्द्धद्म्म सिक्के चलाये।[3] इसमें पुरे भाग पर राजा की आकृति क्षत्रपशैली में है किन्तु पृष्ठ भाग पर प्राचीन चिह्नों के साथ 'गरूड़' का अंकन है। इसके तांबे के सिक्के भी इसी भांति के हैं।

प्रथम कुमारगुप्त ने 14 प्रकार की स्वर्ण मुद्रायें प्रचलित कीं। इसने चाँदी के चन्द्रगुप्त द्वितीय की तरह के सिक्कों के साथ ही मध्यदेश हेतु अग्रभाग पर राजा का आवक्ष चित्र एवं पृष्ठ भाग पर पंख फैलाये मोर के चित्र युक्त चाँदी के सिक्के चलाये। इसके तांबे के भी सिक्के मिले हैं। किन्तु कुमारगुप्त के पश्चात् गुप्त वंशीय नरेशों के तांबे के सिक्के अज्ञात हैं। स्कन्दगुप्त के सोने एवं चांदी के सिक्के मिले हैं। स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य पतनशील हो गया था। इसके पश्चात् रजतमुद्रा की परम्परा में भी कमी दिखायी देती है। यद्यपि बुधगुप्त के समय रजतमुद्रा पुनः निर्मित हुयी। इसके पश्चात् किसी राजा की रजत मुद्रा ज्ञात नहीं है।

---

1. आरदोक्षों देवी के हाथ में एक फलों से भरा सींग रहता था, जिसका नाम कॉर्नुकोपिया था।
2. बनर्जी, आर०डी०, दि एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज पृ० 214.
3. एलन, पृ० 86-87 उद्धृत मैटी, अर्ली इण्डियन काइन्स एंड दि करेंसी सिस्टम, पृ० 33.

स्कन्दगुप्त के पश्चात् पुरूगुप्त गुप्तवंशीय नरेश हुआ किन्तु इसके सिक्के नहीं मिले हैं। घटोत्कचगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय एवं बुधगुप्त के सोने के सिक्के प्राप्त हुये हैं।

प्रारम्भिक गुप्त सम्राटों के सोने के सिक्के 118 ग्रेन से 123 ग्रेन के हैं। स्कन्दगुप्त के राज्यकाल के अंतिम समय में सोने के सिक्कों का वजन 144 से 145 ग्रेन हो गया किन्तु सोने की मात्रा केवल 70 ग्रेन रह गयी।[1] इन राजाओं ने संभवतः भारतीय परम्परा को फिर से चालू किया क्योंकि मनु के अनुसार सुवर्ण नाम के भारतीय सिक्के का वजन 80 रत्ती या 144 ग्रेन होता था।[2]

पूर्वमध्यकालीन साहित्य एवं अभिलेखों में मुद्रा सम्बन्धी उल्लेख

पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। तत्कालीन साहित्य एवं अभिलेखों से इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है।

(1) द्रम्म

पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रचलित सिक्का 'द्रम्म' था। इस समय इसके अनेक प्रकार एवं उपप्रकार प्रचलित थे। 'द्रम्म' शब्द की उत्पत्ति यूनानी मुद्रा 'द्रेम्म' (Drachma) से हुयी है। जो कि एक चांदी का सिक्का था एवं जिसका वजन 67.5 ग्रेन होता था। यही फारस में दिरहम हो गया था।[3]

1 कनिंघम, क्वॉइन्स ऑफ मैडीवल इण्डिया, पृ० 15-16.
2. मनुस्मृति, 8 134
3. रैप्सन, ई० जे०, जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट-ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, 1920, पृ० 151, एवं अग्रवाल आर०सी०, ड्रम्मा इन एनशियण्ट इण्डियन एपिग्राक्स एण्ड लिटरेचर, जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटि सोसाइटी ऑफ इण्डिया 17, भाग-2, पृ० 64, उद्धृत वी०के० जैन, ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन बेस्टर्न इण्डिया (1000 से 1300 ई० सन् तक) 1990, पृ० 150.

पूर्वमध्यकालीन भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में द्रम्म सम्बन्धी विविध विवरण मिलते हैं। आवश्यक चूर्णि, लीलावती, प्रबन्धन्तिामणि[1] एवं लेखपद्धति[2] आदि ग्रन्थों में एवं पाल नरेश धर्मपाल के महाबोधि अभिलेख[3] पेहोवा अभिलेख[4], अहाड़ अभिलेख[5] आदि में द्रम्म शब्द मुद्रा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह सिक्का एक विशाल क्षेत्र में प्रचलित था। यह परमारों, गुहिलों, चाहमानों, प्रतिहारों एवं बंगाल के पाल एवं सेन वंशीय शासकों के साम्राज्य में व्यापारिक गतिविधियों में प्रयुक्त होता था।

द्रम्म नामक सिक्का किस धातु से निर्मित होता था, इसके विषय में विद्वानों में मतभेद है। भण्डारकर महोदय ने कात्यायन स्मृति में उल्लिखित तालिका के कार्षापण का अर्थ रजत मुद्रा बताया है।[6] उनके अनुसार द्रम्म का एक दूसरा नाम कार्षापण था।[7] प्रोफेसर लल्लन जी गोपाल एवं मिराशी ने भी द्रम्म को एक रजत मुद्रा माना है। वे कहते हैं 'द्रम्म शब्द ग्रीक द्रेक्म ,क्तंबीउंद्ध से लिया गया है। ये सिक्के द्रम्म इसलिये कहे गये हैं क्योंकि ये द्रेक्म के वजन मानक का अनुसरण करते हैं। द्रेक्म के भार के अनुकरण पर वो सिक्के हैं, जो सामान्यतः इण्डोसासानी या गधिया कहे गयें हैं। यह 'द्रम्म' शब्द मूलतः एवं बहुधा इन्हीं सिक्कों की श्रृंखला के लिये प्रयुक्त किया गया है एवं बाद में यह उन दूसरे सिक्कों के लिये भी प्रयुक्त किया गया जिन्होंने द्रेक्म वजन मानक को अपनाया।[8] वह पुनः कहते हैं कि यह मुख्यतः इसी वजन

---

1. मेरूतुंगाचार्य, प्रबन्धचिन्तामणि, पृ0 18, 121, 163 आदि
2 लेखपद्धति पृ0 114.
3. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 4, पृ0 101
4. इण्डियन एण्टीक्वेरी, 45, पृ0 77.
5 इपिग्राफिया इण्डिका, पृ0 184.
6. भण्डारकर, डी0आर0, कारमाइकेल लेक्चर्स ऑन एनशियण्ट इण्डियन न्यूमिसमैटिक्स, कलकत्ता, 1921, पृ0 206.
7. वही.
8. गोपाल लल्लन जी, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, 1965, पृ0 193.

वाले चांदी के सिक्कों के लिये प्रयुक्त हुआ है।[1] एक अभिलेख[2] में द्रेम्म का सुवर्ण से भेद किया गया है। जबकि अन्य जगहों[3] पर उसका पण से अंतर किया गया है जो सामान्यतः एक ताम्रसिक्का था। भाष्कराचार्य की लीलावती[4] में यह अनुपात दिया गया है–16 पण त्र 1 द्रम्म एवं 16 द्रम्म त्र 1 निष्क। यह प्रतीत होता है कि पण, द्रम्म एवं निष्क क्रमशः तांबे चांदी एवं सोने के सिक्कों को इंगित करते हैं। इस प्रकार यहां एवं अन्य संकेतों से भी यह सिद्ध होता है कि द्रम्म मूलतः एक चांदी का सिक्का था।[5]

पुष्पानियोगी ने इस मत के विपरीत यह प्रतिपादित किया है कि द्रम्म स्वर्ण, रजत एवं ताम्र तीनों धातु की मुद्रा थी।[6] सुशील मालती देवी ने भी इसके सोने, चांदी, तांबे एवं लोहे (मिश्रित तथा अन्य धातु भी इस शब्द में शामिल है) से निर्मित होने का मत व्यक्त किया है।[7] त्रिपुरी के कलचुरि नरेश गांगेयदेव, रतनपुरि के कलचुरि नरेश पृथ्वीदेव, जाजल्लदेव एवं रत्नदेव द्वितीय, अजमेर के तोमर नरेश कुमारपाल ने 61.7 से 62.7 ग्रेन वजन के द्रम्म मापक के सिक्के चलाये। परमार नरेश उदयादित्य (1060 ई0 से 1087 ई0 सन् तक) एवं कीर्तिवर्मन चंदेल ने स्वर्ण द्रम्म चलाये।[8]

स्वर्ण द्रम्म की तुलना में चाँदी के द्रम्म ज्यादा मिले हैं। गुर्जरप्रतिहार नरेश मिहिरभोज के आदि वराह सिक्के इसी प्रकार के हैं। कुलचुरि नरेशों, चन्देलों आदि वंशों के अनेक राजाओं के समय इसी प्रकार के सिक्के प्रवर्तित

---

1. वही
2. एपिग्राफिया इण्डिका, 7, पृ0 40
3 वही, 24, पृ0 329
4 लीलावती – I- 2-4.
5 गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 194.
6. नियोगी, पुष्पा, कांट्रिब्यूशस टू दि इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया कलकत्ता, 1962 पृ0 260.
7. देवी सुशीला मालती, इकोनॉमिक कंडीशन ऑफ एनशियेण्ट इण्डिया, (750 ई0 से 1200 ई0 सन् तक) 1987, पृ0 296-317.
8. वही, पृ0 312.

किये गये। भीमसेन[1] के 'लोहादीय द्रम्म' लोहे या अन्य धातु जो सामान्यतौर पर लोहा ही कही जाती थी, से निर्मित प्रतीत होते हैं। प्रतीहार नरेश विनायकपाल के तांबे के द्रम्म प्राप्त हुये हैं। जिनके अग्रभाग पर वराह एवं पृष्ठ भाग पर राजा का नाम लिखा है। अनेक अन्य नरेशों ने भी तांबे के द्रम्म चलाये।

यह विचारणीय है कि इस समय के सोने के सिक्कों, में दीनार (121 ग्रेन वजन) एवं भारतीय सुवर्ण (146 ग्रेन वजन) की जगह 'द्रम्म' के मापक (67.5 ग्रेन) के क्यों अपनाया गया? इसके सम्बन्ध में सुशील मालती देवी का मत है कि सोने की कमी के कारण द्रम्म के मानक को अपनाया गया।[2]

तत्कालीन विभिन्न स्रोतों में विविध प्रकार के 'द्रम्म' के प्रचलित होने के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

पारुत्थ द्रम्म

तत्कालीन साक्ष्यों में द्रम्म के एक प्रमुख प्रकार 'पारुत्थ' का उल्लेख प्राप्त होता है। इसे पुरातन प्रबंध संग्रह[3] में 'पारुथा' एवं 'लेखपद्धति'[4] में पारुपथ कहा गया है। महाराष्ट्र एवं कोंकण क्षेत्र से पाये गये अभिलेख एवं अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार के द्रम्म का सन्दर्भ आया है। सी0डी0 दलाल के अनुसार यह एक विशेष प्रकार का सिक्का था जो 'श्रेष्ठ पारुत्थ द्रम्म' एवं 'श्रीमत् पारुत्थ द्रम्म' के नाम से भी जाना जाता था।[5]

'पारुत्थ' शब्द के अर्थ के विषय में बिद्वानों में मतभेद है।

---

1. जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक्स सोसाइटी ऑफ इण्डिया 8 पृ0 139.
2. देवी सुशील मालती, पूर्वनिर्दिष्ट.
3. पुरातनप्रबंधसंग्रह, पृ0 57, 78, 128.
4. लेखपद्धति, पृ0 34, 35, 36.
5. वही, पृ0 114.

अलेक्जेण्डर नैरने के अनुसार 'पारुत्थ द्रम्म' पार्थियन द्रम्म को इंगित करता है।[1] सुशील मालती देवी का मत है कि इसका पार्थियनों से कुछ सम्बंध था। यह ध्यातव्य है कि इसका उल्लेख केवल जैन साहित्य एवं पश्चिम भारत से प्राप्त अभिलेखों में मिलता है। जैन मुख्यतः गुजरात, मेवाड़ एवं मालवा क्षेत्र में प्रसरित थे, जहां ये अभिलेख पाये गये हैं। इस प्रकार 'पारुत्था' सिक्के पार्थियनों के सिक्कों के अनुकरण पर बने थे जहां पर इनका शासन क्षेत्र रहा था।[2]

जबकि वी0एस0 अग्रवाल इसे स्वदेशी मूल का सिक्का मानते हैं। उनके अनुसार चूंकि इनका प्रचलन मारवाड़ एवं बम्बई क्षेत्रों में था, अतः इन्हें विदेशी मूल का मानना उचित नहीं है। वे इसे 'श्रीमाल' एवं 'भीलमाल' द्रम्म मानते हैं।[3]

एक पारुत्था द्रम्म एक सामान्य द्रम्म से ज्यादा कीमती होता था। 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में एक पारुत्था द्रम्म के बराबर आठ द्रम्म बताया गया है।[4] इस प्रकार इसका वजन 540 ग्रेन (67.5 X 8) ग्रेन के आसपास माना जायेगा। किन्तु अभी तक इतने वजन के सिक्के नहीं प्राप्त हुये हैं। अतः यह उत्तम धातु के निर्मित होने के कारण ज्यादा मूल्यवान था इस बात की अधिक संभावना दिखती है।[5] यह संभावना भी व्यक्त की जा सकती है कि अत्यधिक हीन या मिश्रित धातु के सिक्कों की तुलना में 'पारुत्था' सिक्के विशुद्ध चांदी के या चांदी पर सोने की परत चढ़े सिक्के हों।[6] जबकि सुशील मालती देवी[7] ने

---

1. बॉम्बे गजेटियर, 1, 2, 21 नो0 6
2. देवी, सुशील मालती, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 211.
3 अग्रवाल, वी0एस0, जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, 17, पृ0 75
4. पुरातन प्रबंध संग्रह, पृ0 53, जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, 17 भाग 2, पृ0 64.
5. गोपाल लल्लनजी, पूर्वनिर्दिष्ट 1965, पृ0 199.
6. शर्मा, दशरथ, जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, 22, पृ0 196
7. देवी सुशील मालती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 299.

मुनिजीनविजय[1] के कथनानुसार इसके सुवर्ण से निर्मित होने की संभावना व्यक्त की हैं। जो भी हो यह निश्चित है कि यह एक मूल्यवान मुद्रा थी।

पंचीयक द्रम्म

सियाडोनी अभिलेख में पंचीयक द्रम्म का सन्दर्भ आया है।[2] इसके नाम के आधार पर बी0एन0 पुरी यह प्रतिपादित करते हैं कि यह सिक्का स्थानीय गोष्ठी या पंचायत द्वारा चलाया गया था।[3] डी0आर0 भण्डारकर का भी यही मत है कि ये स्थानीय पंचायत द्वारा जारी किये गये थे।[4] जबकि बी0वी0 मिराशी कहते हैं कि यह एक द्रम्म का चतुर्थांश द्रम्म होता था एवं यह पंचायक द्रम्म इसलिये कहा जाता था क्योंकि इसका मूल्य पांच विमसोपाक के बराबर होता था।[5]

यह ध्यातव्य है कि सियाडोनी अभिलेख में पंचायक द्रम्म के चतुर्थांश सिक्के (पंचायक-द्रम्म-पाद) का उल्लेख है। इस प्रकार यह सिक्का द्रम्म के 1/16 भाग के बराबर मूल्य का हुआ। यदि वजन में देखा जाय तो यह अत्यधिक सूक्ष्म मुद्रा होगी। अतः यह 'द्रम्म के 1/16 मूल्य वाला सिक्का' यह माना जाना चाहिये एवं यह संभवतः तांबे का होता था।[6]

द्विवल्लक द्रम्म

लेखपद्धति[7] तथा अन्यत्र द्विवल्लक द्रम्म का सन्दर्भ प्राप्त होता है। यह द्रम्म का एक उपविभाग था एवं 2 वल या 6 रत्ती अर्थात् 10.98 ग्रेन का होता था।

---

1. मुनिजिनविजय, कथाकोष प्रकरण, पृ0 28
2. एपिग्राफिया इण्डिका, I, पृ0 169.
3 पुरी0बी0एन0, द हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहारार्स, बाम्बे, 1957, पृ0 134
4 कारमाइकेल लेक्चर्स ऑन एनशियण्ट इण्डियन न्यूमिसमैटिक्स, कलकत्ता, 1921
5 कॉपर्स इन्सक्रिप्शन्स इण्डीकेरम, IV,
6. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 202.
7. लेखपद्धति, पृ0 118

आदि वराह, वीग्रहपाल, बीसलदेव द्रम्म

कुछ भारतीय शासकों ने अपने नाम से भी 'द्रम्म' जारी किये। प्रतिहार नरेश भोज (836 ई0 से 889 ई0 सन् तक) प्रथम द्वारा 'आदि वराह द्रम्म' प्रवर्तित किये गये।[1] इसे श्रीमद् आदिवराह द्रम्म, वराही द्रम्म, वराहमुद्रा[2] भी कहा गया है। इस मुद्रा की पहचान भोज प्रथम द्वारा जारी की गयी भारत-सासानी (इण्डो-सासानियन) ढंग की मुद्रा से की गयी है जिसके मुख भाग पर विष्णु के वराह अवतार का चित्रण है एवं पृष्ठ भाग पर मोटे नागरी अक्षरों में दो पंक्तियों में 'श्रीमदादिवराह' लेख अंकित है। नीचे अग्निवेदिका के मध्यभाग का हीन ढंग से अंकन है। भोज के पौत्र विनायकपाल द्वारा भी इसी ढंग की मुद्रा चलायी गयी।

कुछ विद्वानों का मत है कि पाल नरेश विग्रहपाल ने 'विग्रहपाल द्रम्म' जारी किये।[3] इनका मत है कि चांदी की मुद्रायें जिन पर श्री विग्र(ह) श्री वि, या श्री लिखा है, विग्रहपाल की हैं। सियाडोनी अभिलेख में 'विग्रहपालीय द्रम्म' का सन्दर्भ प्राप्त है। इस प्रकार के द्रम्म बिहार एवं उत्तर प्रदेश से बड़ी में प्राप्त हुये हैं, किन्तु बंगाल में इनका नहीं पाया जाना आश्चर्य उत्पन्न करता है।

'विसलप्रिय द्रम्म' बघेला वंशीय नरेश बीसलदेव द्वारा जारी किये गये।[4] विभिन्न अभिलेखों एवं साहित्य[5] में इसका सन्दर्भ प्राप्त है किन्तु इस तरह का एक भी सिक्का अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।

---

1. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग I, पृ0 169.
2. द्रव्यपरीक्षा, श्लोक 90.
3 मजूमदार, आर0सी0, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग I, पृ0 667.
4. जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, भाग 17, पृ0 73.
5. लेखपद्धति पृ0 42.

अजयदेव द्रम्म

अजयदेव द्रम्म[1] जिसे अजयप्रियरूपका[2] भी कहा गया है, चौहान नरेश अजयदेव (1105 ई0 से 1130 ई) द्वारा जारी किये गये। ये राजस्थान से प्राप्त हुये हैं।

भीमप्रिय द्रम्म

भीम नामक चालुक्य राजा द्वारा भीमपुरी सिक्के चलाये गये।[3] इसे ही भीमप्रियाद्रम्म, भीमपुरी द्रम्म एवं भीमसेन द्रम्म कहा गया है।[4]

ट्रम्म के उपविभाग

द्रम्म के आधा, तीन चौथाई एवं चौथाई भाग जो क्रमशः द्रम्मार्ध या द्रम्मर्धिका, द्रम्मत्रिभाग एवं पाद कहे गये है, प्रचलन में थे। गणितसार की गुजराती टीका में द्रम्म के आधे भाग को द्रम्मार्ध कहा गया है।[5] सियाडोनी अभिलेख में भी द्रम्म के आधे भाग को द्रम्मार्ध एवं तीन-चौथाई भाग को 'द्रम्म-त्रिभाग' कहा गया है[6] चन्देलों के समय द्रम्मों के अर्द्धद्रम्म एवं पादद्रम्म के प्रसंग प्राप्त है।[7]

(2) दीनार

पूर्वमध्यकाल में दीनार एक अन्य महत्वपर्णू मुद्दा थी। 'दीनार' शब्द की व्युत्पत्ति रोमन मुद्दा डेनेरियस से हुयी है। 'दीनार' गुप्तकाल में एक सुवर्णनिर्मित सिक्का होता था किन्तु रोम में यह चाँदी का सिक्का था।

---

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 45, पृ0 538
2. पृथ्वीराज विजय महाकाव्य, 5, पृ0 88-89.
3 गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पू0 197
4. पुरातनप्रंध संग्रह पृ0 33, 34,65, 95
5. गणितसार, ज0 न्यू0 सो0 इ0, भाग 6, पू0 140
6 एपिग्राफिया इण्डिया भाग 10, पृ0 162-177.
7. ज0 न्यू0 सो0 इ0, भाग 4, पू0 33.

समराइच्चकहा,[1] कुवलयमालाकहा[2] उपमितिभवप्रपंचकहा[3], वृहत्कथाकोष[4] कथाकोषप्रकरण[5] राजतरंगिणी[6] कथासरित्सागर[7], एवं प्रबंध चिन्तामणि[8] आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख प्राप्त है।

गुप्तकालीन स्मृति में बारह धानक बराबर एक दीनार बताया गया है।[9] भक्षालि पाण्डुलिपि (नवीं-दसवी शती) में एक दीनार को बारह धानक एवं एक धानक को साठ रत्ती के बराबर कहा गया है।[10] अतः दीनार 12 X 60 = 720 रत्ती हुआ। संभवतः गुप्तोत्तर काल में दीनार एक विशेष मुद्रा का सूचक नहीं रहा अपितु यह किसी भी मुद्रा अथवा नगद के रूप में प्रयुक्त होता था।

(3) दिरहम

इस काल में प्रचलित एक अन्य सिक्के 'दिरहम' के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। जब महमूद गजनवी ने मुल्तान पर अभियान किया तो वहाँ के नागरिकों को बीस लाख दिरहम का जुर्माना देना पड़ा।[11] प्रतिहार नरेश आनन्दपाल को पराहित करने के पश्वात् बहुत से धन के साथ वह सातकरोड़ दिरहम भी लेता गया[12] अलबरूनी ने भी दिरहम का उल्लेख किया है। वह कहता है कि दिरहम एवं उसके भाग विभिन्न शहर एवं जिले के अनुसार भिन्न-भिन्न होते थे एवं वे संख्या के अनुसार गिने जाते थे वजन के

---

1. समराइच्चकहा, 2, पृ0 114, 171
2. कुवलयमाला कहा पृ0 32.
3 उपमितियवप्रपंचकहा, पृ0 353.
4. वृहत्कथाकोष, पृ0 262.
5 कथाकोषप्रकरण , पृ0 66.
6 राजतरगिणी, तरंग 6 श्लोक 38
7. कथासरित्सागर, 6, 191-192.
8. प्रबंधचिन्तामणि, पृ0 8, 104, 121, 163, 183, 184
9 नारद स्मृति, श्लोक 60 कार्षापणोण्डिकाज्ञेया तातचतस्त्रस्तु धानका·। ताद्वाश सुवर्णस्तु दीनाराख्यः स एवतु।।
10. भक्षालि पाण्डुलिपि, पृ0 142.
11. नियोगी, पुष्पा, पूर्वानिर्दिष्ट , पृ0 300
12. वही.

अनुसार नहीं।[1] मुस्लिम लेखक इसे तातारीय दिरहम कहते हैं एवं इसका प्रचलन मन्सूर में बताते हैं।[2] अलमसूदी[3] इसे ताहिरीय एवं इब्नहौकल[4] इसे तातरी दिरहम कहता है।

ध्यातव्य है कि मुस्लिम लेखक दो प्रकार के सिक्कों का नाम लेतें हैं– दीनार एवं दिरहम। जब कभी वे महमूद द्वारा लूटे गये धन का मूल्यांकन करते हैं तब वे 'दीनार' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु जब वे भारतीय राजाओं द्वारा उसको दिये गये धन का उल्लेख करते हैं तब वे 'दिरहम' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार नाजिम के अनुसार जब महमूद ने जयपाल को पराहित किया तब उसके द्वारा लूटे गये माल में मोती के पन्द्रह हार थे जिसमें से एक की कीमत 80,000 दीनार थी। सोमनाथ से लूटे गये माल की कीमत 2 बिलीयन दीनार आंकी गयी है। जबकि गंगा के दोआब से लूटे गये माल के लिये दिरहम शब्द का प्रयोग किया गया है। मुस्लिम आक्रमणकारी भारतीय दीनार एवं दिरहम के बीच विभेद नहीं करते थे क्योंकि भारतीय दीनार स्वयं उनके दिशों में प्रचलित दीनार से भिन्न थी। इस प्रकार उनके द्वारा दीनार एवं दिरहम एक ही प्रकार को कहा गया हैं।[5]

(4) पण

पूर्वमध्यकालीन साहित्य एवं अभिलेखों में पण का भी मुद्रा के रूप में प्रयोग मिलता है। भोजदेव के कामनप्रस्तर अभिलेख में द्रम्म के साथ पण का सिक्का के रूप में उल्लेख हुआ है।[6] कथासरित्सागर में पण एवं आधेपण का सन्दर्भ आया है।[7]

---

1 सचाऊ, अलबरूनी का भारत, पृ0 160.
2 इलियट एवं डाउसन, 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एस होल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, I, पृ0 78
3. वही, पृ0 24
4. वही, पृ0 35
5. देवी सुशील मालती, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 299.
6. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-24, पृ0 272
7. कथासरित्सागर, 1 पृ0 63, 5 पृ0 92

यह एक कम मूल्य का सिक्का था। पूर्वकालिक नारद स्मृति में 48 काकणि को एक माष या एक पण के बराबर बताया गया है। एक पण की कीमत पांच कौड़ी के बराबर थी।[1]

(5) पुराण

पूर्वमध्यकाल में पुराण नामक सिक्का भी प्रचलित था। सेन अभिलेखों में 'पुराण' नामक सिक्के का उल्लेख मिलता है।[2]

(6) रूपक्का

पूर्वमध्यकाल में सिक्के के रूप में 'रूपक' का भी उल्लेख मिलता है। कुवलयमाला कहा में सागरदत्त नामक एक श्रेष्ठी मात्र कुछ रूपक्का की पूँजी से सत्तर मिलियन कमाने की सोचता है।[3] उपमितिथवप्रपंचकथा, कथासरित्सागर, प्रबंधचिन्तामणि आदि ग्रन्थ एवं अहाड़ आदि अभिलेखों में इस सिक्के के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

कौटिल्य सोने; चाँदी एवं ताँबे तीनों धातु के बने रूपकों का उल्लेख करता है।[4] किन्तु वृहत्संहिता में मात्र रजतरूपकों का उल्लेख है। अहाड़मंदिर अभिलेख में कहा गया है कि एक हाथी की बिक्री में एक द्रम्म लिया गया जबकि एक घोड़े की बिक्री में दो रूपक्का लिया गया।[5] इस आधार पर बी0 एन0 पुरी[6] यह प्रस्तावित करते हैं कि रूपक्का एक चाँदी का सिक्का था। सोने का नहीं। एक हाथी एक घोड़े से ज्यादा कीमती होता है अतः यह अनुमान करना निरर्थक है कि घोड़ें के विक्रेता को स्वर्ण देना पड़ा जबकि हाथी लिये कम मूल्य देना पड़ा। वे कहते है कि रूपक्का एक चाँदी का सिक्का था

---

1 मजूमदार, ए0 के0 चालुक्यान ऑफ गुजरात, बाम्बे, 1956, पृ0-272
2 इन्सिक्रिप्शन्स् ऑफ बंगाल, 3, पृ0 96
3. कुवलयमालाकहा, पृ0 105
4. अर्थशास्त्र 2-12, पृ0 86-87
5 इण्डियन एण्टीक्वेरी 47, पृ0 162
6 पुरी0 बी0 एन0, द हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहारार्स, पृ0 135

एवं उसकी कीमत 1/4 से 1/20 द्रम्म के बराबर थी।[1]

वस्तुतः इस समय सोने एवं चाँदी दोनों के निर्मित रूपक चलते थे एवं उनमें क्रमशः 5:2 का अनुपात होता था।[2] कथासरित्सागर[3] एवं राजतरंगिणी[4] में स्वर्णरूपक का उल्लेख मिलता है। गणितसार की गुजराती टीका के अनुसार एक द्रम्म में पांच रूपक होते थे।[5]

(7) टंका

राजतरंगिणी[6] प्रबंधचिन्तामणि[7] एवं मुस्लिम लेखकों की रचनाओं में टंके का प्रसंग मिलता है। मध्य प्रदेश के एक अभिलेख[8] में विजयराज टंका का उल्लेख आया है। मुसलमानों के विजय के पूर्व उत्तर भारत में टंका नामक सिक्का लोकप्रिय था।[9]

ठक्कुर पेरू की गणितसार में एक टंका को 50 द्रम्म के बराबर बताया गया है। कुछ विद्वान् इसे रजत निर्मित बताते हैं। लल्लनजी गोपाल इसे सुवर्ण निर्मित मानते है।[10] वी0 वी0 मिराशी के अनुसार यह सोने का बना होता था।[11] रूपया टंका एवं हेमटंका के प्रसंग यह सिद्ध करते हैं कि टंका सोने एवं चांदी दोनों का होता था।[12]

1. पुरी0 वी0 एन0, द हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहारार्स, पृ0 135
2 देवी सुशील मालती, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 211
3. कथासरित्सागर, 78, 11,13
4. राजतरंगिणी 1, 6,45, पृ0 239
5. ज0 न्यू0 सो0 ई0 8, पृ0 144
6. राजतरगिणी, तरंग 8 श्लोक 142
7 प्रबंधचिन्तामणि, 8, 29
8 इंस्क्रिप्शनस् ऑफ द कलचुरि चेदि ऐरा बाई वी0 वी0 मिराशी, कॉपर्स इन्सिक्रिप्शन इण्डेकोरियम 4, पृ0 147
9. इलियट एव डाउसन, भाग 3 पृ0 445
10. गोपाल लल्लनजी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 210
11. कॉपर्स इन्सक्रिप्शन्स इण्डिकेरम, 4, 147
12. कर्तार गच्छ ब्रहद्गुरुवावली, पृ0 74-75

(8) विमसोपाक

जयसिंह के पेन्हरा शिलालेख में इस सिक्के का विवरण प्राप्त होता है।[1] प्रो0 मिराशी के अनुसार इसे द्रम्म का बीसवां भाग होने के कारण इसका नाम विशोपक पड़ा है।[2] डॉ0 भण्डारकर के अनुसार यह ताँबे का एक सिक्का था तथा मूल्य में द्रम्म का बीसवां भाग माना जाता था। द्रव्यपरीक्षा में भी इसका यही मान निश्चित किया गया है।[3] बागड़ के परामारशासक चामुण्डराज के अर्थुणा शिलालेख में 'वृष विंशोपक' नाम एक सिक्के का प्रसंग आया है।[4] लल्लनजी गोपाल के अनुसार यह विंशोपक का ही एक रूप था जिस पर बैल (वृषभ) का चित्र अंकित रहता था इसी कारण इसे 'वृषविंशोपक' कहा जाता था।[5]

(9) कार्षापण

भोज के युक्तिकल्पतरू में कार्षापण का उल्लेख एक मुद्रा के रूप में रूप हुआ है।[6] इसका मूल्य टका से कम था एवं यह एक रजत मुद्रा थी। इसका मूल्य एक कर्ष या 80 रत्ती होता था।[7] बीजापुर (जोघपुर जिला, राजस्थान) से प्राप्त एक अभिलेख में इसका मुद्रा के रूप में उल्लेख हुआ है।[8] प्रस्तुत अभिलेख से ज्ञात होता है, कि प्रत्येक घट तेल पर एक कर्ष कर के रूप में वसूल किया जाता था। डॉ0 भण्डारकर के अनुसार यहाँ 'कर्ष' का तात्पर्य ताम्र कार्षापण से है।

---

1 द्रव्य परीक्षा, उद्धृत दशरथशर्मा पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 119
2. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 21, पृ0 48, पंक्ति 3
3 कार्पस भसाग 4, पृ0 189
4 एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 14, पृ0 302
5. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 205
6 युक्तिकल्पतरू पृ0 15
7 ज0 न्यू0 सो0 इ0 भाग 19, पृ0 117
8 एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 10, पृ0 19, 127

(10) कार्पदक या कौड़ी

पूर्वमध्यकाल में व्यापार में कौड़ी का भी मुद्रा रूप में प्रयोग होता था। इसको भारत के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता था। बंगाल में इसे कार अथवा कारी, गुजरात में कौड़ा और छत्तीसगढ में कोरा कहा जाता था। फाहियान के विवरण से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में भी कहीं-कहीं पर व्यापार में कौड़ी का प्रयोग होता था।[1] चीनी चात्री ह्वेनसांग (सातवीं शताब्दी) ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।[2]

कौड़ी पूर्वमध्यकाल में व्यापार में प्रचलित सबसे कम मूल्य का सिक्का था। इसका अधिकतर प्रयोग देश के स्थानीय एवं आंतरिक व्यापार में होता था। इसके निधान देश के विभिन्न भागों में पाये गये हैं।

काश्मीर में कौड़ियों का पर्याप्त मात्रा में प्रचलन था। राजतरंगिणी में एक सन्दर्भ आया है कि राजा संग्रामराजा ने अपनी जीवनवृत्ति एक कौड़ी से शुरू की एवं वह करोड़ो की स्थिति में पहुँच गया।[3] क्षेमेन्द्ररचित समयमात्रक में कौड़ी का उल्लेख एवं अन्य प्रसंग इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।[4]

उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में भी कौड़ी व्यापार में प्रचलित थी। सियाडोनी प्रस्तर अभिलेख में कापर्दक (कौड़ी) के द्वारा विनिमय की पुष्टि होती है।[5] उत्तर प्रदेश के लखनऊ जिले के भोन्द्री नामक स्थान से प्रतिहारवंशीय विनायकपाल की मुद्राओं के साथ पायी गयी 9834 कौड़ियाँ, इस क्षेत्र में इसकी लोकप्रियता को प्रमाणित करती है।[6] बिहार में भी कौड़ियाँ प्रचलित थी।

---

1. लीज, रिकार्डस ऑफ बुद्धिष्टिक किंगडम्स बिइंग एन एकाउण्ट ऑफ चाइनिज माक फाहियान, पृ043
2. वाटर्स, भाग 1, पृ0 178
3. राजतरंगिणी, 7, 122
4. समयमात्रक, समय 8, श्लोक 80
5. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृ0 173
6. ज0 न्यू0 सो0 इ0, भाग 10, पृ0 28

धर्मस्वामी के कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है।[1]

बंगाल में पूर्वमध्यकाल में कौड़ियों का पर्याप्त प्रचलन था। मिनहाज ने भी कहा है कि जब मुस्लिम लोग प्रथम बार बंगाल गये तब उन्हें वहाँ पर लोग सिक्के नहीं वरन् कौड़ियों का प्रयोग करते दिखे।[2] सन्ध्याकरनन्दी रचित रामचरित (ग्यारहवी शता0) से इस बात की सूचना मिलती है कि पालनरेश मदनपाल सेना को भोजन के अलावा वेतन कौड़ियों में देता था।[3] सेन काल के ताम्रलेखों में ज्ञात होता है कि भूमिकर कापर्दक पुराणों में निश्चित किया जाता था।[4] उड़ीसा के पुरी जिले के एक अभिलेख में मार्कण्डेश्वर मंदिर के प्रकाश हेतु तीन पण कौड़ी के निवेश का विवरण इस क्षेत्र में कौड़ी के प्रचलन की जानकारी प्रदान करता है।

गुजरात क्षेत्र में भी कौड़ियाँ प्रचलित थी। गणितसार की गुजराती टीका में इसका उल्लेख है। इसमें कहा गया है- 20 कौडा (कौड़ी) बराबर 1 कंकिणी, 4 कंकिणी बराबर एक पण एवं 16 पण बराबर एक पुराण।[5] लीलावती (12वीं शती) में भी इसी प्रकार का फार्मूला दिया गया है।[6]

20 वरटंका = 1 कंकिणी

4 कंकिणी = 1 पण

1 पण = 16 द्रम्म

एक पण जो संभवत एक ताम्र सिक्का था 80 कौड़ी के बराबर होता था। जबकि एक पुराण या ट्रम्म में 1280 कौड़ी होती थी।[7]

---

1. रीच, जी0 बायोग्राफी ऑफ धर्मस्वामिन् इनटॉर्ड पृ0 28
2 तबकाते नासिरी पृ0 556
3. हरप्रसाद शास्त्री सम्पादित, 4, पृ0 92
4. इपि0 इण्डिका, 28, पृ0 180
5 ज0 न्यू0 सो0 ई0, 8 1146, पृ0 140
6. लीलावती 1 2
7. अग्रवाल आर0 सी0 ज0 न्यू0 सो0 इ0, 20 1958, पृ0 40

(11) सुवर्ण

सुवर्ण भी इस काल में प्रचलित सोने का सिक्का था। समराइच्चकहा में 'षोडश सुवण' का प्रसंग आया है।[1] कुवलयमालाकहा में राजा दृढ़वर्मन् द्वारा अर्द्धसहस्र (500) सुवर्ण का इनाम देने का उल्लेख है। उपासकदसाओं में हिरण्य एवं सुवर्ण शब्द साथ-साथ प्रयुक्त हुये हैं।[2] भण्डारकर के अनुसार जब सुवर्ण हिरण्य के साथ आया है तो वह सोने का नही बल्कि मिश्रित सोने के सिक्के का सूचक है।[3] धर्मशास्त्रों में 70 रूपक्का एक सुवर्ण के बराबर बताया गया है[4] एवं 28 रूपक्का के बराबर एक दीनार बताया गया है। इस प्रकार दीनार एवं सुवर्ण के बीच प्रचलित मूल्य 2:5 का था। अलतेकर के अनुसार सुवर्ण एक सोने का सिक्का था जो 144 ग्रेन या 80 रत्ती से ज्यादा भारी था।[5]

(12) कंकिणी

यह एक लघु मूल्य की मुद्रा थी। मेदिनीकोश में 20 कार्पदक को एक कंकिणी के बराबर बताया गया है।[6] यादव प्रकाश के वैजयन्ती में भी इसका मुद्रा के रूप में उल्लेख हुआ है और उपयुक्त मान (मूल्य) निश्चित किया गया है।[7]

(13) वरमाला

वृहत्कथाकोष में 'वरमाला' शब्द का कई स्थलों पर एक सिक्के के रूप

---

1. समराइच्चकहा, 4, पृ0 244, 558
2. उपासकदसाओं, 7, पृ0 6
3. भण्डारकर, आर0 जी0 एनाशियण्ट इण्डियन न्यूमिसमैटिक्स पृ0 51
4. काणे, पी0 वी0 हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्रास्, भाग 3, पृ0 122
5. अलतेकर, ए0 ए0, गुप्ता बाकाटक एज, पृ0 360
6. मेदिनीकोश, पृ0 88
7. वैजयन्ती, पृ0 247

में उल्लेख है।[1] इस ग्रन्थ की एक कहानी में एक स्त्री द्वारा एक वरमाला से एक रोहित मछली खरीदने का प्रसंग आया है। संभवत यह चांदी का कम मूल्य का एक सिक्का था।[2]

इसके अतिरिक्त पूर्वमध्यकाल में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। जैसे निष्क[3], धरण[4], पल[5], दाम[6] आदि अनेकानेक नाम एवं मूल्य वाले सिक्के व्यापार में प्रयुक्त होते थे।

इस प्रकार इस समय स्वर्ण, रजत, ताम्र एवं मिश्रित धातु के सिक्के चलते थे। कौड़ियाँ भी इसी उद्देश्य को पूरा करती थीं रैप्सन[7] ने उषावदत्त के नासिक लेख (120 ई0 सन्)[8] के आधार पर सोने एवं चांदी के बीच 1:10 का अनुपात निश्चित किया था। गुप्तकाल में सोने के एक ग्रेन का मूल्य चांदी के 8 ग्रेन के बराबर था।[9] किन्तु जिनेश्वरसूरी के वर्णन से हमें ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकाल में सोने केन्द्र एक टुकड़े का मूल्य समान वजन के चांदी के एक टुकड़े की तुलना में 15 गुना अधिक था।[10] इस समय सोना ज्यादा मूल्यवान हो गया था एवं यह इसकी आपूर्ति में कमी का द्योतक है।[11]

विनिमय के अन्य साधन

ग्रामीण क्षेत्रों में धातु मुद्रा के साथ कुछ अन्य प्रकार की वस्तुयें भी प्रयुक्त की जाती थीं। चावल विनिमय का एक प्रमुख साधन था। राजतंरगिणी में 'दीनार ओज्जामचीरिका' एवं 'धान्योज्जाम्चीरिका' का उल्लेख आया है

---

1. वृहत्कथाकोष, पृ0 47
2. राजस्थान थ्रो द एजस, पृ0 502
3. पुण्याश्रव्यकथाकोष, पृ0 321
4. लीलावती (कोलब्रुक) I, पृ0 2
5. भक्षालिपाण्डुलिपि
6. पुरातन प्रबंधसंग्रह, पृ0 8
7. कैटलाग ऑफ द क्वायंस ऑफ आन्ध्रा डायनेस्टी पृ0 cixxv.
8. सरकार डी0सी0, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ0 157.
9. मैटी0 एस0 के0 'इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया इन गुप्ता पीरियड पृ0 172

जिसका तात्पर्य क्रमशः नकद (दीनार) एवं अन्न के निमित्त बंधन से है।

अदल–बदल प्रणाली

ए0के0 मजूमदार कहते हैं कि इस समय के साहित्य में अदल–बदल प्रणाली का एक भी प्रसंग प्राप्त नहीं है।[1] किन्तु इस सम्बन्ध में हम अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। त्रिशष्टिश्लाकापुरूष चरित[2] में वर्णित है कि धन नामक व्यापारी वसन्तपुर में अपने सामान बेचने के बदले में वापस कुछ माल लेकर लौटा।[3] गणित सम्बन्धी ग्रन्थ लीलावती[4] एवं गणितसारसंग्रह[5] में अदल–बदल के समय वस्तुओं के मूल्य के सम्बन्ध में नियम प्रतिपादित करते हैं।

पूर्वमध्यकाल में अदल–बदल प्रणाली को वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक रूप का सूचक नहीं मानना चाहिये। वास्तव में अदल–बदल कुछ खास किस्म की वस्तुओं में होता था जैसे रेशम एवं मसाले जो मुद्रा की ही तरह स्थिर एवं ठोस मानी जाती थीं।[6] इसके अलावा जो व्यापारी देशीय एवं अन्तर्देशीय यात्रा करते थे, वे सामान लेकर गये अपने जहाज, गाड़ी एवं भारवाही पशु खाली लेकर वापस नहीं लौटना चाहते थे। अतः यह स्वाभाविक था कि अपना माल बेचने पर अपने क्षेत्र में विक्रय हेतु वहां का स्थानीय समान खरीद लेते थे इस प्रकार वे दुगुना लाभ उठाते थे।[7]

सिक्कों के प्रकार

पूर्वमध्यकालीन मुद्राओं को अंकन चिह्नों के आधार पर मोटे तौर पर

---

10. गोपाल, लल्लनजी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 191.
11. जैन, वी0के0, ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ0 160
1. मजूमदार ए0के0, चालुक्याज ऑफ गुजरात, पृ0 269.
2. त्रिशष्टिश्लाकापुरूषचरित, I, पृ0 7
3. त्रिशष्टिश्लाकापुरूषचरित, I, पृ0 7
4. लीलावती, पृ0 35.
5. गणितसारसंग्रह 4, पृ0 37.
6. जैन, वी0के0 पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 150
7. वही.

पाँच प्रमुख वर्गों में बांटा जा सकता है।[1] ये हैं–इण्डो–सासानी प्रकार, कुषाण प्रकार, गुप्त प्रकार, बैठी लक्ष्मी प्रकार तथा बैल एवं घुड़सवार प्रकार। इनमें से बाद के दो प्रकार पूर्ववर्ती तीन प्रकारों के सुधार एवं भारतीय चिह्नों को अपनाने से उत्पन्न है।[2]

1. इण्डोसासानी प्रकार

हूण जाति भारत आगमन से पूर्व फारस में प्रविष्ट हुयी थी। वहाँ शासन कर रहे सासानी नरेशों के मुद्राअंकन अभिप्राय को हूणों ने अपनाया। जिसके अग्रभाग पर राजा का सिर एवं पृष्ठभाग पर दो पहरेदारों सहित अग्निवेदिका अंकित थी। भारत में आकर उन्होंने इसी प्रकार के सिक्के चलाये। इसका अनुकरण अनेक भारतीय शासकों खास कर पश्चिम एवं पश्चिमोत्तर भारत के राजाओं द्वारा किया गया। इन सिक्कों को सासानी सिक्कों का अनुकारक देखकर उन्हें भारत–सासानी (इण्डो–सासानी) नाम दिया गया है।[3] भारतीयों ने इस प्रकार के हीन अनुकृति के सिक्कों को गधिया कहा।

यह सिक्के तांबे एवं चांदी दोनों के बने थे। इस प्रकार के जारी किये गये चांदी के सिक्के सामान्यतः 'द्रम्म' कहे जाते थे। ये 'यूनानी द्रम्म के सिद्धांत के अनुरूप थे[4] जिनका वजन 67.5 ग्रेन होता था।

इस प्रकार के सिक्कों को भारत में 'गधिया' नाम से अभिहित किये जाने के विषय में विभिन्न विद्वानों के अलग–अलग मत हैं।

जी0पी0 टेलर ने गधिया शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'गर्दभीया' से मानी है। जो सासानी शासकों को सूचित करता है। सासानी नरेश वरहरन

1. लाहिड़ी, बेला, जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, भाग 42, 1980, पृ0 78
2. वही.
3. सिंह, ओंकारनाथ, गुप्तोत्तर कालीन उत्तर भारतीय मुद्राएं, पृ0 27.
4. लाहिड़ी बेला, ज0न्यू.सो.इ. 42, 1980, पृ0 78.

(419 ई0 से 428 ई) को यह नाम जंगली गधों का पीछा करने के कारण मिला था। शत्रुतावश हूणों ने सासानियों के सिक्के को गधासिक्का (ऐस मनी) कहा। किन्तु जब हूणों ने स्वयं उनके सिक्कों का अनुकरण किया तब उनके सिक्के भी गधिया सिक्के कहे गये।[1] कनिंघम इन सिक्कों के पृष्ठ भाग पर गद्दी (आसन) के चित्रण को मानते हुये इसे गधिया नाम का कारण मानते हैं।[2] परमेश्वरी लालगुप्ता अभिलेखों में सिक्कों के रूप में उल्लिखित 'गद्याणक' शब्द को 'गधिया' से जोड़ते हैं।[3] किन्तु यह मत यौक्तिक नहीं है क्योंकि मालवा, गुजरात एवं राजस्थान के जिन क्षेत्रों से ये सिक्के मिले हैं वहां सिक्कों के लिये ज्यादातर 'द्रम्म' शब्द आया है। उत्तर भारत के गाहड़वालों[4] के अभिलेखों को छोड़कर 'गद्याणक' शब्द दक्षिण भारतीय अभिलेखों में ही प्राप्त है। पुनः लीलावती[5] में यह शब्द सोने के सिक्के को द्योतित करता है।

इन सिक्कों पर अंकित प्रतीकों का भारत में प्रचलन हूणों की मुद्राओं के साथ ही शुरू हुआ। वस्तुतः ये सासानी नरेश फिरोज के अनुकरण पर बने सिक्के हैं।[6]

भारत में प्रचलित इस प्रकार के सिक्के विभिन्न प्रकार के हैं:-

(1) कुछ पतले एवं चौड़े हैं एवं सासानी नरेशों का अनुकरण करते हैं। मुख भाग पर शासक का उर्ध्वचित्र एवं पृष्ठ भाग पर सासानी अग्निवेदिका केवल कुछ खड़ी लकीरों के रूप में ही उपलब्ध होता है। ये ज्यादातर मेवाड़ क्षेत्र से ही प्राप्त हुये हैं।[7] कनिंघम इनको लेखहीन एवं मात्र एक अक्षर से

---

1. ज0ए0सो0 बं0, 1904, पृ0 372
2. कनिंघम, ए0 क्वायंस ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन 1894, पृ0 47
3. गोपाल, लल्लनजी, अर्ली मेडिवल क्वायंस टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया पृ0 11
4 मजूमदार, बी0पी0, सोशियो इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया (1030-1194), कलकत्ता 1921, पृ0 242
5. लीलावती, 1,3.
6. सिंह, ओंकार नाथ, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 28.
7. वेब, डब्लू0डब्लू0, करेन्सीज ऑफ दि हिन्दू स्टेट्स ऑफ राजपूताना, पृ0 4.

युक्त मानते हैं।[1] किन्तु अलतेकर[2] इन्हें लेखयुक्त मानते हैं एवं उन पर श्री ल, श्री हर, श्रीग, श्रीवर, श्रीम अक्षरों का पाठ करते हैं।[3] इस प्रकार के सिक्के पिपलाज क्षेत्र से प्राप्त खजाने में मिले हैं।[4] यहां मिले सिक्कों पर अंकित शासकों के चित्र में भारतीयता का पुट दृष्टिगत होता है।[5]

(2) इसी प्रकार की पतली बनावट वाले कुछ ऐसे सिक्के प्राप्त हुये हैं जिसके अग्रभाग पर मानव मुख के सामने 'श्रीदाम' लेख है। पृष्ट भाग पर अग्निवेदिका अंकित है।

(3) इस प्रकार के कुछ सिक्के छोटे आकार के एवं मोटे हैं। ये दो प्रकार के थे। पहले में राजा के मुख के सामने बड़े अक्षरों में 'श्री' एवं गले के नीचे 'विग्र' है। पृष्ठभाग पर अग्निवेदिका है।

दूसरे प्रकार में 'श्रीविग्र' अग्र भाग पर है। पृष्ठ भाग पर कलश जैसी आकृति अग्निवेदिका के साथ है एवं अर्धचन्द्र भी अंकित है। ये सिक्के पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त हुये थे।

इन सिक्कों पर अंकित 'श्रीविग्र' लेख को कनिंघम, रैप्सन[6] आदि विद्वानों ने पालवंशीय नरेश विग्रहपाल का सूचक मानकर इसके द्वारा प्रवर्तित माना है। विसेंट स्मिथ ने इसे विग्रहपाल नामक तीन शासकों द्वारा प्रचलित सिक्का माना है।[7] इनमें अच्छे किस्म के इस तरह के सिक्कों को विग्रहपाल प्रथम (845-57 ई0) का, इससे खराब ढंग के सिक्कों को विग्रहपाल द्वितीय (892 ई0) का एवं सबसे हीन ढंग के सिक्कों को विग्रह तृतीय (1054-81

---

1. कनिंघम, ए0 पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 94.
2. अलतेकर, ए0एस0, ज0न्यू0सो0इ0, 8, पृ0 157
3. अलतेकर, ए0एस0, ज0न्यू0सो0इ0, 8, पृ0 157.
4. सिंह, ओंकार नाथ, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 29
5. ज0रा0ए0सो0, 1900, पृ0 119
6. इण्डियन क्वाइन्स, स्ट्रासर, 1897, पृ0 31-34.
7 कैटलॉग ऑफ क्वाइन्स इन इण्डियन म्यूजियम, (ऐंशियण्ट) भाग 1, 1906, पृ0 233

ई0) का माना। इस प्रकार के सिक्कों को पूर्वी अथवा मगध प्रकार के सिक्के कहते हैं। हेमचन्द्रराय चौधरी इसे विग्रहपाल तृतीय का मानते हैं।[1]

सेठी बंगाल में इसके अभाव को देखते हुये इसे शाकम्बरी के चाहमानवंशीय विग्रहजद्वितीय के (973 ई0) होने का अनुमान करते हैं।[2]

वस्तुतः 'श्री विग्र' लेखयुक्त सिक्के उत्तरप्रदेश से एवं बिहार के गंगा के उत्तरवर्ती क्षेत्रों से ही प्राप्त हुये हैं। अतः इन्हें पालवंशीय या चाहमानवंशीय नरेशों का मानना भी यौक्तिक नहीं है। बेला लाहिड़ी इसे भोज के पौत्र विनायकपाल का मानती है।[3]

(4) उत्तर प्रदेश एवं बिहार से प्राप्त निधानों में 'श्रीविग्र' लेखयुक्त सिक्कों के साथ ही एकदम भिन्न अंकन अभिप्राय वाले सिक्के प्राप्त हुये हैं। संरचना में ये उसी तरह चांदी तांबे एवं मिश्रित धातु के हैं एवं आकार में छोटे तथा मोटे हैं।

इन सिक्कों के अग्र भाग पर विष्णु का वाराह अवतार अंकित किया गया है। एक मानवाकृति, जिसका मुख शूकर का है, अपने दांत पर नारी रूप पृथ्वी को उठाये हुये है। गदा एवं चक्र का भी अंकन है। पृष्ठभाग पर मोटे नागरी अक्षरों में दो पंक्तियों में 'श्रीमदादि वाराह' लेख लिखा है। नीचे अग्निवेदिका के मध्यभाग का अत्यधिक क्षीण अंकन है। इसी कारण इन सिक्कों को सासानी सिक्कों का अनुकरण में निर्मित मानकर और भारतीय सासानी सिक्कों के क्रम में रखा जाता है।[4]

इस प्रकार के सिक्के प्रतिहार नरेश भोज प्रथम (840 से 890 ई0

---

1. जू0न्यू0सो0इ0, 30, पृ0 37, 160-62.
2. ज0न्यू0सो0इ0 30, पृ0 37, 160-62.
3. लाहिड़ी बेला, ज0न्यू0सो0इ0 42, 1980, पृ0 79.
4 सिंह, ओंकार नाथ, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 32

सन्) के माने जाते हैं। जिसने 'आदि वराह' उपाधि धारण की थी। हुल्श ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[1]

'श्रीविग्र' एवं 'आदि वराह' लेखयुक्त सिक्के एक समान क्षेत्र एवं समय में प्रचलित थे। इसकी पुष्टि निखातों से दोनों प्रकार के सिक्कों के एक साथ पाये जाने एवं सियाडोनी शिलालेख[2] के विवरण से होती है जिसमें विग्रहद्रम्म, विग्रहपालीय द्रम्म, विग्रहपाल सतक द्रम्म एवं आदिवराह द्रम्म का उल्लेख आया है।

(5) आदिवराह तरह के कुछ अत्यधिक हीन तरह के सिक्कों पर पृष्ठ भाग पर 'विनायकपालदेव' लिखा पढ़ा गया है। ये लखनऊ[3], झांसी[4], हम्मीरपुर[5] एवं फर्रूखाबाद[6] से प्राप्त हुये हैं। इनको वासुदेव शरण अग्रवाल[7] ने प्रकाश में लाया था। ये प्रतिहार नरेश विनायकपाल (914-933 ई) के माने गये हैं।

(6) कुछ इण्डोसासानी वर्ग के सिक्के एकदम भिन्न किस्म के है। इनके अग्रभाग पर शासक के सिर पर शिरस्त्राण है। पृष्ठ भाग पर डमरूनुमा वेदिका का अंकन है। बीच में तारा जैसा चिह्न है। सूर्य एवं चन्द्र का भी अंकन है।

इस प्रकार के 421 सिक्के उरली (पूना) से प्राप्त हुये थे जिसे चिनमुलगुण्ड ने प्रकाशित किया था।[8] चिनमुलगुण्ड का मत है कि ये दक्षिण में आठवी सदी ई0 से राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव अथवा गोविन्दतृतीय के समय से

---

1. स्मिथ द्वारा उद्धृत, कै0क्वा0इ0म्यू0कै0 पृ0 233.
2. एपिग्राफिया इण्डिका, 1 पृ0 332
3. श्रीवास्तव अ0कु0, उद्धृत ओंकार नाथ सिंह, पूर्वनिर्दिष्ट, 1999, पृ0 32.
4. वही.
5. वही.
6. ज0न्यू0सो0इ0 26, पृ0 240
7. श्रीवास्तव अ0कु0, उद्धृत ओंकार नाथ सिंह, पूर्वनिर्दिष्ट, 1999, 10, पृ0 28-30
8 ज0 न्यू0 सो0 ई0 न, वृ0 19-22

प्रचलन में रहे थे। किन्तु अलतेकर कहते हैं कि ये 14 उत्तर भारत से ही लाये गये होंगे। इस प्रकार के सिक्के बम्बई, रत्नगिरि, सतारा से प्राप्त हुये है।[1] बालचन्द्रजैन ने बैतूल, कुलडाना एवं अकोला से मिलने के विषय में जानकारी प्रदान की है।[2] नसिक क्षेत्र से भी इस प्रकार के सिक्के प्राप्त हुये हैं।[3]

ग्यारहवी शताब्दी ई0 के कोंकण के सिलाहार नरेश छित्तराज (1025-1040 ई) के सिक्के ऊरली से प्राप्त सिक्कों के ही समान हैं। पृष्ठ भाग पर अग्निवेदिका की जगह नागरी लिपि में दो पंक्तियों में श्री छित्त/राजस्य लेख है।

गुजरात से गधैया सिक्कों के ग्यारह निधान अहमदाबाद पालनपुर, खेड़ा, मेहसाना, भावनगर एवं जूनागढ़ से प्राप्त हुये है।[4]

मालवा क्षेत्र से भी इसी प्रकार के कुछ सिक्के प्राप्त हुये हैं। यहाँ से प्राप्त कुछ सिक्कों के पृष्ठ भाग पर वेदिका की जगह ॐ एवं कुछ पड़ी लकीरे एवं श्री ओंकार लेख है।

राजस्थान से प्राप्त दो सिक्कों के अग्रभाग पर इण्डोसानानी ढंग का ही मुख है किन्तु पृष्ठ भाग पर नागरी में 'श्री सोमलदेवी' लेख है।[5] कुछ विद्वान इसे चाहमानवंशीय अजयराज की पत्नी सोमलेखा का मानते है। मजूमदार इसे भीम द्वितीय (1178-1241 ई0) की पत्नी सोमल्लदेवी का मानते हैं।

(6) इण्डोसासानी परम्परा के ही कुछ ऐसे सिक्के प्राप्त हुये है जिन्हे

---

1 क्वावायन्स होर्ड फ्राम महाराष्ट्र, निरवात संख्या, 38 तथा 161, 187
2. ई0 फैण्टरी होर्ड्स एण्ड फाइण्डस् क्वायन्स एण्ड सील्स फ्राम मध्यप्रदेश, निरवात 4,7,10,14
3 सिंह ओंकार नाथ, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 34
4 क्वायन्स होर्ड फ्राम गुजरात स्टेट, सख्या 22-34, 35,47, 68, 73,78 86,91,94,95,99,
5. कनिंघम, क्वायन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, 1894, फलक 9/10 एवं प्रिंसेप, एण्टीक्यूटीज ऑफ इण्डिया, भाग-2 (सम्पादक ई0 थामस) पृ0 304,

'अश्वारोही' नाम दिया गया है। इसमें एक युद्ध का दृश्य अंकित है। जिसमें एक घुड़सवार एक पैदल सैनिक पर तलवार से आक्रमण कर रहा है। एक सैनिक घायल एवं एक पीछे से आक्रमण करता दिखाया गया है। कहीं-कहीं घनुष एवं भाला भी अंकित है। दिस्कालकर इसे राष्ट्रकूट वंश से सम्बन्धित मानते हैं।

2. कुषाण प्रकार

पूर्वमध्यकाल में जो मुद्रायें कुषाणों की मुद्राओं के अंकन अभिप्राय का अनुसरण करती हैं उन्हें इस वर्ग में शामिल किया जा सकता है। कुछ कुषाण सिक्को के अग्रभाग पर खड़ा हुआ राजा है जो अग्निवेदिका में हविष डाल रहा है एवं पृष्ठ पर बैठी हुयी ओर्दोक्षों देवी का अंकन है। कुषाण वंश के कनिष्क द्वारा सर्वप्रथम यह प्रकार चलाया गया था।[1]

समुद्रगुप्त का दण्डधारी सिक्का पिछले कुषाणों का शतप्रतिशत अनुकरण था।[2] पिछले कुषाणों के सिक्के भी मूलतः कुषाण सिक्कों के अनुकरण पर बने थे।[3] समुद्रगुप्त के दण्डधारी सिक्के में अग्रभाग पर राजा ईरानी वेष में लम्बा कोट, पायजामा पहने, बाँये हाथ में दण्ड लिये एवं दाहिने हाथ से यज्ञवेदि में हविष डालता चित्रित किया गया है। हाथ के नीचे 'समुद्रगुप्त' लिखा है। पृष्ठ भाग पर सिंहासन पर बैठी आर्दोक्षो देवी, बाँये हाथ में बाली का गुच्छा एवं दाहिने हाथ में पाश लिये हुये अंकित की गयी हैं।

यह प्रकार समुद्रगुप्त द्वारा स्वीकार किये जाने के पश्चात्, उसके एवं उसके उत्तराधिकारियों द्वारा धीरे-धीरे भारतीयकरण कर दिया गया।[4] आर्दोक्षो

---

1. लाहिड़ी, बेला, ज० न्यू० सो० इ०, 42, 1980, पृ० 79
2 उपाध्याय वासुदेव, पूर्वानिर्दिष्ट पृ० 156
3. वही, पृ० 148
4 लाहिड़ी बेला, ज० न्यू० सो० इ० 42, 1980, पृ० 79-80

देवी लक्ष्मी में बदल गयी।

इस तरह की कुषाण प्रकार की मुद्राएँ लगभग बारह सौ साल तक काश्मीर के सिक्कों के लिये आदर्श बनी रहीं।[1]

काश्मीर के सिक्कों के अग्रभाग पर अग्निवेदिका के पास खड़ा राजा एवं उसका नाम तथा पृष्ठ भाग पर बैठी देवी (लक्ष्मी) का अंकन है।

शंकरवर्मन् (883-902ई0) की मुद्राओं के पूर्व तक पृष्ठ भाग पर 'किदार' लेख अंकित है। उप्पल वंश के सर्वप्रथम स्वतंत्र शासक शंकरवर्मन् की मुद्राओं के समय से यह शब्द हट गया। वास्तव में 'किदार' शब्द को अपनाने का यह कारण रहा होगा कि जारीकर्ता स्वयं को 'किदार' जो लघुकुषाण शाखा का प्रमुख था, का उत्तराधिकारी मानते थे। बाद में यह अनायास ही परवर्ती राजाओं द्वारा अपनाया जाने लगा।[2]

प्रवरसेन के रजत सिक्कों के समय से बैठी लक्ष्मी की स्थिति बदल गयी एवं अब वह पृष्ठ भाग की जगह अग्रभाग पर अंकित होने लगीं।[3] अब पृष्ठ भाग पर खड़ा राजा अंकित किया जाने लगा।

इस प्रकार काश्मीर के सिक्कों के अंकनअभिप्राय पूरे पूर्वमध्यकाल के दौरान एक से रहे। मात्र काश्मीर नरेष हर्ष (1084-1102ई0) के सोने एवं चाँदी के सिक्के इसके अपवाद हैं जिसके अग्र भाग पर हाथी अंकित है। हर्ष के ही एक अन्य प्रकार के सोने के सिक्के पर 'घुड़सवार' अंकित है।

बड़ी मात्रा में ऐसे ताँबे सिक्के प्राप्त हुये हैं जो भारतीय-सासानी एवं कुषाणप्रभाव दोनों को दर्शाते हैं। इसमें से सबसे सामान्य तरह के सिक्को के अग्रभाग पर कुषाण अंकन वाला नन्दी के सामने खड़े शिव का अंकन है एवं

---

1. वही.
2. लाहिड़ी बेला, ज0 न्यू0 सो0 इ0 42, 1980, पृ0 79-80
3. सिंह ओंकार नाथ, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 126

पृष्ठ भाग पर कहीं पहरेदारों के साथ अग्निवेदिका, कही 'त्रि' (जो त्रिलोक का सूचक है) शब्द के साथ त्रिशूल तथा कहीं पर विविध चिन्ह सूर्य आदि अंकित हैं।[1]

(3) गुप्तप्रकार

गुप्तप्रकार के सिक्के गुप्तों के सोने की धनुर्धारी प्रकार की मुद्राओं का अनुकरण करते हैं। जिसमें अग्र भाग पर धनुष-बाण लिये राजा खड़ा है एवं पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी बैठी है।

यद्यपि इस प्रकार की गुप्त मुद्रायें भी मूलतः कुषाणमुद्राओं का अनुकरण हैं किन्तु बाद में इसमें भारतीयता का समावेश हो गया और हविषडालते खड़ा राजा धनुर्धारी रूप में एवं आर्दोक्षों देवी, लक्ष्मी के रूप में जो हाथ में कमल लिये एवं कमलामना थीं, में परिणित हो गयी।[2]

बंगाल के जयनाग, समाचारदेव के सिक्के तथा बंगलादेश, त्रिपुरा एवं असम से प्राप्त अनेक स्वर्ण मुद्रायें इसी आदर्श का अनुकरण करती हैं। इनके अग्रभाग पर धनुर्धारी राजा खड़ा हुआ चित्रित है। पृष्ठ भाग पर बैठी लक्ष्मी (कहीं-कहीं बहुभुजी देवी) अंकित है।[3] समाचार देव के एक भिन्न प्रकार के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर राजा पर्याङ्कासीन हैं एवं एक स्त्री भी है।[4] 'शशांक' एवं 'वीरसेनक्रमादित्य' के सिक्को के अग्र भाग पर धनुर्धारी खड़े राजा का अंकन नहीं किया गया है।[5] शशांक के सिक्को के अग्र भाग पर बैठा बैल एवं उस पर असीन शिव एवं पृष्ठ भाग पर गजलक्ष्मी का अंकन है। वीरसेन क्रमादित्य के सिक्कों के अग्र भाग पर खड़ा बैल एवं पृष्ठ भाग पर 'बैठी

---

1. लाहिड़ी, बेला, ज० न्यू० सो० इ०, 42, 1980 पृ० 80
2. वही.
3. वही
4 वही
5. वही.

लक्ष्मी' का अंकन है।

गुप्तों की रजतमुद्राओं का भी अनुकरण पूर्वमध्यकालीन कुछ नरेशों द्वारा किया गया।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने गुप्तमुद्रा में चाँदी के सिक्कों का सर्वप्रथम समावेश किया। यह परिस्थिति उसके द्वारा मालवा एवं सौराष्ट्र विजय करने के उपरांत उत्पन्न हुयी थी। ये सिक्के पश्चिमी क्षत्रपों के अनुकरण पर चलाये गये थे।[1] इसके सिक्कों के अग्रभाग पर आवक्ष राजा चित्रित है तथा ब्राह्मी लिपि में लेख है एवं पृष्ठ भाग पर गरूड़ की आकृति है।

इसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम ने भी इसी प्रकार के सिक्के जिसे पश्चिमी सिक्के कहा गया है, के अतिरिक्त चाँदी के मध्यदेशीय प्रकार के सिक्के भी, जिसके पृष्ठ भाग पर गरूड़ के बदले पंख फैलाये मोर का चित्र है, एवं लेख 'विजितावनिरवनिपति कुमारगुप्तो दिवं जयति है, जारी किये। इन सिक्कों का अग्रभाग पूर्ववत् है।

कुमारगुप्त के इस प्रकार के मध्यदेशीय प्रकार की रजत मुद्राओं का अनुकरण मौखरीवंशीय ईशानवर्मन्, सर्ववर्मन् एवं अवन्तिवर्मन् द्वारा, वर्धनवंशीय प्रतापशील (प्रभाकरवर्धन) एण्वं शीलादित्य (हर्षवर्धन) द्वारा एवं हरिकांत तथा भीमसेन नामक नरेशों द्वारा किया गया।

त्रिशूल प्रकार, जो कुमारगुप्त के एकमात्र उदाहरण में पाया गया है, का अनुकरण वलभी प्रमुखों द्वारा किया गया जिन्होंने बड़ी मात्रा में ऐसे सिक्के चलाये जिनके अग्रभाग पर राजा का सिर एवं पृष्ठ भाग पर त्रिशूल है जिस पर 'भट्टारकाश' लिखा हुआ खण्डित लेख है।[2]

---

1. उपाध्याय वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 163
2. लाहिड़ी बेला, ज0 न्यू0 सो0 ई0, 42 1980, पृ0 8।

बैल प्रकार के स्कन्दगुप्त के सिक्के का अनुकरण एकमात्र राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण राजा द्वारा किया गया, जिसने बड़ी मात्रा में चाँदी के ऐसे सिक्के चलाये जिसके अग्रभाग पर राजा का मुख एवं पृष्ठ भाग पर बैल था।[1]

पूर्वमध्यकालीन हरिगुप्त नामक नरेश के ताँबे के सिक्कों के अग्रभाग पर राजा एवं एक छत्रधर खड़ा अंकित है तथा पृष्ठ भाग पर पंख फैलाये गरुड़ है एवं लेख 'महाराज श्री हरिगुप्तस्य' लिखा है। इस प्रकार का सिक्का दिनेशचन्द्रसरकार[2] एवं अलतेकर[3] ने प्रकाशित किया है।

(4) बैठी-लक्ष्मी प्रकार

इस प्रकार के बड़े, पतले सोने के सिक्कों के अग्रभाग पर चतुर्भुजी देवी (लक्ष्मी) सामने पालथी मार कर बैठी है एवं पृष्ठ भाग पर बड़े अक्षरों में लेख है।[4]

अग्रभाग के अंकन का विकास गुप्तों के सोने के सिक्कों पर दोभुजी बैठी लक्ष्मी से विकसित हुआ।[5]

सर्वप्रथम इस तरह के सिक्के त्रिपुरी के कलचुरि नरेश गांगेयदेव (1015-1040ई0) के द्वारा प्रवर्तित किये गये।

इन सिक्को के अग्र भाग पर अंकित देवी को विल्सन लक्ष्मी मानते हैं।[6] जबकि कनिंघम इसे पार्वती मानते हैं।[7] ऐसा वह कलचुरि कर्णदेव की एक मुहर पर गजलक्ष्मी के साथ 'वृष' के अंकन के कारण मानते हैं; किन्तु इन सिक्कों पर 'वृष' नहीं है। पुनः वे मुद्रा पर कमल हाथ में लिये हुये

---

1. लाहिड़ी बेला, ज0 न्यू0 सो0 ई0, 42 1980, पृ0 8।
2. बम्बई 1, खण्ड क; पृ0 13
3. इण्डियन एपिग्राफी, वाराणसी 1963
4. लाहिड़ी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 82
5 वही
6. विल्सन एरियाना एण्टिका, फलक 20/33
7. कनिंघम ए0 क्वायन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, पृ0 72

कमलासीन चित्रित की गयी हैं। यह 'लक्ष्मी' के स्वरूप को ही इंगित करता है। अदिश बनर्जी इसे आर्दोक्षों देवी मानते है[1] किन्तु यह अनुचित है। बहुत पहले ही इस देवी की जगह लक्ष्मी ने ले ली थी। इस प्रकार इन सिक्कों के अग्रभाग पर अंकित देवी, लक्ष्मी ही हैं। पी0सी0 राय,[2] लल्लनजी[3] गोपाल आदि विद्वान भी इसी मत के समर्थक हैं।

इस प्रकार के सिक्कों के अंकन चिह्न का पर्याप्त मात्रा में प्रचार, खास कर सोने के सिक्कों में, मध्यभारतीय एवं कुछ उत्तरभारतीय राजवंशों जैसे जेजाकभुक्ति के चंदेल, दिल्ली के तोमर, शाकम्बरी के चाहमान एवं कन्नौज के गहड़वालों के समय हुआ।[4]

यद्यपि ये सिक्के सोने के हैं किन्तु यूनानी द्रम्म के 67.5 ग्रेन के मानक पर बने थे। इस प्रकार यह अंकन भार में सासानी एवं अंकनअभिप्राय में गुप्तों से प्रभावित है।[5] ये सिक्के विविध धातुओं सोने, हीन सोने, चाँदी, हीन चाँदी एवं तांबे के बने[6] है एवं ये अंकन लम्बे समय तक चलते रहे। मुहम्मद गोरी ने कन्नौज की विजय के पश्चात् गहड़वालों के ढंग पर अपने सिक्कों पर लक्ष्मी का अंकन कराया।[7]

(5) बैल एवं घुड़सवार प्रकार

इस प्रकार के सिक्को के अंग्र भाग पर बैठा बैल है एवं पृष्ठ भाग पर घुड़सवार है। ये चांदी एवं तांबे के बने थे एवं सर्वप्रथम ओहिन्द के ब्राह्मणशाहियों द्वारा प्रवर्तित किये गये। ये सम्पूर्ण उत्तरभारत एवं अफगानिस्तान

---

1. ज0न्यू0सो0ई0, 24, पृ0 241.
2. द क्वाइनेज आफ नार्दन इण्डिया पृ0 3
3. अली मेडिवल क्वाइन्स टाइम्स ऑफ नार्दन इण्ड़िया 1966 पृ0 20
4. लाहिड़ी, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 42, 1980 ; पृ0 82
5 वही
6 वही
7. उपाध्याय वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 222

में ज्यादा लोकप्रिय थे। दिल्ली के तोमर, जालौर नाडौल एवं शाकम्बरी के चाहमान एवं कन्नौज के गाहड़वाल वंशीय नरेशों के समय इसी प्रकार के सिक्के चलाये गये।[1] बलवन (1265 ई0 सन्) के समय एवं जहांगीर के अधीनस्थ कांगड़ा के शासकों के समय (1620ई0 सन्) में भी ये सिक्के प्रचलित रहे।[2]

अन्य प्रकार

इन पाँच प्रमुख प्रकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य तरह की मुद्रायें भी इस समय जारी की गयी थी। जैसे- हनुमान प्रकार। सर्वप्रथम चंदेल वंश के सलक्षणवर्मन् (1100-1115 ई0) की ताम्र मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर हनुमान अंकित है।[3] इसी वंश के जयवर्मा, पृथ्वीवर्मा, मदनवर्मा की ताम्रमुद्राओं पर हनुमान का चित्र है। रतनपुर के कलचुरि नरेश जाजल्यदेव के ताम्र सिक्कों पर हनुमान अंकित है। पृथ्वीदेव के तांबे के सिक्कों पर हनुमान का अंकन विविध रूपों में है, जैसे-चतुर्भुज खड़े हनुमान राक्षसों के कुचलते हुये,[4] राक्षस को कुचलते द्विभुजी हनुमान,[5] आकाशधारी हनुमान आदि।[6]

हनुमान की उपासना का प्राचीनतम उल्लेख चंदेलों के अभिलेखों में ही मिलता है एवं सर्वप्रथम इसी वंश के सलक्षणवर्मा द्वारा इनको प्रवर्तित किया गया जिसका अनुकरण रतनपुरि के कलचुरि नरेश जाजल्यदेव द्वारा किया गया।[7]

रतनपुर के कलचुरि नरेशों द्वारा सोने के सिक्कों के मुख भाग पर

---

1 लाहिड़ी, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 42, 1980, पृ0 83
2 वही.
3. सिह ओंकार नाथ, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0-102
4 क्वाइन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया फलक 8, सिक्का 7
5. ज0 न्यू सो0 इ0 3 फलक 3, सिक्का 13
6. ज0 न्यू सो0 इ0 18 फलक 8, सिक्का 17
7 सिंह ओंकारनाथ, पूर्वानिर्दिष्ट पृ0 102

सर्वप्रथम नवीन एक अंकन अभिप्राय अपनाया गया जिसमें गज–शार्दूल प्रतीक है। यहां एक सिंह हाथी पर आक्रमण करते दिखाया गया है। यह प्रतीक बिन्दुओं के बने गोल घेरे के बीच है। ये सोने के सिक्के अपने आकार बनावट, पृष्ठ भाग पर मोटे अक्षरों में लिखे लेख आदि बातों में गांगेयदेव शैली का ही अनुकरण करते हैं।

एक अन्य प्रकार का अंकन सिक्कों के पृष्ठ भाग पर मिलता है वह है बछड़ों को दूध पिलाती गाय।[1] यह चित्र वत्सदामन, वप्पुका एवं केशव के सिक्कों पर मिलता है। इन नरेशों के सिक्कों के अग्रभाग पर अंकित चित्र भिन्न हैं। वत्सदामन के सिक्कों के अग्रभाग पर वराह राक्षस के रौंदता हुआ अंकित किया गया है, जबकि वप्पुका के सिक्कों के अग्रभाग पर शिवलिंग एवं बैठा बैल एवं इनके बीच में दण्डवत् मानव तथा केशव के सिक्कों के अग्रभाग पर ऊँची टोपी धारी राजा करबद्ध होकर शिवलिंग की पूजा करता हुआ दर्शित किया गया है।[2]

सिक्कों की वजन प्रणाली

पूर्वमध्यकाल के सिक्के प्राचीन काल की तुलना में कम वजन के हैं। जहाँ प्राचीनकाल में सोने के सिक्के 120 ग्रेन के आसपास होते थे वहीं इस काल के सिक्के सामान्यतः 60 ग्रेन के लगभग वजन के हैं। वजन में यह कमी चांदी एवं ताँबे के सिक्कों में भी देखी जा सकती है।[3] लल्लन जी गोपाल इस समय के सिक्कों के भार आदर्श को दो समानान्तर प्रणालियों पर आधारित मानते हैं।[4] प्रथम, ग्रीक द्रेक्म की 67.5 ग्रेन की वजन प्रणाली।

---

1. लाहिड़ी बेला, ज० न्यू० सो० ई० 42,1980, पृ०–4
2. वही, पृ०–84
3. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ०–178
4. वही.

जिसका अनुसरण ज्यादातर सोने, चांदी एवं ताँबे के सिक्कों के निर्माण में किया गया है। दूसरा, भारतीय पारम्परिक 32 रत्ती या 58.6 ग्रेन की वजन प्रणाली। कहीं-कहीं इनकों अपनाया गया है।

बेला लाहिड़ी ने इस समय सोने, चाँदी एवं ताँबे के सिक्कों के वजन को कई आदर्शो के आधार पर निर्मित बताया है।[1] उनके अनुसार सोने के सिक्कों का निर्माण इन चार भार प्रणालियों के आधार पर किया गया है-

1 132 ग्रेन की दीनार भार प्रणाली

2. 67 ग्रेन की द्रम्म भार प्रणाली

3 144 ग्रेन (80 रत्ती) की सुवर्ण भार प्रणाली

4. 180 ग्रेन (शतरत्ती) की शतमान भार प्रणाली। जबकि लाहिड़ी के अनुसार चाँदी के सिक्को के वजनादर्श है[1]-

i 132 ग्रेन की दीनार वजन प्रणाली

ii 67 ग्रेन की द्रम्म वजन प्रणाली

iii 57 ग्रेन (32 रत्ती) की कार्षापण वजन प्रणाली

iv. 36 ग्रेन (20 रत्ती) की भारतीय द्रम्म प्रणाली

इस काल के ताँबे के सिक्के 123 ग्रेन के दीनार एवं 67 ग्रेन के द्रम्म प्रणाली के थे। जबकि कुछ अनिश्चित हैं।[2]

वस्तुतः विभिन्न क्षेत्रों एवं प्रकारों के सिक्कों में कई तरह की भारप्रणालियों को आदर्श में रखकर उनका निर्माण किया गया। तथापि पूर्णरूपेण अनुसरण नहीं किया गया। इसमें पर्याप्त विचलन दिखाई देता है, क्योंकि प्राचीन काल में सिक्कों में एकदम निश्चितता को न देखा जा सकता

---

1 लाहिड़ी, बेला, ज० न्यू० सो० इ०, 42, 1980, पृ-87
2. वही.

है न ही आशा की जा सकती है।[1] काश्मीर के सिक्के जो कुषाण आदर्श पर निर्मित थे, ये रोमन डेरियस के वजनादर्श, जो सिद्धान्ततः 122.9 ग्रेन था एवं जो मूलत. कुषाणों द्वारा अपनाया गया था, का अनुसरण करते थे। यहाँ सोने, चांदी एवं तांबे के सिक्के इसी आधार पर बने है एवं सामान्यतः दीनार कहे गये हैं।[2]

भारतीय सासानी सिक्के (गधिया सहित) जो चांदी एवं तांबे के हैं 67.5 ग्रेन के यूनानी आदर्श पर बने हैं। इनमें सामान्यतः 7 ग्रेन के आसपास का विचलन देखा जा सकता है।[3] यहां इस के तीन चौथाई (लगभग 50.62 ग्रेन), आधे (33.75 ग्रेन) एवं एकचौथाई (16.87) मान के भी सिक्के बने।[4] वस्तुतः ग्रीक मापक को भारत के ग्रीक शासकों द्वारा कभी भी ठीक तरह से प्रयुक्त नहीं किया गया एवं ग्रीकों के जाने के इतने लम्बे समय बाद उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में इसे स्वीकार किया गया वास्तव में भारत में यह भार प्रणाली हूणों से आयी, जिसे उन्होंने सासानियों से प्राप्त किया था।[5]

शाहि नरेशों के सिक्कों को मोटे तौर पर 58.56 ग्रेन के पुराणादर्श पर निर्मित माना जा सकता है।[6] इनके चांदी एवं तांबे के सिक्के इसी आदर्श का अनुसरण करते हैं। ये भार आदर्श के आधे, चौथाई एवं आठवें भाग वजन के भी निर्मित किये गये।[7]

त्रिपुरी डोहल के कलचुरि नरेशों के सुवर्ण सिक्के 'ड्रेक्म' (67.5 ग्रेन) की वजनप्रणाली के आदर्श के आधार पर निर्मित हैं। इनके चांदी एवं तांबे के

---

1 गोपाल, लल्लन जी पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0- 181
2. लाहिडी, बेला, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 42, 1980, पृ0-87
3. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0-181
4. वही.
5. लाहिड़ी बेला, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 42, 1980, पृ0- 87
6 गोपाल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0-182
7 वही, पृ0-183

सिक्के भी इसी वजनमानक के हैं। बैठी–लक्ष्मी प्रकार इस भार के सिक्कों के आधे, चौथाई एवं आठवें भाग भी निर्मित किये गये।[1]

चन्देल नरेशों के सोने, चांदी एवं ताबे के सिक्के भी इसी आदर्श पर बने हैं एवं विभिन्न उपविभागों में चलाये गये।

रतनपुर के कलचुरियों के सिक्कों में दो भिन्न वजन मानकों का प्रयोग किया गया है। इनके साने के सिक्कों में यूनानी द्रेक्म आदर्श का अनुकरण किया गया है किन्तु ताँबे के सिक्कों में दूसरी वजनप्रणाली अपनायी गयी है। ये 80 रत्ती या 144 ग्रेन के प्राचीन भारतीय सुवर्ण मानक के अनकरण पर बनें हैं। इस वंश के केवल एक राजा पृथ्वीदेव के रजत सिक्के प्राप्त हुये हैं जो 'द्रम्म' के आठवें भाग के अनुसार बने हैं।

गहड़वालों के सिक्के भी दो वजन प्रणालियों का अनुसरण करते हैं। सोने के सिक्कों में 'द्रेक्म' वजन मानक एवं चांदी तथा तांबे के सिक्कों में 'पुराण' वजन मानक का प्रयोग किया गया है।[2] गहड़वालों के चांदी एवं तांबे के सिक्कों शाहियों की तरह बैल एवं घुड़सवार प्रकार के हैं एवं सोने के सिक्के 'बैठी लक्ष्मी' तरह के हैं।

तोमर नरेशों के सोने के सिक्कों में गांगेयदेव के सिक्कों की तरह ही 'बैठी लक्ष्मी' का अंकन है एवं 'द्रेक्म' वजन प्रणाली का प्रयोग किया गया है। इनके तांबे के सिक्के बैल एवं घुड़सवार प्रकार के हैं एवं पुराण वजनमानक का अनुसरण करते हैं।

चाहमानों के भी चांदी एवं तांबे के सिक्के ओहिन्द के शाहियों की तरह 'बैल एवं घुड़सवार' के अंकन से युक्त एवं उन्हीं की तरह पुराण वजनादर्श पर बने हैं।

---

1. लाहिड़ी, बेला, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 42, 1980, पृ0–86–87
2. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट 186.

देशी सुवर्ण मानक, जो 80 रत्ती (144 ग्रेन) का था, को गुप्त वंश में स्कन्दगुप्त द्वारा अपनाया गया था, उसका अनुसरण शशांक एवं बंगाल के कुछ राजाओं द्वारा किया गया।[1]

शशांक के एक प्रकार के सोने के सिक्कों एवं पूर्वी बंगाल के कुछ शाक्त शासकों द्वारा बनवाये गये सोने के सिक्कों का वजन मोटे तौर पर 50 रत्ती या 90 ग्रेन है।[2]

वीरसेन नामक शासक के सोने के सिक्के (टुकड़े) जो 162.4 ग्रेन भार के हैं 100 रत्ती या 180 ग्रेन की शतमान-भार-प्रणाली पर निर्मित प्रतीत होते हैं।

पूर्वमध्यकाल के दौरान हूणों, मौखरियों पुष्यभूतियों एवं वलभी के मैत्रकों ने, 20 रत्ती (36 ग्रेन) की भारप्रणाली को अपनाया जो गुप्तों के चाँदी के सिक्कों से लिया गया था।[3] ये मूलतः पश्चिमी भारतीय शक क्षत्रपों के अर्द्धद्रक्म (33.7 ग्रेन) के आदर्श पर निर्मित हैं। कृष्णराजा, भीमसेन एवं हरिकांत के सिक्के भी इसी वजनादर्श पर निर्मित हैं।

इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न धातओं एवं विभिन्न प्रकारों में विभिन्न वजन मानकों का प्रयोग किया गया तथा उसके विभिन्न विभागों एवं उपविभागों के मान के सिक्के चलाये गये।

सिक्कों पर अंकित धार्मिक प्रतीक

पूर्वमध्यकालीन सिक्कों पर अंकित चित्र तत्कालीन समाज में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं को भी दर्शाते हैं। इस समय विभिन्न सम्प्रदायों के प्रचलन

---

1. लाहिड़ी, ज0न्यू0सो0इ0, 42, 1980, पृ0 86-87.
2. वही.
3 वही.

क्षेत्र एवं उनके प्रभाव के अध्ययन में सिक्कों से महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

इस समय वैष्णव सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव था। गुप्तों के समय से ही इसने समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठा पा ली थी। इनके सिक्कों पर अंकित गरुड़, चक्र, लक्ष्मी के चित्र इसी तथ्य की उद्घोषणा करते हैं।

इस समय विष्णु के अवतारों को सिक्कों पर दर्शाने का प्रयास किया गया। भोज प्रथम के सिक्कों पर अंकित विष्णु का वराह अवतार का अंकन इसी तथ्य का द्योतक है। वत्सदमन के सिक्कों पर वराह राक्षस को रौंदता हुआ दर्शित किया गया है।[1] गांगेयदेव शैली की तरह के सिक्कों पर 'बैठी लक्ष्मी' एवं अन्य जगह 'लक्ष्मी' का चित्रण भी वैष्णव धर्म की लोकप्रियता को सूचित करता है।

किन्तु पूर्वमध्यकाल में लगभग 600 वर्षों में देश के विभिन्न राजाओं द्वारा 'लक्ष्मी' चिह्न का प्रयोग सर्वत्र वैष्णव प्रभाव को नहीं सूचित करता है। जैसा कि हम देखते हैं कि 'बैठी लक्ष्मी' का चिन्ह काश्मीर के सिक्कों पर अपरिवर्तित रूप से बना रहा। यह संभव हो सकता है कि काश्मीर एवं साथ ही कुछ अन्य क्षेत्रों में यह चिह्न अनायास रूप से चलता रहा हो जो वैष्णव प्रभाव से खास प्रभावित न हो। इस चिह्न का अंकन दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन साम द्वारा जारी किये गये सोने के सिक्कों पर भी मिलन इस तथ्य को इंगित करता है।[2]

जो भी हो यह 'लक्ष्मी का चित्र' इस समय बहुत लोकप्रिय था। शशांक जो निश्चित रूप से शैव था, के सोने के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर 'गजलक्ष्मी' प्रतीक (जो वैष्णवधर्म से सम्बन्धित है) का अंकन है, जबकि अग्र

---

1. लाहिड़ी, ज0न्यू0सो0इ0, 42, 1980 पृ0 90.
2. वही

भाग पर शैव धर्म से सम्बन्धित प्रतीक 'नन्दी पर बैठे शिव' अंकित हैं।[1]

शैव धर्म का भी इस समय पर्याप्त प्रचार था। सिक्कों में प्रयुक्त प्रतीक इसकी पुष्टि करते हैं। कुषाणों के समय से ही शैव धर्म विदेशियों के लिये विशेष आकर्षण का केन्द्र रहा है। मूलतः कुषाणों ने बैल के सम्मुख त्रिशूल लिये खड़े शिव के चिन्ह को सिक्कों पर अंकित करवया। कहीं केवल 'त्रिशूल' ही सांकेतिक रूप से है।[2]

बैल या नन्दि शिव का वाहन था। अतः इसका अंकन भी शैव धर्म से सम्बन्धित है। शिवलिंग भी शिव का सूचक है। शशांक की स्वर्ण एवं रजत मुद्रा पर नन्दि पर आसीन शिव दर्शाये गये हैं। पूर्वमध्यकाल में तांबे के कुछ सिक्कों पर इसी तरह नन्दी पर आसीन शिव अग्रभाग पर एवं पृष्ठ भाग पर कहीं-कहीं त्रिशूल अंकित है। ये सिक्के पंजाब एवं राजस्थान के क्षेत्रों से मिले हैं।[3]

सूरसेन प्रमुख वप्पुका के सिक्कों के अग्रभाग पर शिवलिंग एवं वृष के बीच दण्डवत् हुआ एक व्यक्ति चित्रित है। जबकि केशव के सिक्कों पर राजा शिवलिंग की हाथ जोड़कर पूजा करता दिखाया गया है।[4]

इस समय बंगाल में शाक्त सम्प्रदाय में प्रचलन की पुष्टि यहां से प्राप्त उन मुद्राओं से होती है जहां अग्र भाग पर धनुर्धारी राजा है एवं पृष्ठ भाग पर अष्टभुजीदेवी खड़ी हुयी दर्शायी गयीं हैं। वे बिन्दुओं की माला पहनी हैं। यदि इनका तादात्म्य मुण्डमाला से किया जाय तो वह 'काली' देवी मानी जा सकती हैं।[5]

---

1 लाहिड़ी, ज0न्यू0सो0इ0, 42, 1980, पृ0 89.
2 वही 89
3 वही 90.
4 वही.
5. भट्टसालि, एन0के0, ट्रान्जेक्शन्स ऑफ इण्टरनेशनल क्राग्रेस, 1736, 50, 416

समाचार देव के राजलीला तरह के सिक्कों के पृष्ठ पर हंस एवं देवी का अंकन है। इस देवी को सरस्वती माना जा सकता है।[1]

कुछ सिक्कों पर हनुमान का प्रतीक भी अंकित किया गया है जो इस काल में इनकी पूजा की परम्परा का द्योतक है। सर्वप्रथम चन्देलवंशीय सलक्षणवर्मन् की ताम्रमुद्राओं पर इस अंकन के अभिप्राय को अपनाया गया है। रतनपुर के कलचुरियों के कुछ सिक्कों में इसका अनुसरण किया गया।[2]

काश्मीर के प्रवरसेन के कुछ सिक्कों पर देवी कमल की जगह शेर पर बैठी है। इस देवी को सिंहवाहिनी दुर्गा माना जा सकता है।

पूर्वमध्यकालीन सिक्कों की सामान्य विशेषतायें

पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारतीय सिक्कों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से कतिपय खास विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं:-

(1) पूर्वमध्यकाल में पूर्वकाल की अपेक्षा राजवंशीय सिक्कों की श्रृंखला कम मिलती है। 650 ई0 से 1000 ई0 तक के काल में भारतीय राजवंशों ने सोने के सिक्के प्रायः जारी ही नहीं किये।[3] पाल, प्रतिहार एवं राष्ट्रकूटों ने लम्बा शासन किया किन्तु उनकी मुद्राओं की किसी श्रृंखला के विषय में हमें जानकारी नहीं प्राप्त है।[4]

(2) काश्मीर की स्थिति अलग थी। वहां पूर्वमध्यकाल में शासन करने वाले प्रत्येक राजवंशों द्वारा सिक्के ढाले गये।

(3) इस समय भारतीय महाद्वीप के पश्चिमी क्षेत्रों एवं

---

1. लाहिड़ी बेला0 ज0न्यू0सो0इ0, 42, 1980, पृ0 91.
2. सिंह ओंकारनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, 1999.
3. शर्मा रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज एवं संस्कृति, 1996, पृ0 105.
4. वही.

पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में सोने-चांदी एवं तांबे के विभिन्न श्रेणियों के सिक्के पर्याप्त प्रचलित थे। उत्तर भारत के पूर्वी क्षेत्र बंगाल, बिहार, आसाम आदि में हम सिक्कों की अत्यधिक कमी देखते हैं।[1]

(4) भारत के उत्तरी एवं पश्चिमी भागों में गधैया सिक्के पर्याप्त प्रचलित थे।

(5) पूर्वमध्यकाल में सिक्कों की ढलाई के सम्बन्ध में राज्य का एकाधिकार नहीं रह गया था। यह काम उन्होंने बड़े-बड़े व्यापारियों एवं व्यापारिक संस्थाओं के सुपुर्द कर दिया था[2] ताकि वे अपने सोने के सिक्के चला सके जिससे व्यापार हेतु विश्वसनीय एवं साखयुक्त मुद्रा निर्मित की जा सके।[3]

(6) सातवीं शताब्दी के बाद के एक लम्बे अंतराल के पश्चात् सुर्वण सिक्कों को ग्यारहवीं शताब्दी में ही ढाला गया।

(7) इस समय में सिक्कों में अत्यधिक मिलावट दिखती है। इसका कारण इस समय मूल्यवान धातु सोने एवं चांदी की आपूर्ति में कमी को माना जा सकता है।[4]

(8) इस समय के सिक्के पूर्वकाल की अपेक्षा कम वजन के हैं।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वमध्यकाल के सिक्कों के आकार, स्वरूप एवं वजन में प्राचीन काल की तुलना में मूलभूत परिवर्तन दिखता है।

⌘

---

1 उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 192.
2 गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 218.
3. चटर्जी भास्कर, ज0न्यू0सो0इ0, 1988, भाग 50 पृ0 109.
4. लाहिड़ी, जू0न्यू0सो0इ0, 42, 1980 पृ0, 88

अध्याय : पाँच

उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित सिक्के

पूर्वमध्यकाल में उत्तरभारत भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। इस समय हम देखते हैं कि पश्चिमी भारत में पूर्वी क्षेत्रों की अपेक्षा मुद्रा-प्रणाली का अधिक था। पूर्वकाल की तरह इस समय स्वर्णमुद्रा की बहुतायत नहीं थी। चाँदी, मिश्रित धातु (चाँदी एवं तांबा का मिश्रण) एवं तांबे के सिक्के ज्यादा प्रचलित थे। समाज में कौड़ियाँ भी विनिमय का एक प्रमुख माध्यम थीं।

इस समय विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रायें प्रचलित थीं। सामान्यतया ये पाँच मॉडलों पर निर्मित थीं। ये हैं-गुप्ता प्रकार, कुषाण प्रकार, बैल एवं घुड़सवार प्रकार, बैठी लक्ष्मी प्रकार तथा हिन्द-सासानी प्रकार। कहीं-कहीं नये अंकन अभिप्राय भी प्रयुक्त हुये हैं जैसे हनुमान, शिवलिंग आदि। इस समय की मुद्राओं का सम्यक् अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

[I] हूण राजाओं के सिक्के

प्रारम्भ में हूण लोग चीन के पश्चिम में रहते थे। अन्तर्जातीय युद्धों के परिणामस्वरूप ये लोग अपने मूल निवास स्थान को छोड़कर नये प्रदेशों की खोज में आगे बढ़े। इनकी एक शाखा बोल्गा की ओर गयी। इसने रोमन साम्राज्य को बहुत हानि पहुंचायी। दूसरी शाखा ने ऑक्सस घाटी में अपना नया निवास स्थान बनाया। इसी शाखा ने कालान्तर में भारतवर्ष पर आक्रमण

---

1. गोपाल, लल्लन जी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 218.

किये।[1]

हूणों के भारत–आक्रमण की पुष्टि विभिन्न अभिलेखिक, साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से होती है। सर्वप्रथम 455 ईस्वी सन् के आसपास स्कन्दगुप्त के शासनकाल में भारत पर इनका आक्रमण हुआ। परन्तु उनकी पराजय हुयी एवं वे वापस चले गये।[2] किन्तु गंधार पर उनका अधिकार बना रहा एवं यहीं से उन्होंने भारत पर आक्रमण किये। तोरमाण के नेतृत्व में उन्होंने पंजाब तथा मालवा पर अधिकार कर लिया। लेकिन बाद में मालवा उनके अधिकार से मुक्त हो गया। कौशाम्बी से प्राप्त उनकी दो मुहरें उत्तर प्रदेश तक उनके विजयाभियान की पुष्टि करती हैं।

तोरमाण का पुत्र मिहिरकुल भी एक प्रतापी राजा था। इसने 535 ई0 तक गुप्त नरेश बालादित्य को पराजित कर दिया था। उसका राज्य मध्य प्रदेश में ग्वालियर तक विस्तृत था। उसके राज्य में गंधार, कश्मीर तथा मध्य भारत के कुछ क्षेत्र शामिल थे। ईस्वी सन् 528 से 532 के बीच यह मंदसोर के यशोधर्मा द्वारा पराजित हुआ। बाद में बालादित्य से पराजित होने पर इसने कश्मीर में जाकर शरण ली।

स्वतंत्र राजा होने के कारण हूण सरदारों ने सिक्कों का प्रचलन किया। परन्तु स्थानीय प्रचलित मुद्राओं का अनुकरण ही इनकी मुद्रानीति की विशेषता है। इन्होंने विजित प्रदेशों के सिक्कों का अनुकरण कर अपने–अपने नाम के सिक्के चलाये। परन्तु अनेक सिक्कों पर हूण सरदारों का नामोल्लेख नहीं है। हेफ्थलाइट चिह्न वाले (एक विशेष प्रकार का चिह्न) सिक्के हूण जाति के माने जाते हैं क्योंकि हूण, हेफ्थलाइट नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनके सिक्के पंजाब, पेशावर, मालवा तथा राजस्थान से प्राप्त हुये हैं। सिक्कों के लिये चांदी एवं

---

1. पाण्डेय, विमलचन्द्र, प्राचीन भारत का इतिहास, भाग दो तेरहवां सस्करण, 1990, पृ0 223
2. वही.

तांबे का प्रयोग किया गया है।[1]

वस्तुतः भारत आगमन के क्रम में हूण लोग पहले फारस में प्रविष्ट हुये थे। वहां पर उन्होंने पूर्ववर्ती शासकों, जो सासानियन थे, के सिक्कों का अनुकरण कर अपने सिक्के प्रचलित किये। इन सिक्कों के एक तरफ राजा का सिर तथा दूसरी तरफ अग्निवेदिका का चित्रण है।

इन्हीं सासानी अनुकारक सिक्कों के साथ हूणों ने भारत में प्रवेश किया।[2] ठीक इसी प्रकार के सिक्के पश्चिम एवं पश्चिमोत्तर भारत के विभिन्न राजवंशों द्वारा चलाये गये। चांदी एवं तांबे के बने ये सिक्के भारतीय-सासानी (इण्डो-सासानियन) कहे गये हैं। भारत में इस प्रकार के सिक्के गधिया नाम से प्रचलित हुये।

(क) तोरमाण के सिक्के

हूण नरेश तोरमाण की विभिन्न प्रकार की मुद्रायें प्राप्त हुयी हैं।

(1) तोरमाण के चांदी के सिक्के प्राप्त हुये हैं। ये दो प्रकार के हैं-

1. मध्य प्रदेश में तोरमाण के रजत निर्मित सिक्के गुप्तों की चांदी की मुद्राओं का अनुकरण करते हैं 32.8 ग्रेन के इन सिक्कों के मुख भाग पर राजा का सिर एवं '52' अंक अंकित है।

   जबकि पृष्ठ भाग पर पंख फैलाये मयूर का अंकन है। इसके चारो ओर घेरे में 'विजितावनिर वनिपतिश्रीतोरमाणदिवं जयति' लेख है। इन सिक्कों की गुप्त सिक्कों से भिन्नता यह है कि सिक्कों पर गुप्त शासकों के सिर दाहिनी ओर

---

1. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मुद्रायें, 1971, पृ0 195.
2. सिंह ओंकारनाथ, गुप्तोत्तरकालीन उत्तर भारतीय मुद्रायें, 1999, पृ0 27.

हैं जबकि यहां बायीं ओर मुड़े हुये शासक का मुख दिखाया गया है।

फ्लीट ने राजा के मुख के सामने अंकित '52' अंक को तोरमाण के राज्यारोहण की तिथि से परिगणित किया हुआ माना है।[1] जबकि टोड ने इसकी गणना की शुरूआत हूणों के भारत आक्रमण की तिथि से हुयी है, यह माना है। कनिंघम ने इसकी गणना सासानियों पर हूणों की विजय से हुयी मानी है।[2] आगे 4 का लोप मानते हुये वे इस 452 का द्योतक मानते हैं।

परन्तु यह सभी मत तार्किक आधार पर उचित नहीं ठहरते हैं। अतः इस तिथि के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

2. हूण नरेश तोरमाण की द्वितीय प्रकार की चांदी की मुद्रा ससैनियन शैली की है। तोरमाण के इस तरह के सिक्कों के अग्रभाग पर ससैनियन प्रकार के राजा का सिर है जिस पर भारी आभूषण है। सिक्कों के पृष्ठ भाग पर 'चक्र' बना है एवं तोर लेख है। कहीं-कहीं 'शाहि जुबुल' लेख है। सासानी प्रकार के दूसरे तरह के सिक्कों के अग्रभाग पर घोड़े पर सवार राजा, शंख या चक्र तथा भारतीय लेख 'जयतु' (ब्राह्मी लिपि) में है। पृष्ठ भाग पर ससैनियन प्रकार के रक्षकों सहित अग्निवेदिका है।

---

1. गुप्ता परमेश्वरीलाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, पृ0 214-18.
2. इण्डियन क्वायन्स, पृ0 59-62.

(2) तोरमाण की ताम्रमुद्रायें भी प्राप्त हुयी है। ये भी दो प्रकार की है:-

1 एक प्रकार की मुद्राओं के अग्रभाग पर धनुषबाण युक्त राजा एवं पृष्ठ भाग पर चक्र को अंकन तथा 'तोर' या 'जबुल' लेख है।

2. काश्मीर प्रकार की ताम्रमुद्रा कुषाण ढंग की है। अग्र भाग पर राजा तथा पृष्ठ भाग पर देवी की भद्दी आकृति है।

(ख) मिहिरकुल के सिक्के

तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल ने चांदी एवं तांबे की मुद्रायें चलायीं:-

1. मिहिरकुल के चांदी के सिक्के ससैनियन अनुकरण पर निर्मित हैं। इन मुद्राओं के अग्र भाग में आभूषण धारण किये राजा की आवक्ष आकृति है। सामने वृषमध्वज और पीछे त्रिशूल तथा जयतु मिहिरकुल या जयतु वृष लेख है। पृष्ठ भाग में दो सेवकों सहित ससैनियन अग्निवेदी है। मिहिरकुल की रजतमुद्राओं का मात्र यही प्रकार प्राप्त होता है। ये मुद्रायें उसे शैव सिद्ध करती हैं।[1]

2. मिहिरकुल ने तीन प्रकार की ताम्रमुद्राये जारी की:-

   1. प्रथम प्रकार की मुद्रायें परवर्ती कुषाणों के सिक्कों की तरह है जिनके अग्रभाग पर राजा की खड़ी आकृति एवं 'श्रीमिहिरकुल' लेख का अंकन है जबकि पृष्ठ भाग पर आर्दोक्षो देवी, जो हाथ में कमल ली हुयी हैं का चित्रण

---

1. सत्यवेद, शोभा एवं अभिनव,भारतीय पुरालिपि अभिलेख एवं मुद्राएं, फैजाबाद,1994, पृ0104.

है तथा 'किदार' लेख लिखा है।

2. द्वितीय प्रकार की मुद्रायें गुप्तों की अश्वारोही प्रकार की मुद्राओं के अनुकरण पर निर्मित हैं। अग्र भाग पर अश्वारोही नरेश एवं ब्राह्मी लिपि में 'मिहिरकुल' लेख लिखा है जबकि पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी दर्शायी गयी हैं।

3 तृतीय प्रकार मुद्रायें ससैनियन प्रकार की हैं जिनके अग्र भाग पर राजा की आवक्ष आकृति और ब्राह्मी में श्री मिहिरकुल लेख है तथा पृष्ठ भाग में कूबड़दार बैल तथा जयतुवृषः लेख हैं।[1]

मिहिरकुल के पश्चात् भी उत्तरी पश्चिमी पंजाब में हूण सिक्के प्रचलित रहे।

हूणों के सिक्कों के परीक्षण से ज्ञात होता है कि जिस क्रम से हूण मध्यप्रदेश में बढ़ते गये उनके सिक्कों पर ब्राह्मण मत का प्रभाव बढ़ता गया। शैव तथा वैष्णव चिह्न इसके प्रमाण हैं।[2] मिहिरकुल का पुत्र द्वितीय तोरमाण था। स्यात् चक्रचिह्न भद्दे सिक्के द्वितीय तोरमाण के हों।[3]

[II] कन्नौज के शासकों के सिक्के

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तर भारत में अनेक स्वतंत्र राज्य हो गये थे। पाटलिपुत्र के स्थान को छठी शताब्दी के पश्चात् कान्यकुब्ज ने ले लिया था। कान्यकुब्ज (कन्नौज) का शासक अपने को भारत का सम्राट समझने लगता। यह राजनीति का केन्द्रबिन्दु हो गया था। इसकी प्रमुखता के कारण ही अनेक भारतीय शासक कान्यकुब्ज पर अधिकार करना चाहते थे। त्रिकोणयुद्ध

---

1. वही, पृ0 104.
2. उपाध्याय, डॉ0 बासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 196.
3. वही.

(प्रतिहार, पाल तथा राष्ट्रकूट) का एकमात्र उद्देश्य था, कन्नौज पर अधिकार।[1]

कन्नौज को राजधानी बनाकर मौखरी, वर्धन, गुर्जर प्रतिहार एवं गहड़वाल वंशों ने क्रमशः शासन किया। इन चारों ही वंशों की मुद्रायें प्राप्त हुयी हैं।

(क) मौखरी वंश की मुद्रायें

मौखरी जाति का अस्तित्व अत्यंत प्राचीन काल से ही था। पंतजलि ने 'मुखर' शब्द का प्रयोग किया है।[2]

प्रारम्भ में गया जिले तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में मौखरियों की राजनीतिक सत्ता थी।[3] बराबर तथा नागार्जुनी अभिलेखों से प्रकट होता है कि गुप्त साम्राज्य के पतन काल में संभवतः मौखरियों ने पुनः शक्ति संचय करना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे उनका उत्कर्ष होने लगा।[4] इन अभिलेखों में उल्लिखित प्रथम मौखरी नरेश यज्ञवर्मा का उदय गया क्षेत्र में पांचवी शताब्दी के अंत तक हो गया था।[5]

मौखरी सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। इसकी दो शाखाओं के विषय में जानकारी मिलती है। गया के समीप उदित हुयी मौखरी वंश की शाखा में यज्ञवर्मा, शार्दूलवर्मा एवं अनन्तवर्मा राजा हुये। कन्नौज में उदित हुयी दूसरी शाखा में सात राजाओं ने शासन किया। जिसमें प्रथम तीन हरिवर्मा, आदित्यवर्मा एवं ईश्वरवर्मा स्वतंत्र नरेश नहीं थे। ईश्वरवर्मा के पुत्र ईशानवर्मा ने सर्वप्रथम इस वंश में स्वतंत्रता घोषित की। इसके पश्चात् सर्ववर्मा एवं अवन्तिवर्मा ने शासन किया। ग्रहवर्मा इस वंश का सातवां एवं अंतिम मौखरी नरेश था। ग्रहवर्मा की

---

1 उपाध्याय वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट पृ० 188
2 महाभाष्य, 5 2.107
3. पाण्डेय, विमलचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० 237.
4. वही, पृष्ठ 238
5 वही

मृत्यु के पश्चात् कन्नौज पर वर्धन वंश का अधिकार हो गया।[1]

मौखरी वंश में ईशानवर्मन्, सर्ववर्मन् तथा अवन्तिवर्मन् ने सिक्के निर्मित किये।[2] इसके सिक्के फैजाबाद जिले के भिटौरा नामक ग्राम से अन्य सिक्कों के साथ 1904 में प्राप्त हुये थे।[3] इस ढेर से प्राप्त सभी सिक्के चांदी के थे एवं मयूर प्रकार की गुप्तों की रजत मुद्राओं के अनुकरण पर निर्मित थे।[4] सभी सिक्कों के अग्र भाग पर राजा की आवक्ष आकृति एवं अंकों में तिथि का उल्लेख है। पृष्ठ भाग पर पंख फैलाये हुये मयूर का अंकन है तथा नागरी में गुप्तों की तरह छन्दोबद्ध लेख है।[5] जिसमें मात्र शासक का नाम में ही परिवर्तन है। जैसे-'देवजनितविजितावनिर अवनिपति श्रीशानवर्मा दिवं जयति' आदि।

भिटौर ढेर से ईशानवर्मन् की नौ, सर्ववर्मन् की छह, अवन्तिवर्मन् की सत्तरह, प्रतापशील की नौ एवं शीलादिव्य की दो सौ चौरासी मुद्रायें प्राप्त हुयी हैं। एक सिक्के के पृष्ठ भाग पर अंकित लेख में राजा का नाम 'हर्ष' लिखा है। इसका उल्लेख ब्राउन ने किया है[6] किन्तु विद्वान् इसे वर्धन वंशीय सिक्के के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं।[7]

मौखरि नरेशों ईशानवर्मन्, सर्ववर्मन् एवं अवन्तिवर्मन् के सिक्कों पर जो तिथियाँ अंकित हैं उसके सम्बन्ध में विद्वानों के विविध मत हैं। स्मिथ ने ईशानवर्मन् एवं सर्ववर्मन् के सिक्कों पर क्रमशः 54, 55 एवं 58 पड़ा था।[8] स्मिथ के पाठ में सैकड़े का अंक नहीं है जबकि अन्य विद्वान् तीन अंकों में

---

1 वही
2. उपाध्याय वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 198
3 बर्न, जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी 1906, पृ0 843.
4. लाहिड़ी बेला, ज0न्यू.सो0इ0, 42, 1980, पृ0 8.
5. अल्तेकर ए0एस0, गुप्तकालीन मुद्रायें, ,972, पृ0 12.
6. ब्राउन, लखनऊ संग्रहालय कैट्लाग ऑफ गुप्ता एण्ड मौखरि क्वायन्स, पृ0 45
7 सिंह, ओंकार नाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 17.
8. स्मिथ, ज0न्यू0सो0इ0, 44, पृ0 46.

तिथि का अंकन मानते हैं। बेलालाहिड़ी ने ईशानवर्मन्, सर्ववर्मन् एवं अवन्तिवर्मन् की तिथियों को क्रमशः 257, 256 एवं 260 के रूप में स्वीकार किया है।[1] इन तिथियों को पायरे ने गुप्तसंवत् में अंकित माना है।[2] जिससे ईशानवर्मन् के सिक्कों पर अंकित तिथि 573 ई0 से 576 ई0 सन् निर्धारित होती है। हरहा अभिलेख (उ0प्र0 के बाराबंकी जिले से प्राप्त) 554 ई0 सन् (616 वि0 संवत्) का है अतः इसे गुप्त संवत् में अंकित होने के मत को स्वीकार किया जा सकता है।

(ख) वर्धन वंश की मुद्रायें

आधुनिक दिल्ली के आसपास का प्रदेश श्रीकण्ठ जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। थानेश्वर राज्य श्रीकण्ठ जनपद की एक अन्तर्भुक्ति था।[3] छठी शताब्दी ईस्वी सन् में यहां वर्धनवंश ने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। हर्ष के बांसखेड़ा एवं मधुवन लेखों में नरवर्धन, राज्यवर्धन, आदित्यवर्धन एवं प्रभाकरवर्धन का हर्ष के पूर्वजों के रूप में उल्लेख किया गया है। प्रभाकरवर्धन ने सर्वप्रथम अपने वंश की स्वतंत्रता घोषित की।[1] इसकी राज्यवर्धन, हर्ष एवं राज्यश्री (जिसका विवाह कन्नौज के अंतिम मौखरी नरेश ग्रहवर्मा के साथ हुआ था) ये तीन संतानें थीं। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् राज्यवर्धन भी शीघ्र ही मारा गया। 606 ई0 सन् में हर्ष ने थानेश्वर की शासन-सत्ता सम्हाली एवं हर्ष संवत् की स्थापना की। बहनोई ग्रहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् कन्नौज का भी शासन उसके अधिकार में आ गया। बाद में यह क्षेत्र वर्धन साम्राज्य में मिल गया एवं कन्नौज इस वंश की राजधानी बन गया। गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् इसके द्वारा ही उत्तर भारत का अधिकांश क्षेत्र एकछत्र शासन

---

1. लाहिड़ी बेला, जू0न्यू0सो0इ0, 42 1982, पृ0 81.
2. पायरे, मौखरीज, 165.
3. पाण्डेय विमलचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 260.

में शामिल हो सका।

भिटौरा ढेर से[2] 'प्रतापशील' नामक नरेश के एवं 'शीलादित्य' नामक नरेश के 284 रजत सिक्के प्रकाश में आये हैं। ये भी गुप्तों के मयूर प्रकार के सिक्कों के अनुकरण पर बने हैं। अग्रभाग पर शासक का अर्द्धचित्र एवं तिथि तथा पृष्ठ भाग पर पंख फैलाये मोर तथा मुद्रालेख अंकित है। मुद्रालेख का यह क्रम मध्यदेशीय रजत सिक्कों पर गुप्तों ने आरम्भ किया था।[3]

'प्रतापशील' विरूद्ध वाला सिक्का वर्धनवंशीय प्रभाकर वर्धन का माना जाता है।[4] हर्ष चरित में बाणभट्ट ने इस नरेश के लिये 'प्रतापशील' विरूद का प्रयोग किया है।[5]

'शीलादित्य' उपाधि वाला सिक्का हर्ष का माना जाता है। बील के द्वारा रचित ह्वेनसांग के जीवनचरित में हर्ष को शीलादित्य नाम से उल्लिखित किया गया है। लखनऊ संग्रहालय में रखे एक सिक्के पर शीलादित्य न लिख कर 'विजितावनिर हर्ष' लिखा है।[6] किन्तु इस सिक्के की प्रमाणिकता सन्देहास्पद है।[7]

प्रतापशील विरूद वाले सिक्के पर अंकित अंक नहीं पढ़े जा सके हैं। परन्तु शीलादित्य विरूद वाले सिक्के पर 1 से 33 तक के अंक पढ़े गये हैं।

कृष्णदत्त वाजपेयी ने उत्तर प्रदेश के फरुर्खाबाद जिले से प्राप्त एक स्वर्णमुद्रा जो उन्होंने हर्ष की मानी है का, उल्लेख किया है।[8] यह हर्ष की एकमात्र ज्ञात स्वर्णमुद्रा है। इसका आकार एवं वजन गुप्तों की स्वर्णमुद्राओं की ही तरह है। इसका व्यास 2 सेमी एवं वजन 113.5 ग्रेन है। अग्र भाग पर

---

1. वही.
2. बर्न, ज0रॉ0ए0सो0, 1906 पृ0 843.
3. उपाध्याय वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 198.
4. सिंह, ओंकारनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 17.
5. 'प्रतापशील इति प्रथितापरनामा', बाणभट्ट, हर्षचरित.
6. ब्राउन, लखनऊ संग्रहालय कैटलाग ऑव गुप्ता एण्ड मौखरि क्वायन्स, पृ0 45.
7. सिंह ओंकारनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 17
8 बाजपेयी, के0डी0, इण्डियन न्यूमिसमैटिक स्टडीज, लेख, ए0न्यूनिक गोल्ड क्वाइन ऑफ हर्षा, पृ0 155-157

ब्राह्मी में पाँच पंक्तियों में 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर माहरा(जह)र्षदेव' लिखा है। पृष्ठ भाग पर नन्दी पर बैठे हुये शिव एवं पार्वती अंकित है। शिवजटाजूटधारी एवं त्रिशूलधारी है। यह मुद्रा हर्ष की ही है। इस बात की पुष्टि अनेक तथ्यों से होती है।-

1. इस मुद्रा की लिपि हर्षवर्धन के मधुबन एवं बांसखेड़ा के अभिलेख के समान हैं।
2. 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री महाराज' उपाधि जो इस सिक्के पर है वह नालंदा से प्राप्त दो मुहरों[1] एवं बांसखेड़ा अभिलेख[2] से मिलती है।
3. नवसारी दानपत्र लेख में हर्ष का उल्लेख हर्षदेव के रूप में हुआ है।[3]
4. सिक्के पर शिव एवं पार्वती का अंकन उसके शैव धर्म के प्रति अनुराग को सूचित करता है। उसके लेखों में वह अपने को 'परम माहेश्वर' कहता है। हर्ष के दरबारी कवि बाण ने हर्ष चरित में लिखा है कि हर्ष ने वृषभ के अंकन वाले सिक्के प्रचलित किये।[4] संभव है हर्ष ने अपने पूर्व आराध्य देव (बाद में वह बौद्ध हो गया था) शिव के वाहन को सिक्के पर स्थान दिया हो एवं तत्पश्चात् गुप्त सिक्कों का अनुकरण करके उसी प्रकार का लेख भी खुदवाया हो।

---

1. ऑर्किलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, इस्टर्न सर्किल, वार्षिक रिपोर्ट, 1917, 18, पृ0 44.
2 एपिग्राफिया इण्डिका प्ए पृ0 208-12
3. फ्लीट, गुप्ता इन्सक्रिप्शन्स्, न0 42, इण्डियन एण्टीक्वेरी, 13, 73, 79.
4. वृषांकामभिनवधरितां हारकमयीं मुद्राम्, बाण, हर्षचरित्।

(ग) गुर्जर प्रतिहार वंश की मुद्रायें

हर्ष की मृत्यु के लगभग 75 वर्षों बाद तक उत्तर भारत में कोई भी ऐसा शक्तिशाली राजा न हुआ जो कन्नौज के गौरव का उद्धार करता।[1] आठवीं शताब्दी ईस्वी सन् के आसपास यशोवर्मा (725 ई० सन् से 752 ई० सन् तक) को हम कन्नौज के सिंहासन पर आसीन पाते हैं। उसने मगध पर विजय प्राप्त की थी जिसका वर्णन वाक्पतिराजचरित गौउडवहो से प्राप्त होता है।

यशोवर्मा के पतन के पश्चात् कन्नौज में हम एक दूसरे राजवंश 'आयुधवंश' का उदय देखते हैं।[2] जिसमें चक्रायुध, वज्रायुध एवं इन्द्रायुध नरेशों ने शासन किया। निर्बल आयुधवंश वंश प्रतिहारों, पालों एवं राष्ट्रकूटों की साम्राज्यवादिता का शिकार बन गया। बाद में गुर्जर प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वितीय ने चक्रायुध को विस्थापित कर दिया।

गुर्जरप्रतिहार वंश की स्थापना उज्जियनी में नागवंश प्रथम द्वारा (ई० सन् 730 से 760) हुयी थी। नागभट्ट द्वितीय के समय (ई० 795 से 833) कन्नौज इसके साम्राज्य में शामिल हो गया एवं गुर्जर प्रतिहारों की नयी राजधानी बन गया। यह वंश लम्बे समय तक कायम रहा। 1018 ई० में गुर्जर प्रतिहार नरेश राज्यपाल को महमूदगजनवी की सेनाओं से पराजित होना पड़ा था। फिर त्रिलोचनपाल एवं यशपाल इस वंश के शासक हुये। कुछ समय पश्चात् प्रतिहार राज्य पूर्णतया विनष्ट हो गया एवं उसके स्थान पर कन्नौज में एक दूसरे राजवंश (गाहड़वाल वंश) का उदय हुआ।[3]

इस वंश के लम्बे शासनकाल में मात्र भोजदेव प्रथम

---

1. पाण्डेय, बिमलचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० 320.
2. वही, पृ० 323
3. वही, पृ० 358

(840-890 ई0) एवं उसके पौत्र विनायकपाल (914-933 ई0) के सिक्के प्राप्त हुये हैं। इनके सिक्कों को इण्डोसामानी या गधिया सिक्कों के क्रम में रखा जाता है। यद्यपि ये सिक्के मौलिकता लिये हैं। सामान्यतौर पर इण्डो-सासानी सिक्कों के अग्र भाग पर राजा की आवक्ष आकृति एवं पृष्ठ भाग पर पहरेदार सहित या रहित अग्निवेदिका का अंकन होता था। भारत में ये प्रकार हूणों द्वारा प्रचलित किये गये थे। इनको भारत में गधिया कहा गया। ये चांदी एवं तांबा धातु के होते थे।

गधिया सिक्के क्षत्रप तथा गुप्त चांदी के सम आकार के हैं कि तौल में 60 ग्रेन के बराबर हैं, अतएव बनावट में मोटे है। इस प्रकार छोटा आकार तथा मोटी बनावट गधिया सिक्के की विशेषता है। कालान्तर में ससैनियन सिक्कों का अनुकरण अत्यन्त दीनावस्था को पहुंच गया था।[1] गुजरात, मालवा तथा राजस्थान में 700-1200 ई0 तक लोकप्रिय थे।[2] वैसे ये महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश एवं बिहार से भी प्राप्त हुये हैं। बिहार के पश्चिमी एवं उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र में (भोजपुरी प्रदेश) में गधिया को ढेबुआ कहा जाता था।[3]

भोजदेव के इण्डो सासानी वर्ग के सिक्के 'आदिवराह' कहे गये हैं। इसके अग्र भाग पर विष्णु का वराह अवतार अंकित है। शूकर मुखधारी मानवाकृति ने दांत पर खड़ी नारी रूप पृथ्वी को उठाये रखा है। गदा एवं चक्र भी अंकित है। पृष्ठ भाग पर दो पंक्तियों में नागरी अक्षरों में मुद्रालेख है 'श्रीमदादि वराह'।

ये सिक्के चांदी एवं तांबा मिश्रित हैं। ये सिक्के 06 से 08.4 इंच के बीच व्यास के एवं 51 से 63 ग्रेन के बीच के वजन के है।

इन सिक्कों को सभी विद्वान् गुर्जरप्रतिहार वंशीय भोज का सिक्का

---

1 उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 197.
2. वही.
3 वही.

मानते है। क्योंकि ग्वालियर प्रशस्ति में भोज को 'आदि वराह' कहा गया है।[1] सियाडोनी अभिलेख में भी 'आदि द्रम्म' का उल्लेख हुआ है।

लखनऊ, झांसी, हम्मीरपुर एवं फर्रुखाबाद जिलों से इसी प्रकार के सिक्के प्राप्त हुये हैं। किन्तु इनके पृष्ठ भाग पर 'श्रीविनायकपालदेव' लेख है। इनकी तौल 62 ग्रेन के आसपास है। ये भोज के पौत्र प्रतिहार नरेश विनायकपाल द्वारा प्रचलित माने गये हैं।[2]

(घ) गाहड़वाल वंश की मुद्रायें

कन्नौज में प्रतिहार वंश के पतन हो जाने पर एक नये वंश का उत्थान हुआ जो गाहड़वाल नाम से प्रसिद्ध हुये[3] चन्द्रदेव (ई0 सन् 1090. से 1103) इस वंश का सर्वप्रथम स्वतंत्र शासक था। इसका साम्राज्य कन्नौज से वाराणसी तक विस्तृत था। इसका पुत्र मदनपाल भी एक शक्तिशाली शासक था। मदनपाल का पुत्र गोविन्दचन्द्र इस वंश का सबसे प्रतापी नरेश था। इसका राज्य उत्तर में गोंडा से दक्षिण में यमुना नदी के दक्षिण तक एवं पूर्व में मुंगेर से पश्चिम में मालवा तक विस्तृत था। इसके पश्चात् विनयचन्द्र एवं जयचन्द्र (ई0 सन् 1169-1194) इस वंश के नरेश हुये।

जयचन्द को गोरी के सेनानायक कुतुबुद्दीन ऐबक की सेना से पराजित होना पड़ा। इसी समय से गाहड़वालों की स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गयी। यद्यपि जयचन्द के पश्चात् हरिशचन्द्र नामक गहड़वाल नरेश का उल्लेख आता है। किन्तु यह स्वतंत्र नहीं था। बल्कि तुर्को की अधीनता में था।

गाहड़वाल वंशी नरेशों में मदनचन्द्र एवं गोविन्दचन्द्र के सिक्के प्राप्त हुये हैं। मदनचन्द्र (1103 से 1113 ई0 सन् तक) के सिक्के वृष एवं अश्वारोही शैली के हैं।

---

1. ए0इ0, 18, पृ0 109.
2. ज0न्यू0सो0इ0, 10, पृ0 28.
3. उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 201.

इसके के चांदी एवं मिश्रित धातु के सिक्के प्राप्त हुये हैं। चांदी के सिक्कों के अग्रभाग पर घुड़सवार एवं अस्पष्ट लेख है पृष्ठभाग पर वृषभ एवं नागरी में 'माधव श्री सामंत' लेख मिलता है। मिश्रित धातु के सिक्के इसके चांदी के सिक्कों की ही तरह हैं मात्र अंतर यह है कि मिश्रित धातु के सिक्कों के अग्रभाग पर लेख 'मदनपाल देव' है।

कनिंघम[1], स्मिथ[2], जोशी[3] एवं लल्लनजी गोपाल[4] इसे गाहड़वालवंशीय मदनपाल की मुद्रा मानते हैं। किन्तु पी0सी0 राय[5] इसे तोमरवंशी सिक्का मानते हैं। वृष अश्वारोही शैली का अंकन अभिप्राय तोमरवंशीय सिक्के की तरह है। इसका आकार, भार, बनावट में तथा लेख 'माधव श्री सामंतदेव' तोमरवंशी अनंगपाल की मुद्राओं की ही तरह है।

गोविन्दचन्द्र देव के समय में सुवर्ण एवं ताम्र मुद्रायें जारी की गयीं। इसके सोने के सिक्के उत्तर प्रदेश एवं बिहार से मिले हैं।[6] इसके सिक्के की विशेषता यह थी कि इसने पिता के चांदी वाले सिक्के की शैली को त्यागकर कलचुरि नरेश गांगेयदेव की शैली को सुवर्ण सिक्के के निमित्त अपनाया। दूसरी विशेषता यह थी कि अग्रभाग पर केवल शासक के नाम को ही स्थान दिया जो प्रणाली मुसलमान सिक्कों में देखी जाती है। इसके सुवर्ण सिक्के ट्रम की तौल (62 ग्रेन) के बराबर हैं परन्तु 40-50 ग्रेन तौल में हैं।[7]

अग्रभाग पर तीन पंक्तियों में नागरी में श्रीमद्गोविन्दचन्ददेव लेख लिखा है। पृष्ठभाग पर लक्ष्मी जो प्रभामण्डलयुक्त है पद्मासन मुद्रा में हैं का

---

1 कनिंघम, ए0, क्वायन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, पृ0 87.
2 स्मिथ, वी0ए0, कै0 क्वा0इ0न्यू0, भाग 1, पृ0 260
3 जोशी, एम0सी0, ज0न्यू0सो0ई0 27, पृ0 43
4. गोपाल, लल्लन जी, अर्ली मेडिवल क्वायस टाइपन ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ0 45
5 राय, पी0सी0, क्वायस ऑफ नार्दन नार्दन इण्डिया, पृ0 72.
6. सिंह ओंकारनाथ, गुप्तोचर कालीन उत्तर भारतीय मुद्रायें, पृ0 91.
7. उपाध्याय, वासदेव, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 202.

मात्र रेखाओं द्वारा अंकन किया गया है। इसके तांबे के सिक्के भी इसी तरह के ही हैं किन्तु अग्रभाग पर नाम में 'देव' शब्द का अभाव है।

[III] मध्य प्रदेश के शासकों की मुद्राएँ

हर्ष के पश्चात् गुर्जर प्रतिहार वंश का साम्राज्य उत्तरी भारत पर विस्तृत था। महीपाल की एक प्रशस्ति (वाराणसी) सारनाथ से प्राप्त हुयी है। जिसमें वाराणसी तक प्रतिहार राज्य की सीमा के फैलाव का पता लग जाता है। प्रतिहार वंश की अवनति के पश्चात् मध्यप्रदेश में दो वंशों के शासकों का ज्ञान अभिलेखों तथा सिक्कों से हो जाता है[1]–

1. चंदेल वंश, राजधानी महोबा
2. कलचुरि वंश, राजधानी त्रिपुरी

वस्तुतः 750 ई0 सन् से लेकर 1000 ई0 सन् तक उत्तरी भारत में स्वर्ण मुद्रायें अनुपलब्ध रहीं।[2] डॉ0 रामशरण शर्मा इसका कारण सामंतवादी अर्थव्यवस्था बताते हैं।[3] जबकि अनेक विद्वानों ने इस सम्बंध में दूसरे कारणों का प्रतिपादन किया है। प्रो0 लल्लनजी गोपाल इस सम्बंध में कहते हैं कि गुप्त एवं उनसे सम्बंधित सोने की मुद्रा जो पांचवी से सातवीं सदियों में निर्मित की गयी थी वह परवर्ती कई शताब्दियों की सोने की मुद्रा की आवश्यकता की पूर्ति के लिये पर्याप्त थीं।[4] जॉन्सदेयल ने इस सम्बंध में अनेक कारण बताये हैं। वे कहते हैं कि दाम (मूल्य) कम थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सोना एवं चांदी दुष्प्राप्य थे इसलिये मंहगे थे। आपेक्षित रूप से समयानुरूप बने मिश्रधातु के द्रम्म का अर्थव्यवस्था में पर्याप्त योगदान था। ऊँचे स्तर के विनिमय में प्रयोग के अलावा सोने के सिक्कों का कम ही

---

1. वही, 1971, पृ0 204.
2. देपल जॉन्स, लिपिंग विदाउट सिल्वर, 1990, पृ0 86.
3. शर्मा रामशरण, भारतीय सामतवाद दिल्ली, 1974.
4. गोपाल, लल्लनजी, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, 1965, पृ0 217

प्रयोग होता था।[1]

(क) त्रिपुरी के कलचुरि नरेश के सिक्के

कलचुरि वंश को चेदि वंश और हैहयवंश के नाम से पुकारा जाता है। इस वंश की राजधानी त्रिपुरी थी जो आज मध्य प्रदेश में जबलपुर के समीप स्थित तेवर नामक गांव है।[2] नौवी शता0 के अंत तक इस वंश ने राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। यह वंश तेरहवी शताब्दी के प्रारम्भ तक कायम रहा।

इस वंश के अनेक राजाओं में से मात्र गांगेयदेव के ही सिक्के प्राप्त हैं। गांगेयदेव (ई0 सन् 1015 से 1040) के समय से ही भारत में पूर्व मध्यकाल में अवरुद्ध हुयी स्वर्ण मुद्रा की परम्परा का पुनः आरम्भ दिखता है।

गांगेयदेव के सिक्के नवीन शैली में निर्मित है जिसका अनुकरण इस काल के अनेक राजाओं ने किया। इस शैली के सिक्कों को गांगेयदेव प्रकार की या बैठी लक्ष्मी प्रकार की मुद्रायें कहा गया है।

इस शैली के सोने के सिक्कों में इसमें अग्रभाग पर कहीं दो एवं कहीं पर तीन पंक्तियों में बिन्दुओं के घेरे के बीच नागरी लिपि में 'श्रीमद् गांगेयदेव' लेख लिखा है। पृष्ठ भाग पर बिन्दुओं के गोल घेरे के बीच में कमलासना चतुर्भुजी लक्ष्मी पद्मासन की अवस्था में बैठी है। इसका विकास गुप्तों के सोने के सिक्कों पर दो भुजाओं वाली लक्ष्मी से हुआ है।[3]

गांगेयदेव ने सोने चांदी एवं तांबे तीनों धातुओं की मुद्रा चलायी। इसकी मुद्रा व्यवस्था को कनिंघम ने पूर्ण मुद्रा व्यवस्था कहा है।[4] गांगेयदेव के

---

1. देयल जॉन्स, लिविंग विदाउट सिल्वर, 1990, पृ0 86.
2. पाण्डेय, विमल चन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 451.
3. लाहिड़ी, बेला, ज0न्यू0सो0इ0, 1980, पृ0
4. कनिंघम, क्वायन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन, 1894, पृ0 72.

तीनों ही धातु के सिक्कों का अंकन लगभग एक ही तरह का है।

गांगेयदेव की स्वर्णमुद्राओं का वजन प्राचीन भारतीय सुवर्ण मानक पर नहीं अपितु यूनानी द्रम्म (67.2 ग्रेन) के मानक पर है।[1] ये विभिन्न विभाग व उपविभागों के आधार पर निर्मित हैं। ये 0.8'' से 0.12'' तक व्यास के आकार वाली एवं 63 से 5 ग्रेन के मध्य भार वाली है।

गांगेयदेव की चांदी एवं ताम्र मुद्राओं की अंकन शैली भी इसी तरह की ही थी। यद्यपि आकार एवं भार भिन्न-भिन्न हैं।

इस प्रकार का पर्याप्त मात्रा में प्रचार हुआ। खासकर सोने के सिक्के मध्यभारतीय एवं कुछ उत्तरी राजवंशों जैसे जेजाकभुक्ति (महोबा) के चंदेल, दिल्ली के तोमर, शाकम्भरी के चाह्मान एवं कन्नौज के गहड़वालों के समय लोकप्रिय हुये।[2]

गांगेयदेव के अधिकांश सिक्के त्रिपुरी के आस-पास से प्राप्त हुये हैं। इसके अतिरिक्त यह मध्यप्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के कुछ अन्य क्षेत्रों से भी प्राप्त हुये हैं।

(ख) रतनपुरि के कलचुरि नरेशों की मुद्रायें

ग्यारहवीं सदी में त्रिपुरी के कलचुरि शासकों की आधीनता में संभवतः उन्हीं की एक शाखा महाकोशल अर्थात् महानदी के पूर्वी कांठे में शासन करती रही। बारहवीं सदी ई0 के आरम्भ में इन्होंने अपने को त्रिपुरी के कलचुरियों से पृथक कर अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की और वे रतनपुर के कलचुरि (डाहल के हैहयवंश भी) कहलाये।[3]

---

1. लाहिड़ी, बेला, ज0न्यू0सो0इ0, 1980, पृ0
2. वही
3. सिंह, ओंकारनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 95.

इस वंश के राजाओं ने सोने, चांदी एवं तांबे के सिक्के प्रचलित किये।

1. रतनपुर के कलचुरि नरेशों के सोने के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर राजा का नाम गांगेयदेव सिक्कों की ही शैली में अंकित है। किन्तु अग्रभाग पर एक सर्वथा नवीन प्रतीक को अपनाया गया है। यह प्रतीक है गजशार्दूल प्रतीक। जिसमें हाथी को असहायावस्था में एवं सिंह को आक्रामक ढंग से गुथे हुये अंकित किया गया है। सर्वप्रथम बी0बी0 नाथ ने इस अंकन को पहचाना था।[1]

   इस तरह के सोने के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर तीन शासकों के नाम प्राप्त होते हैं। ये हैं–श्रीमद्‌पृथ्वीदेव, श्रीमद् जजल्लदेव एवं श्रीमद्रत्नदेव।

   इस वंश में तीन रत्नदेव, दो जाजल्यदेव एवं दो पृथ्वीदेव हुये। अतः सही प्रचलनकर्ता नरेश के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं।

2. इस वंश की रजत मुद्राओं में मात्र पृथ्वीदेव (द्वितीय) की ही तीन रजत मुद्रायें प्राप्त हुयीं हैं। पृष्ठ भाग पर नागरी लिपि में राजा का नाम एवं अग्रभाग पर सिंह अंकित है।

3. इस वंश की ताम्र मुद्राओं के अंकन में विविधता एवं मौलिकता तांबे के सिक्कों में राजा का नाम वाला लेख सोने के सिक्कों की ही शैली का है किन्तु प्रतीक अनेक प्रकार के हैं। ये प्रतीक हैं, हनुमान, सिंह, कटार एवं गजशार्दूल।

---

1. ज0न्यू0सो0इ0, 13, पृ0 199.

(क) हनुमान के चित्र से युक्त तांबे की मुदायें इस वंश के केवल दो शासकों की प्राप्त हुयीं है। ये हैं-जाजल्लदेव (प्रथम) एवं पृथ्वीदेव (द्वितीय)

जाजल्लदेव देव की मुद्राओं पर हनुमान गदाधारी एवं द्विभुजी दर्शाये गये हैं। पी0सी0 राय ने[1] गदा की जगह पताका एवं लोचनप्रसाद पाण्डेय[2] ने धनुष का अंकन माना है। किन्तु यह मत उचित नहीं है। हनुमान का सम्बन्ध सदैव गदा से ही माना गया है, पताका या धनुष से नही।

पृथ्वीदेव के सिक्कों पर हनुमान का अंकन विविध रूपों में किया गया है। कहीं-कहीं पर हनुमान खड़े एवं चतुर्भुजी दर्शायें गये हैं एवं उपर के एक हाथ में गदा एवं एक हाथ में पर्वत उठायें हैं। नीचे के दोनों हाथों से उन्होंने दो उन असुरों को पकड़ा है जिन्हें वे कुचल रहे हैं। कहीं-कहीं पर हनुमान बैठे हुये एवं चतुर्भुजी हैं जो पैरों के नीचे लेटे हुये राक्षस को कुचल रहे हैं। कुछ मुद्राओं में दो भुजाओं वाले हनुमान राक्षस के कुचल रहें हैं जबकि कुछ अन्य मुद्राओं में आकाशधारी अनुमान का अंकन हैं।

हनुमान प्रतीक को रतनपुर के कलचुरि वंशीय शासकों ने चंदेल वंशीय मुद्राओं के अनुकरण करके अपनाया था।

(ख) पृथ्वीदेव (द्वितीय), जाजल्लदेव (द्वितीय) एवं प्रतापमल्ल की कुछ ताम्रमुद्राओं पर सिंह का अंकन प्राप्त होता है।

(ग) कटार प्रकार के सिक्कों में क्यान में भरी कटार का चित्रण है।

(घ) रत्नदेव (द्वितीय) एवं पृथ्वीदेव (द्वितीय) के तांबे के सिक्कों में गजशार्दूल प्रतीक है।

---

1. राय,पी0सी0, का0 ना0 इ0 पृ0 29

(ग) चंदेल वंशीय शासकों की मुद्रायें

खजुराहों, कालंजर, महोबा एवं अजयगढ़ चन्देलों के मूल प्रदेश थे। चन्देल राज्य को जजभुक्ति अथवा जैजाकभुक्ति कहा जाता था। एक महोबा अभिलेख से प्रकट होता है कि चन्देलों के एक राजा शक्ति, जिसे जेय और जेज्जक भी कहा जाता था ने अपने नाम पर चन्देल राज्य का नाम जेजभुक्ति अथवा जैजाकभुक्ति रखा था। आज यह प्रदेश बुन्देलखण्ड के नाम से जाना जाता था।[1]

इस वंश में अनेक शासक हुये। कीर्तिवर्मन् (1660-1100 ई0) सलक्षणवर्मन् (1100-1115 ई0), त्रैलोक्यवर्मा (1205-1247 ई0) एवं वीरवर्मा (1261-1286 ई0) ने अपने शासनकाल में सिक्के जारी किये।

स्वर्णमुद्रायें:-कीर्तिवर्मन्, सलक्षणवर्मन, मदनवर्मा, परमर्दिदेव, त्रैलोक्यवर्मा, वीरवर्मा ने स्वर्णमुद्रायें जारी की। इनके अग्रभाग पर राजा का नाम एवं पृष्ठभाग पर गांगेयदेव शैली में चुतुर्भुजी लक्ष्मी का अंकन है।

रजतमुद्रायें:-मदनवर्मा ने रजत मुद्रा जारी की जो स्वर्ण मुद्रा की तरह ही है।

ताम्रमुद्रायें:-चन्देल वंशीय शासकों की ताम्रमुद्रायें भी प्राप्त हुयी हैं। इनके प्रतीक चिन्हों में विविधता है।

1. कुछ ताम्रमुद्रायें सुवर्ण मुद्रायें की ही शैली पर निर्मित हैं जिनके एक ओर लक्ष्मी तथा दूसरी ओर राजा का नाम अंकित है। मदनवर्मा की कुछ ताम्रमुद्रायें इसी शैली की हैं।
2. कुछ ताम्रमुद्राओं के पृष्ठभाग पर वानराज हनुमान का अंकन है।

---

1. पाण्डेय लोचन प्रसाद, ज0आ0हि0रि0सो0, 12 पृ0 176

हनुमान की उपासना से सम्बंधित प्राचीनतम प्रमाण चंदेलवंशीय अभिलेखों से ही प्राप्त होते हैं। चंदेलवंशीय शासकों ने ही सर्वप्रथम अपने तांबे के सिक्कों पर हनुमान प्रतीक का अंकन कराया था। इसका प्रारम्भ सलक्षणवर्मन् के समय में हुआ। इसके पुत्र जयवर्मा की मुद्रायें एवं पृथ्वीवर्मा एवं मदनवर्मा की मुद्रायें इसी शैली की हैं।

[IV] मालवा के शासकों की मुद्रायें

मालवा के परमार वंश के दो शासकों उदयादित्य एवं नरवर्मन् ने गांगेयदेव के सिक्कों की तरह अपने लक्ष्मी प्रकार के सिक्के प्रचलित किये।

[V] उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र में प्रचलित मुद्रायें

काबुलघाटी एवं गंधार, जो प्राचीन भारत के उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र (वर्तमान अफगानिस्तान एवं पाकिस्तान) में स्थित था, की अवस्थिति भारत एवं मध्यएशिया के बीच जाने वाले महान् प्रचीन भागों के बीच में थी। यदि खुरासान की ओर से देखें तो सीस्तान सिंध का एवं काबुल भारत का प्रवेशद्वार था। नवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य से काबुल के गढ़नुमा प्रदेश से पूर्व में कम से कम उद्भन्दपुर (वैहिन्द या आहिन्द) तक के क्षेत्र का शासन जिस वंश द्वारा किया गया वह परवर्ती लेखकों द्वारा 'शाही' वंश कहा गया।[2]

प्राचीन समय में काबुल का भू-भाग ईरानी राजाओं के अधिकार में था। सातवीं शताब्दी के पश्चात् उस क्षेत्र के शासक को शाह की पदवी प्राप्त थी। वे क्षत्रिय थे किन्तु बौद्धधर्मानुयायी थे। ह्वेनसांग (630 ई0) ने उल्लेख

---

1. पाण्डेय विमलचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 406.
2. देयल, जास, लिविंग विदाउट सिल्वर आक्सफोर्ड 1990, पृ0 51

किया है कि काबुल का राजा शाह कहा जाता था। संभवतः यह पदवी ईरानी पदवी का अनुकरण था।[1]

काबुल के क्षत्रियशाही वंश की स्थापना 666 ई0 में बर्हतिगिन द्वारा की गयी थी। 843ई0 में इस वंश के अंतिम शासक लगतुरमान को सत्ताच्युत करके कल्लर (लल्लिय) नामक एक ब्राह्मण मंत्री ने सत्तासीन होकर ब्राह्मणशाही वंश की स्थापना की। अलबरूनी ने इसे शाहिमान 'अल-हिंन्दमा' कहा है।[2] उसके इस कथन के आधार पर इस वंश को वर्तमान इतिहासकार 'हिन्दूशाहि' के नाम से पुकारते हैं।[3] सुरक्षा के दृष्टिकोण से असने ओहिन्द को अपनी राजधानी बनायी।

इस वंश के अनेक शासकों के विषय में कल्हण एवं अलबरूनी ने उल्लेख किया है। किन्तु यह न ही पूर्ण एवं न ही क्रमबद्ध है। इस वंश के जयपाल, आनन्दपाल एवं अंतिमनरेश त्रिलोचनपाल को तुर्कों से युद्ध करना पड़ा था। शाही नरेश गंधार क्षेत्र के प्राकृतिक उत्पादों के साथ अपने राज्य से निरन्तर गुजरने वाले व्यापारिक कॉरवों से राजस्व प्राप्त करते थे।[4]

शाहि वंश के सिक्कों पर कई नाम मिलते हैं। ये हैं-स्पलपतिदेव, सामन्तदेव, खुदवयक, वक्कदेव एवं भीम। ये नाम वाले सिक्के अनेक प्रदेशों से प्राप्त हुये हैं। शाही नरेशों ने चांदी एवं तांबे की मुद्रायें चलायी। चाँदी के सिक्कों के अग्र भाग पर एक बैठा हुआ वृष है एवं एक देवनागरी लिपि में लिखा हुआ लेख है। जबकि पृष्ठ भाग पर एक घुड़सवार का अंकन हुआ है। सभी प्रकार के 346 उदाहरणों का औसत वजन 3.15 ग्राम हैं जिसमें मानक

1 उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ-202
2 तहकीक-उल-हिन्द,अनुवाद, ई0सी0 सचाऊ , लूनज, 1914, खण्ड-2, पृष्ठ 10
3. सिंह, ओंकार नाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पू0 40
5. देयल, जॉन्स, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 51

विचलन 0.21 या 6.5 प्रतिशत है। चाँदी के सिक्कों के 16 उदाहरणों में चाँदी का औसत अनुपात 64.6 प्रतिशत है जिसमें 3.3 प्रतिशत का मानक विचलन है। इस प्रकार शाहियों के वृष एवं घुड़सवार वाले चांदी के सिक्कों में 2.03 ग्राम की शुद्ध चाँदी है।[1]

शाहियों ने ताम्रसिक्के भी चलाये। सबसे प्राचीन सिक्के चोदी के सिक्कों के अंकन एवं वजन के अनुरूप ही चलाये गये। बाद में जारी किये गये सिक्कों में परिवर्तन दिखता हैं। इनके अग्रभाग पर हाथी एवं देवनागरी लिपि में लेख है जबकि पृष्ठ भाग पर एक सिंह अंकित हैं। सिक्के पर अनेक लेख लिखे हैं।[2]

स्पलपतिदेव

स्पलपतिदेव के चांदी एवं तांबे के सिक्के प्राप्त हुये हैं। जिनके अग्रभाग पर मनकों के बीच में बैठा वृष (नन्दि है)। पीठ पर झूल एवं गले में तारानुमा ताबीज या घण्टी है। कूल्हे पर त्रिशूल का अंकन है एवं वृष के ऊपर शारदालिपि में 'श्रीस्पलपतिदेव' लेख है।

पृष्ठ भाग में अश्वारोही सिर पर पगड़ी बांधे हुये, एक हाथ में लगाम एवं दूसरे हाथ में भाला अथवा पताका लिये हुये चित्रित किया गया है। घुड़सवार के पीछे अक्षर है एवं सामने की तरफ बाख्त्री लिपि में आलेख है।

जेम्स प्रिंसेस ने इन्हें राजपूतों के प्राचीनतम सिक्के मानते हुये आलेख को 'स्यलपति' पढ़ा एवं सियालकोट से इसका सम्बन्ध बताया।[3] थामस ने भी 'स्यलपति' पाठ पढ़ा एवं इसका तादात्म्य अलबरूनी द्वारा उल्लिखित इस वंश

---

1. मैकडावल, उद्घृत, देयल, जॉन पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 51
2. देयल जॉन्स, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 52.
3. प्रिंसेप, एस्सेज़, भाग 2, पृष्ठ 313

के संस्थापक कल्लर से किया।[1] कनिंघम ने 'स्पलपति' यह शुद्ध पाठ किया एवं इस नाम को कल्लर का विरुद् माना।[2]

घोड़े के सामने लिखे लेख को ई0सी0 बायले[3] ने गुप्तसंवत् को दर्शाने वाली अरबियन लिपि में लिखी तिथि मानी थी।

इस प्रकार का अंकन सामंतदेवलेखयुक्त सिक्कों पर भी देखते हुये बिसेन्ट स्मिथ ने स्पलपति एवं कल्लर दोनों को समानार्थी मानते हुये दोनों को ही कल्लर का विरुद माना। वह कहते हैं कि फारसी उपाधि 'स्पलपति' लिखे सिक्के उसने सिन्धु नदी के पश्चिम के उस भूभाग में जारी किये होंगे जो पहले फारस साम्राज्य के अन्तर्गत थे और उसका समानार्थी संस्कृत विरुद वाले सिक्के पंजाब में चलाये होंगे।[4] योगेन्द्र मिश्र ने स्पलपतिदेव, सामन्तदेव एवं वक्कदेव तीनों ही नामों को कल्लर का विरुद्ध माना।[5] किन्तु ये मत यौक्तिक नहीं है। वस्तुतः इन सिक्कों पर अंकित लेख अरबी लिपि में अंकित नहीं हैं। वह वास्तव में घसीट कर लिखी गयी बाख्त्रीलिपि का ही विकृत रूप हैं। अश्वारोही के आगे-पीछे एवं घोड़े के पैरों के नीचे कुछ चिह्न अथवा अक्षर है।

स्पलपतिदेव के सिक्कों को लेखनशैली, बनावट आदि के आधार पर मैकडावल[6], प्रतिपाल भाटिया[7] ने विभिन्न भागों में विभाजित किया है।

मैकडावल एवं रहमान का मत है कि 'स्पलपतिदेव' नाम के सिक्के

---

1. जर्नल रॉयल एसियाटिक सोसाइटी, 1848, पृ0 197.
2 कनिंघम, ए0क्वायन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन, 1894.
3 न्यू0 क्रा0 सीरिज 3, खण्ड 2, 1882, पृ0 128-185.
4 स्मिथ वी0ए0 कैटलाग ऑफ क्वायन्स इन इण्डियन म्यूजियम एनशियट, भाग 1, ऑक्सफोर्ड, 1906
5. मिश्र योगेन्द्र, हिन्दू शाहीज ऑफ अफगानिस्तान एण्ड पंजाब, 1972, पृ0 19-20.
6. न्यू0क्रा0 1968, पृ0 197
7. भाटिया प्रतिपाल, बुल-हार्समैन क्वायन्स ऑव शाहीज, सरका 650-1026, अधिवेशन की प्रोसीडिंग्स, पृ0

तुर्क शाहियों द्वारा (750 ई0 से 850 ई0 के बीच) जारी किये गये थे। जबकि 'सामंतदेव' नामक सिक्के उनके उत्तराधिकारी हिन्दुशाही द्वारा जारी किये गये थे। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

सामंतदेव

सामन्तदेव नाम के राजा के सिक्के भी स्पलपतिदेव के सिक्कों की ही तरह हैं। मात्र अग्रभाग पर 'श्री स्पलपतिदेव की जगह 'श्री सामंतदेव' लेख है। कुछ विद्वान् इसे अलबरूनी द्वारा उल्लिखित कल्लर के उत्तराधिकारी सामंत के सिक्के मानते हैं। जबकि अनेक विद्वानों का यह मत है कि इस नाम वाले सिक्के एक नहीं वरन् कई शासकों के हैं एवं यह स्पलपति का ही एक पर्यायवाची है।

थामस कहते हैं कि 'स्पलपति' लेख युक्त सिक्के अफगानिस्तान में ज्यादा प्राप्त हुये हैं तथा भारत के उत्तरी भाग एवं पंजाब में अपेक्षतया कम हैं। जबकि सामंतदेव के सिक्के भारत के पश्चिमोत्तर भाग एवं पंजाब में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं तथा काबुल में सामान्य मात्रा में ही प्राप्त होते हैं।[1] मैकडावल[2] एवं प्रतिपाल भाटिया[3] ने भी इसी विचार का समर्थन किया है।

भाटिया का मत है कि दसवीं सदी ई0 तक शाहियों के अधिकार से उनके राज्य का पश्चिमी एवं उत्तरी भाग छिन गया था एवं वे मात्र एक भारतीय राज्य के ही शासक रह गये थे अतः उन्होंने स्पलपति जैसे बैक्ट्रियन उपाधि की जगह संस्कृत, पर्यायवाची सामंतदेव उपाधि का धारण किया।[4]

किन्तु यह मत यौक्तिक नहीं है। अफगानिस्तान से पंजाब तक ये

---

1. थामस ई0, ऑन द क्वायन्स ऑफ द डायनेस्टी ऑफ द हिन्दू किंग्स ऑफ द काबुल, ज0रा0ए0सो0, 1948, पृ0 181.
2. मैकडावल, न्यू0क्रा0, 1968, पृ0 190-191
3. भाटिया, प्रतिपाल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 56
4. भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 56.

सिक्के समान मात्रा में प्राप्त होते हैं। इसकी संख्या में जो अंतर परिलक्षित है वह स्वाभाविक रूप से कालक्रम का ही है, क्षेत्रभेद का कदापि नहीं।[1]

सामंतदेव लेखयुक्त सिक्के हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा क्षेत्र में भी प्रचलन में थे। सामंतदेव लेख युक्त सिक्के चांदी, मिश्रित धातु (चांदी एवं तांबा) एवं तांबे धातु के निर्मित थे। कहीं-कहीं मुख भाग पर सुसज्जित हाथी एवं 'श्री सामंतदेव' लेख तथा पृष्ठ भाग पर अगला पंजा उठाये हुये सिंह का अंकन वाले तांबे के सिक्के भी प्राप्त हुये हैं।

बाद में 'सामंतदेव' लेख को कुछ राजपूत शासकों ने वृष के प्रतीक के अंकन वाले भाग की तरफ अपने सिक्कों में उतारा एवं दूसरे घुड़सवार वाले भाग पर अपना नाम अंकित कराया। शाकम्भरी के चाहमानों के अग्रभाग पर लेख है-'सावरी श्री सामंतदेव'।[2]

खुदवयक

मिश्र धातु के खुदवयक नाम युक्त वृष-अश्वारोही परम्परा के ही कुछ सिक्के प्राप्त हुये हैं। अश्वारोही के पीछे एवं आगे कुछ प्रतीक बने हुये हैं। विद्वानों ने यहां अरबी 'अदल' होने का अनुमान किया है।

कानिंघम[3] आदि विद्वानों ने इस पर लिखे लेख को खमरयक पढ़ते हुये इन सिक्कों को हिन्दूशाही वंशीय नरेश अलबरूनी द्वारा उल्लिखित सामंत के परवर्ती कमलू का सिक्का माना। जबकि जगन्नाथ अग्रवाल, भाटिया, मैकडावल, रहमान आदि विद्वानों ने इसे हिन्दूशाही नरेशों का सिक्का नहीं स्वीकार किया है। वे इसका प्रचलन कर्ता किसी मुस्लिम शासक को मानते हैं।

---

1. सिंह ओंकारनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 48.
2. लाहिड़ी, बेला, जू0न्यू0सो0ई0, भाग 41, 1980.
3. कनिंघम, क्वायंस ऑफ मेडिवल इण्डिया, पृ0 50-59.

जगन्नाथ अग्रवाल इस सम्बन्ध में पालम से प्राप्त विक्रम संवत् 1342 के एक लेख का उल्लेख करते हैं। इस लेख में वर्णित 'षुदुवदीन' को वह कुतुबुद्दीन को इंगित किया मानते हैं एवं इसके 'खुदुव' शब्द को एवं इन सिक्कों के खुदब को समान नरेश का सूचक मानते हैं। सिक्कों के खुदब के परवर्ती 'यक' शब्द को वह ऐबक का द्योतक मानते हैं।[1] किन्तु यह मत उचित नहीं है। अभिलेख के खुदब के बाद लिखा गया दीन शब्द यहां नहीं मिलता है। पुनः कुतुबद्दीन के विकलांग होने के कारण बाद के इतिहासकारों द्वारा इसे ऐबक कहा गया था। ये सिक्के दिल्ली सल्तनत की सीमा के बाहर मिले हैं एवं 60 प्रतिशत से अधिक चांदी वाले हैं जबकि मुहम्मदगोरी एवं परवर्ती सुल्तानों के दरब के सिक्कों में मात्र 20 प्रतिशत से 30 प्रतिशत ही चांदी है। अतः ये सिक्के कुतुबुद्दीन ऐबक के नहीं हो सकते हैं।

भाटिया[2] इन्हें मुहम्मद गजनवी, मैकडावल[3] याकूब एवं रहमान[4] याकूब के किसी शासक का सिक्का मानते हैं इस प्रकार इन सिक्कों के प्रचलनकर्ता नरेश के विषय में असंदिग्ध प्रमाण सुलभ नहीं हैं।

भीमदेव

भीमदेव नाम युक्त चाँदी के 'वृष एवं अश्वारोही प्रकार' के सामंतदेव की ही तरह के सिक्के मिले हैं। जबकि इसी नाम के तांबे के सिक्के गज-सिंह शैली के हैं। इसमें मुख भाग पर गज एवं राजा का नाम है एवं पृष्ठ भाग पर सिंह तथा 'बेक' एवं 'सामंत' लेख है।

इस नरेश के विषय में अपेक्षतया ज्यादा ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है।

---

1. अग्रवाल जगन्नाथ, रिसोर्सेज इन इण्डियन एपीग्रेफी एण्ड न्यूमिस्मैटिक्स, पृ0 126
2 भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट
3. मैकडावल, न्यू0क्रा0 1968, पृ0 198.
4. रहमान, द लास्ट डायनेस्टी आफ शाहीज (अप्रकाशित, शोध प्रबंध) पृ0 102.

अलबरूनी में भीम का उल्लेख कमलू के बाद किया है। जिसकी पहचान विद्वान् कमलवर्मन् से करते हैं। भाटिया[1] एवं रहमान[2] भीम को कमलवर्मन् का ही पुत्र बताते हैं। किन्तु भीम कमलू की कई पीढ़ियों के बाद हुआ था। इसी की दौहित्री काश्मीर की रानी दिद्दा थी।[3] यह संभवतः जयपाल का पितामह था।

भीमदेव नामयुक्त सोने के सिक्के प्राप्त हुये हैं। इसे कलकत्ता के अजित घोष ने प्रकाशित किया था।[4] इन सिक्कों के अग्रभाग में सिर पर जटाजूटधारी, दाढ़ीयुक्त पुरूष आसन पर बैठा है। एक हाथ में कमलदण्ड है एवं दूसरा हाथ फैला हुआ है। एक नारी जो एक हाथ कमर पर रखी है एवं दूसरे हाथ से पुरूष को कुछ दे रही है, भी चित्रित है। हाथी का भी चित्र है एवं शाहिभीमदेव लेख लिखा है।

पृष्ठभाग पर बेंत के मूढ़े पर माला एवं याज्ञोपवीत धारी पुरूष है। एक नारी भी पद्मासना मुद्रा में है। दोनों के एक हाथ में कमल है। ऊपर 'श्रीमद्गुणनिधि श्रीसामंतदेव' लेख है।

यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि भीमदेव के सोने के सिक्के प्राप्त हुये हैं क्योंकि इस काल में पंजाब, कश्मीर एवं अफगानिस्तान में किसी भी राजवंश द्वारा सोने के सिक्के नहीं जारी किये गये थे। प्रतीक भी नितांत भिन्न है। इसी कारण परमेश्वरी लाल गुप्ता इसे शाहि वंशीय सिक्का नहीं मानते हैं।

---

1 भाटिया, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 56.
2. रहमान, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 178
3. राजतरंगिणी 6, पृ0 178-179.
4. घोष, अजित, न्यू0क्रा0 1968, पृ0 189-223.

कमर

तांबे के 3.3 ग्रेन भार वाले शाहि परम्परा से सर्वथा भिन्न सिक्के का बायले ने उल्लेख किया है।[1] इस सिक्के के अग्र भाग पर पंख फैलाये मोर है। पृष्ठ भाग पर सिंह का चित्र अंकित है एवं 'श्रीकमर' लेख है। लल्लन जी गोपाल इसे कमलू का सिक्का मानते हैं।[2] किन्तु इसका अंकन, बनावट आदि शाहि सिक्के से एकदम भिन्न होने के कारण विद्वानों ने इसके शाहीवंशीय सिक्का होने में संदेह व्यक्त किया है।

वक्कदेव

वक्कदेव लेखयुक्त कुछ सिक्के प्राप्त हैं। ये तांबे के गोलाकार, .7 इंच के आसपास व्यास के है एवं इनका भार 32-15 ग्रेन के बीच का है। अग्रभाग पर बढ़ता हुआ गज एवं 'श्री वक्कदेव' लेख है एवं पृष्ठ भाग पर सिंह है। मैकडावल इसे सामन्तदेव से पूर्व का नरेश मानते हैं।[3]

'वृष-घुड़सवार' का अंकन लम्बे समय तक लोकप्रिय था एवं लगभग 750 वर्षो तक चलता रहा। इस प्रकार यह दूसरा सिक्का प्रकार था जो इतने लम्बे समय तक चलता रहा। सबसे ज्यादा समय, करीब 1200 वर्षो तक चलने वाले काश्मीर के सिक्के थे जो 'खड़ा राजा एवं बैठी लक्ष्मी प्रकार' के थे।[4]

---

1. बायले, ई0सी0, न्यू0क्रां0, तृतीय सीरिज, 2, 1882 पृ0 130.
2. गोपाल, लल्लन जी, अ0मे0का0दा0नॉ0इ0 पृ. 70.
3. मैकडावल, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 263-64.
4 लाहिड़ी, बेला, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0

[VI] शाकम्भरी एवं दिल्ली क्षेत्र के राजपूत शासकों के सिक्के

650 ई0 सन् 1200 ई0 सन् तक अनेक राजपूत वंशों ने भारत में शासन किया। इनमें प्रमुख थे गुर्जरप्रतिहार, परमार, चालुक्य, चाहमान तोमर आदि।

(क) शाकम्भरी के चाहमान शासकों के सिक्के

चाहमान सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। इस वंश की अनेक शाखायें थीं। इनमें से एक शाखा ने शाकम्भरी (सम्भर) में अपना राज्य स्थापित किया।[1] चाहमान वंशों में इसी शाखा के चाहमानों की मुद्रायें प्राप्त हुयीं हैं। इस वंश की राजधानी शाकम्भरी में थी। बाद में अजयराज के समय अजयमेरू (वर्तमान अजमेर) नगर की स्थापना हुयी।[2] तब यह इसकी राजधानी बन गयी।

इस वंश का सर्वप्रथम स्वतंत्र शासक पृथ्वीराज प्रथम (1105 ई0 सन्) था। इसके पश्चात् अजयराज, अर्णोराज, विग्रहराज चतुर्थ, अपर-गांगेय, पृथ्वीराज द्वितीय, सोमेश्वर एवं पृथ्वीराज तृतीय क्रमशः सत्तासीन हुये। 1192 ई0 में तराइन के द्वितीय युद्ध में गजनी के मुहम्मद गोरी से पृथ्वीराज तृतीय की पराजय हो गयी जिसने इसका वध करवा दिया। अजमेर पर गोरी की प्रभुसत्ता स्थापित हो गयी। यद्यपि बाद में पृथ्वीराज तृतीय का भाई हरिराज मुहम्मदगोरी की ओर से गद्दी पर बैठा किन्तु अजमेर की स्वतंत्र सत्ता 1192 में ही समाप्त हो चुकी थी। बाद में हरिराज भी हटा (1194 ई0 सन्) दिया गया एवं अजमेर पर कुतुबुद्दीन का अधिकार हो

---

1 पाण्डेय, विमलचन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 394.
2. उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 206.

गया। इस प्रकार 1194 ई0 के लगभग चाहमान राजवंश का अंत हो गया।[1]

इस वंश के कई राजाओं में मात्र तीन राजाओं के समय की मुद्रायें उपलब्ध हुयी हैं। ये हैं:-अजयराज एवं उसकी पत्नी सोमलेखा की, सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज तृतीय की मुद्रायें।

(1) **अजयराज के सिक्के**:-अजयराज (1110-1120 ई0) एक प्रतापी नरेश था। इसने मालवा पर आक्रमण किया तथा परमारों पर विजय प्राप्त की। इस वंश में सर्वप्रथम इसी नरेश ने अपना सिक्का प्रचलित किया। इसने चांदी एवं तांबे धातुओं का मुद्रा निर्माण में प्रयोग किया।

अजयदेव ने मुद्रा चलायी इस बात की पुष्टि पृथ्वीराज विजय की इस पंक्ति से होती है कि उसने अपने रूपकों से पृथ्वी को भर दिया।[2] 'श्री अजयदेव मुद्रांकित द्रम्म' का उल्लेख उसके पौत्र विग्रहपाल चतुर्थ के अभिलेख में हुआ है। अजयदेव की चांदी मुद्रा गांगेयदेव शैली के अनुसार निर्मित थी। इसके मुख भाग पर नागरी लिपि में दो पंक्तियों में 'श्री अजयदेव' लिखा है। पृष्ठ भाग पर पद्मासन मुद्रा में बैठी चतुर्भुज लक्ष्मी का अंकन है। 16 उदाहरणों में इस तरह की मुद्रा का औसत वजन 4.28 ग्राम है एवं चांदी तथा तांबा का अनुपात 20:80 के आसपास है।[3] अजयराज को अभिलेखों में अजयदेव कहा गया है।[4] 1168[5] एवं 1171 के मेवाड़ अभिलेखों में अजयदेव के चांदी के सिक्को का उल्लेख है।

---

1 पाण्डेय विमल चन्द्र, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 401
2 'दुर्वर्णमयै भूमि रूपकै: पर्यपूरत, जयानक, पृथ्वीराज विजय, पंचम 88
3. देयल जॉन्स पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 146
4 इण्डियन एण्टीक्वेयरी, 1912, पृ0 209-210.
5 अग्रवाल, वी0एस0, ट्रम्मा इन एनशियण्ट इण्डियन इपिग्राक्स एण्ड लिटरेचर ज0न्यू0सो0इ0, 117, 195, 2, पृ0 71-72

कुछ विद्वान् जैसे प्रिन्सेप एवं मैकडावल[1] इन सिक्कों को गाहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र का बताते है। जबकि गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[2] दशरथशर्मा, लल्लनजीगोपाल[3] पी0 सी0 राय आदि इसे चाहमान नरेश अजयराज द्वारा प्रवर्तित मानते हैं। वस्तुतः गोविन्दचन्द्र ने मात्र सुवर्ण एवं ताम्र मुद्रायें ही चलायी रजत की नहीं, पुनः इसकी मुद्राओं में राजा के नाम के पूर्व 'श्री मद्' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त कहीं भी गोविन्दचन्द्र का उल्लेख अजयराज या अजयदेव के रूप में नहीं हुआ है।

मेवाड से प्राप्त ताम्बे के कुछ सिक्कों में अजयपाल एवं सोमलदेवी का नाम अंकित है।[4]

(2) **सोमलेखा के सिक्केः**-अजयराज की पत्नी सोमलेखा के सिक्के भी प्राप्त हुये हैं। 'पृथ्वीराज विजय' में उल्लेख है कि सोमलदेवी पति के सदृश प्रतिदिन मुद्रा प्रचलित करती थी।[5] अभिलेखों में उल्लिखित सोमलदेवी का तादात्म्य सोमलेखा से किया जाता है। सोमलदेवी के चाँदी एवं ताँबे के सिक्के प्राप्त हुये हैं जिनकी तौल क्रमशः 65 ग्रेन तथा 30 ग्रेन है। अग्र भाग पर अश्वारोही का अस्पष्ट अंकन है एवं पृष्ठ भाग पर 'श्री सोमलदेवी' लेख लिखा है।

रैप्सन का मत है कि सोमलदेवी लेखयुक्त सिक्के अजयराज की मृत्युपरान्त उसके पुत्र अर्णोराज द्वारा जारी किये गये थे। किन्तु पृथ्वीराजविजय से ज्ञात होता है कि रानी सोमलेखा अपने पति (अजयराज) के जीवन काल में

---

1. मैकडावल न्यू क्रा0 1958, पृ0 164
2. ओझा गौरीशंकर हीराचंद इ0 ए0 1912, पृ0 209.210,
3. गोपाल लल्लन जी, अली मेडिवल क्वायंस टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ0 46-47
4. उपाध्याय वासुदेव पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 207
5. सोमलेख्या प्रियाप्यस्य प्रत्यंह रूपकनवै.।
6. बिजोला अभिलेख, 1170 ई0 सन्., इण्डियन एण्टीक्वेरी, 1891, पृ0 133

ही नित्यप्रति सिक्के जारी किया करती थी। स्मिथ, दशरथशर्मा एवं लल्लनजी गोपाल ने इसी मत का समर्थन किया है। बर्न उसे शासिका मानते हैं।[1] किन्तु यह मत उचित नहीं है। पृथ्वी राजविजय में उसका उल्लेख एक शासिका नहीं वरन् महारानी के रूप में ही हुआ है।

सोमलदेवी नाम के सिक्के सोमलदेवी की मृत्यु के पश्चात् भी चलते रहे।

राजस्थान से रजतनिर्मित दो चांदी की ऐसी मुद्रायें मिली है जिनमें अग्रभाग इण्डोसामानी ढंग की मुद्राओं का अनुकरण पर निर्मित है। राजा के सिर का हीन अंकन है। पृष्ठ भाग पर 'श्री सोमलदेवी लेख' है। इस प्रकार के एक सिक्के का प्रकाशन प्रिंसेप[2] एवं दूसरे का कनिंघम[3] ने किया था। लल्लनजी गोपाल[4] पी0 सी0 राय[5], देवेन्द्र हाण्डा ने इन सिक्कों के लेख 'सोमलदेवी' के आधार पर इसे चाहमानवंशीय सोमलदेवी का सिक्का माना है। किन्तु ओंकारनाथ सिंह इसे चाहमानवंशीय सोमलदेवी नहीं वरन् किसी अन्य सोमलदेवी का सिक्का मानते हैं एवं गधैया सिक्कों के क्रम में रखते हैं।[6]

(3) सोमेश्वर के सिक्केः–चाहमानवंशीय सोमेश्वर 1162 ई0 –1166 ई0 के सिक्के दरब (चांदी एवं तांबा मिश्रित) के निर्मित हैं एवं षाहि नरेशों के अनुकरण में 'वृषभ और अश्वारोही' शैली के हैं। अग्रभाग पर अश्वारोही है और नागरी लिपि में 'श्री सोमेश्वर' लिखा है। पृष्ठ भाग पर वृषभ का चित्रण है। नागरी लिपि में 'असावरी श्री सामन्तदेव' एवं कुछ सिक्कों

---

1. ज0 न्यू0 सो0 इ0, VIII, पृ0 70
2. प्रिंसेप, एस्सेज फलक, 27/17
3. क्वायक्स आफ मेडिकल इण्डिया, लन्दन, 1894, फलक 6/11
4. अर्ली मेडिवल क्वायंस टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया, वाराणसी, 1966, पृ0 79
5. क्वायन्स ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ0 112,
6. सिंह, ओंकारनाथ, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 62.

पर मात्र सामंतदेव लेख है।

इन सिक्कों पर अंकित 'आसावरी' लेख के विषय में स्मिथ[1] एवं थामस[2] कहते हैं कि यह एक सम्मानसूचक शब्द था एवं यह दुर्गा का उपनाम है। जबकि लल्लनजी गोपाल असावरी के 'व' के स्थान पर 'पु' पाठ करते हुये इसका आसापुरी पाठ करते हैं। एवं इसे पृथ्वीराज विजय में सन्दर्भित आसापुरी का द्योतक मानतें हैं।[3] किन्तु यह मत उचित नहीं है। यहां स्पष्टतया 'असावरी' लिखा दिखता है। पी0 सी0 राय इस प्रकार के सिक्कों को सोमेश्वर द्वारा प्रचलित तोमरवंशीय अनंगपाल के अनुकरण पर मानते है।[4]

(4) पृथ्वीराज तृतीय के सिक्के : सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज तृतीय (ई0सन्1166 से 1192) के दरब (चांदी एवं तांबा मिश्रित) एवं ताम्र धातु के 'वृष एवं अश्वारोही' शैली के सिक्के प्राप्त हुये हैं। अग्रभाग पर अश्वारोही एवं 'श्रीपृथ्वीराज' लेख है। पृष्ठ भाग पर वृष का अंकन है तथा लेख 'असावरी श्री सामन्तदेव' लिख है।

अन्य सिक्के : कुछ ऐसे सिक्के भी प्राप्त हुये हैं जिनके विषय में कुछ विद्वान कहते हैं कि ये चाहमानवंशीय शासकों के हैं जबकि कुछ इसे नहीं मानते हैं। ये सिक्के इस प्रकार है।

(1) 'श्री चाहड़देव' लेख एवं घुड़सवार अंकन से चुक्त अग्र भाग वाले एवं वृषभ तथा 'असावरी श्री सामंतदेव' लेख से युक्त पृष्ठ भाग वाले सिक्कों को कुछ विद्वानों ने चाहमानवंशीय बताया है।

(2) वृष एवं अश्वारोही प्रकार के 'पिथिम्बदेव' लेख युक्त दरब के

---

1. स्मिथ, वी0 ए0, कैट्लाग आंव क्वाइन्स इन इण्डियन म्यूजियम (ऐशियण्ट) भाग एक, ऑक्सफोर्ड, 1906, पृ0 261
2. थामस ई0, कोनिकल्स ऑफ द पठन किंग्स ऑफ देलही, लन्दन, 1871
3. गोपाल, लल्लनजी, अर्ली मेडिवल क्वायन्स टाइप्स, वाराणसी, 1966, पृ0 48
4. राय, पी0 सी0, क्वायंस ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ0 113,

सिक्कों को कुछ विद्वानों चाहमान अर्णोराज का पुत्र एवं सोमेश्वर के भाई पृथ्वीराज द्वितीय का सिक्का बताया है।

(3) इसी प्रकार के पिपलराजदेव, कीर्तिपाल एवं कल्हण नाम युक्त सिक्कों को कुछ विद्वान् चाहमानवंशीय मुद्रायें बतातें हैं।

पृथ्वीराज एवं मोहम्मदबिन साम के संयुक्त नाम के सिक्के : दरब के कुछ एसे सिक्के प्राप्त हुये हैं जिनके अग्र भाग पर बृष-अश्वारोही शैली का अश्वारोही एवं लेख 'श्री पृथ्वीराज' है। पृष्ठ भाग पर वृषभ एवं 'श्री महम्मद साम' लेख है।

ये सिक्के मुहम्मद गोरी के द्वारा जारी किये गये थे। पृथ्वीराज (तृतीय) का नाम अंकित कराने के पीछे संभवतः इन सिक्कों को जनता में लोकप्रिय बनाने की भावना थी।

इसी तरह मुहम्मद गोरी ने कन्नौज जीतने पर गहड़वाल ढंग का सोने का सिक्का तैयार कराया था। जिन पर लक्ष्मी की आकृति पायी जाती है। जिसके पृष्ठ भाग में नागरी अक्षरों में 'श्री मुहम्मद बिन साम' लिखा है।[1]

(ख) दिल्ली के तोमर नरेशों के सिक्के

दिल्ली पर शासन करने वाले तोमर वंशीय उन्नीस नरेशों के विषय में साहित्यिक साक्ष्यों से जानकारी प्राप्त होती है।[2] किन्तु इस वंश के मात्र चार राजाओं के ही सिक्के प्रकाश में आयें हैं ये हैं-सलक्षणपाल, कुमारपाल, अनंगपाल एवं महीपाल।

तोमरनरेशों ने दो शैली के सिक्के प्रचलित किये-1. वृष एवं घड़सवार शैली 2. गांगेयदेव शैली।

---

1. उपाध्याय वासुदेव, पृ0, 242
2. कनिंघम, उद्घृत, वासुदेव उपाध्याय, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0-208,

(1) **सलक्षणपाल** : तोमरवंश में सलक्षणपाल (978-1000 ई0) प्रथम शासक था जिसने मुद्रा प्रचलित की।[1] इसके सिक्के मिश्रित धातु (रजत + ताम्र) के सिक्के थे, जिनका वजन 50 ग्रेन के आसपास है। ये शाहि नरेशों के अनुकरण पर बने हैं एवं वृषभ-घुड़सवार शैली के है। अग्रभाग पर अश्वारोही है एवं नागरी में 'श्रीसलक्षणपालदेव' लेख लिखा है। पृष्ठ भाग पर वृषभ का चित्र एवं 'श्री सामन्तदेव' लेख अंकित है।

पी0 सी0 राय इसे ग्वालियर का प्रतिहारवंशीय नरेश मानते हैं।[2] किन्तु यह मत उचित नहीं है। सलक्षणपालदेव लेखांकित मुद्रायें तोमर राजवंश के अन्य राजाओं की मुद्राओं के साथ प्राप्त हुयी है।

कनिंघम भी इसे तोमरवंशीय कुमारपाल का सिक्का मानते हैं।[3] लल्लनजी गोपाल इसे बयाना के यदुवंशीय कुमारपाल का सिक्का मानतें हैं।[4] जबकि अद्रीश बनर्जी इसे गुजरात का चालुक्यवंशीय नरेश कुमारपाल मानते हैं।[5] पी0 सी0 राय इसे कुमारपाल नामक दो शासकों के सिक्के बताते हैं। एक चालुक्य कुमारपाल एवं दूसरा बयाना का यदुवंशी कुँवरपाल है जिनके इस प्रकार के सिक्के है।[6] किन्तु जैसा कि कनिंघम का मत है ये सिक्के तोमरवंशीय कुमारपाल के ही प्रतीत होते हैं।

(2) **अनंगपाल** : अनंगपाल (1049-79 ई0) के सिक्के मिश्रित धातु के हैं एवं 50 ग्रेन के लगभग वजन के हैं। मुखभाग पर नागरी में 'श्री अनंगपालदेव' लेख है एवं घुड़सवार का अंकन है। जबकि पृष्ठ भाग पर वृषभ

---

1. उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट 1971, पृ0 208
2. राय, पी0सी, पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 102-103
3 कनिघम ए0, क्वायंस ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन, 1894, पृ0 85
4. गोपाल, लल्लनजी, अर्ली मेडिवल क्वायंस टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया, वाराणसी, 1966, पृ0 48,
5. बनर्जी, अद्रीश, ज0 न्यू0 सो0 ई0, 25, पृ0 235-38
6. राय, पी0 सी0 दि पूर्वनिर्दिष्ट पृ0 84-86

का चित्र है एवं 'श्रीसामंतदेव' लेख लिखा है।

(3) **महीपाल :** महीपाल (1103 ई0 से 1123 ई0 सन् तक) ने मुद्रानिर्माण में तीनों धातुओं सोना, चँदी एवं ताँबे का प्रयोग किया था। इसकी स्वर्ण एवं रजत मुद्रायें गांगेयदेव शैली में निर्मित है। अग्रभाग पर नागरी लिपि में 'श्री महिपालदेव' लेख है। पृष्ठभाग पर लेटा हुआ वृषभ है। कुछ विद्वानों ने इन सिक्कों को तोमरवंशी नहीं माना। किन्तु इन सिक्कों का भार, बनावट एवं अंकन अभिप्राय तोमरनरेशों की मुद्राओं के ही सदृश है। इसलिये इन मुद्राओं को तोमरवंशीय सिक्कों के ही क्रम में रखा जाना चाहिये। कुछ विद्वान् इन्हें ग्वालियर के प्रतिहार वंशीय मुद्रा मानते हैं किन्तु ग्वालियर के प्रतिहारों की इस तरह की कोई भी मुद्रा प्रकाश में नहीं आयी है। स्मिथ भी इसे तोमरवंशीय मानते हैं।[1] कनिंघम ने इसे तोमरनरेश मानते हुये इसका समय ई0 सन् 975 से 1003 तक निर्धारित किया है।[2] लल्लनजी गोपाल इसे यदुवंश का मानते हुये इसका नाम सहणपाल बताते हैं।[3] किन्तु इनके मत में भी वही आपत्तियां हैं जो श्री राय के मत में है।

(4) **कुमारपालः**–कुमारपालदेव (1019–49 ई0) ने गांगेयदेव शैली का अनुकरण किया[4] इसके सिक्कों के अग्रभाग पर तीन पंक्तियों में लेख 'श्रीमत्कुमारपालदेव' लिखा है। पृष्ठ भाग पर प्रभामण्डलयुक्त कमलासन चतुर्भुजी लक्ष्मी का अंकन है। अंग-प्रत्यंग रेखाओं एवं बिन्दुओं द्वारा अंकित है। कलात्मकता का अभाव दिखता है। ये सुवर्ण निर्मित हैं एवं 62 ग्रेन के आसपास वजन के हैं। प्रभामण्डलयुक्त चतुर्भुजी लक्ष्मी का अंकन है।

---

1. स्मिथ, वी0ए0 कैटलाग ऑव क्वायन्स इन इण्डियन म्यूजियम (ऐशियण्ट) भाग 1, ऑक्सफोर्ड, 1906, पृ0 259.
2. कनिंघम, ए0, क्वायंस ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन, 1894, पृ0 85.
3. गोपाल, लल्लन जी, अर्ली मेडिवल क्वायंस टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया वाराणसी, 1966ए पृ0 40
4. उपाध्याय वासुदेव, पूर्वनिर्दिष्ट 1971, पृ0 209.

इसकी ताम्रमुद्रा, जिसमें चांदी का मिश्रण है वृष एवं अश्वारोही शैली की है। जिसके अग्र भाग पर अश्वारोही एवं पृष्ठभाग पर वृषभ का अंकन है। लेख श्री महीपालदेव अंकित है।

इन तीनों धातु की मुद्राओं को कनिंघम ने तोमरवंशीय महीपाल की मुद्रा माना है।[1]

यह जिज्ञासा की बात है कि राजपूत वंश के शासक किन्हीं अज्ञात कारणों से मूलरूप से प्रचलनकर्ता 'सामंतदेव' को बैल अंकन की तरफ उतारा तथा दूसरे पर अपना नाम घुड़सवार वाले अंकन की तरफ लिखवाया।[2]

[VII] काश्मीर के शासकों के सिक्के

काश्मीर राज्य भारत के उत्तर में स्थित है। यह हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओं से घिरा हुआ है। इसी कारण इसकी स्थिति देश के अन्य भागों से अलग-थलग रही है। प्रवेश मार्ग कम एवं संकरे होने के कारण वाह्य आक्रमणकारियों के लिये यहाँ आना कठिन था। इसी कारण देश के अन्य भागों में होने वाली राजनीतिक हलचलों का प्रभाव यहां कम एवं अपेक्षाकृत देर से पड़ा तथा यहां की विशिष्टतायें लम्बे समय तक बनी रहीं।

कुषाण एवं किदार कुषाणों ने यहां अधिकार करने के पश्चात् अपने सिक्के प्रचलित किये। पृथक रूप से काश्मीर की मौद्रिक परम्परा के इतिहास के विषय में कनिंघम कहते हैं कि छठी शताब्दी ईस्वी सन् से पूर्व यहां पर लघु कुषाणों (किदार कुषाणों) का राज्य था। हूण शासक मिहिरकुल ने शासन सत्ता हस्तगत करके यहां की मुद्रा परम्परा चलायी।[3] उसकी ताम्र मुद्रायें प्राप्त

---

1. कनिंघम ए0, अर्ली मेडिवल क्वायंस टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया, लन्दन, 1894, पृ0 85.
2. लाहिड़ी बेला, ज0न्यू0सो0इ0, 42, पृ0 83
3. कनिंघम, क्वांयन्स ऑव मेडिवल इण्डिया, पृ0 26-28.

हुयी हैं। मिहिरकुल के छोटे सिक्के इण्डो-सासानी ढंग के हैं एवं बड़े सिक्के कुषाण ढंग के बने हुये हैं।

बेलालहिड़ी के अनुसार काश्मीर के मिहिरकुल के पश्चात् हिरण्यकुल, देवसाहिखिंगिल, लखनउदयादित्य, पूर्वादित्य एवं श्रीनरेन्द्र शासक हुये।[1] किन्तु इन नामों के सिक्के काश्मीर नहीं बल्कि अन्यत्र कहीं प्राप्त हुये हैं। अतः इन शासकों को निश्चित रूप से काश्मीर का नहीं कहा जा सकता है।

पूर्वमध्यकाल में यदि काश्मीर की मौद्रिक परम्परा का अवलोकन किया जाय तो शेष भारत से इसकी स्थिति भिन्न दिखती है। इस समय भारत में सामंतवाद का उदय हुआ जिसका प्रमुख कारण भूमि अनुदान की प्रथा थी। सामंतवाद के कारण उत्पन्न आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के साथ ही विदेशी व्यापार के ह्रास के कारण सिक्कों की अल्पता दृष्टिगत होती है। करीब 650 ई0 से 1000 ई0 तक तो स्वर्णमुद्राओं का प्रायः अभाव ही दिखता है।[2] किन्तु यहाँ के शासकों ने मौद्रिक परम्परा की निरन्तरता कायम रखी। ये शुद्र तांबे के हैं।[3] ये शुद्ध तांबे के हैं। सोने (एवं अत्यलप मात्रा में चांदी) के सिक्के भी जारी किये गये। इस सम्बंध में बेला लाहिड़ी का विचार है कि काश्मीर, बंगाल एवं मध्यभारत में सोने के सिक्के निरंतर बने रहे इसका कारण था कि इन क्षेत्रों को सोने की न्यूनाधिक आपूर्ति होती रही। काश्मीर एवं बंगाल का सोना उत्पादन करने वाले देशों जैसे चीन एवं तिब्बत से व्यापारिक सम्बंध था जबकि मध्यभारत में सोने के सिक्के के जारीकर्ता दक्षिण की सोने की खानों से इसे प्राप्त करते थे।[4]

---

1. बेला लाहिड़ी, जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, 46, पृ0 103-106.
2. शर्मा रामशरण, पूर्वमध्यकाल में सामाजिक परिवर्तन, 1969, पृ0 5.
3. देयल, जोन्स, पूर्वनिर्दिष्ट 1990, पृ0 62.

4. लाहिड़ी बेला, जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, 42 पृ0 88.

नवीं शता0 के बाद के काश्मीरी सिक्कों की परम्परा के अत्यंत सीमित क्षेत्र में प्रचलित थे एवं ये बाहरी प्रभाव मुद्रा प्रभावों का प्रतिरोधक बने रहे।[1]

काश्मीरी सिक्के अंकन शैली की दृष्टि इस उपमहाद्वीप में कहीं भी जारी किये गये सिक्कों से अधिक रूढ़िगत थे।[2] तांबे के सिक्कों पर खड़े राजा एवं देवी के अंकन की परम्परा, जो आधिपत्य तोरमाण के समय से शुरू हुयी थी (हर्षदेव को छोड़कर) 14वीं शताब्दी पर मुस्लिम आधिपत्य के पश्चात् ही समाप्त हो सकी थी।

यद्यपि पूर्वमध्यकाल में काश्मीर में पर्याप्त मात्रा में मुद्रा प्रचलन के प्रमाण मिलते हैं किन्तु कौड़ियां भी व्यापार में प्रचलित थीं। काश्मीरी ग्रन्थ कल्हण रचित राजतरंगिणी[3] क्षेमेन्द्र रचित 'समयमात्रक'[4] आदि ग्रन्थों के कौड़ी के प्रसंग इस कथन की पुष्टि करते हैं। कभी-कभी व्यापार में अदल-बदल प्रणाली का भी प्रयोग किया जाता था। राजतरंगिणी में कथित है कि स्वर्ण कंगन का यव (जौ) के साथ विनिमय किया गया।[5]

अनाज विशेषकर चावल भी विनिमय का साधन था। संविदा की विषयवस्तु को दीनार में अभिव्यक्त किया जाता था किन्तु व्यवहार में भुगतान चावल में होता था।[6] राजतंरगिणी में "दीनार-ओज्जामचीरिका" और "धान्योज्जाम्चीरिका" के उल्लेख का तात्पर्य क्रमशः नकद (दीनार) और अन्न

---

1. देयल जेन्स, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 63.
2 देयल, जॉन्स, लिविंग विदाउट सिल्वर, पृ0 62.
3. राजतरंगिणी VII 122
4. समयमात्रक, समय 8, श्लोक, 80.
5. राजतरंगिणी, तरंग 7, श्लो0 162.
6. वही (स्टाइन) भाग 1, और 2.

के ऋण के निमित्त बंधन (सट्टा) से है।[1] क्षेमेन्द्र के 'लोकप्रकाश' में भी 'दीनार हुण्डिका' एवं 'धान्यहुण्डिका' के प्रसंग इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

तोरमाण

पूर्वमध्यकाल में काश्मीरी सिक्कों की परम्परा का उदय 'तोरमाण' नामक नरेश के सिक्के से माना जा है। इसके तांबे के गोलाकार सिक्के प्राप्त हुये हैं। जिनका व्यास .76'' से .86'' है एवं भार 101 से 113 ग्रेन है। ये मूलतः कुषाण सिक्कों के अनुकरण है किन्तु परिवर्तित रूप में है। कुषाण सिक्कों के अग्रभाग पर राजा खड़ा हुआ अग्निवेदिका में हविष डालता चित्रित है तथा पृष्ठ भाग पर कार्नुकोपिया लिये बैठी ओर्दोक्षो देवी का अंकन है जबकि तोरमाण के सिक्कों में अग्रभाग पर राजा खड़ा है तथा पृष्ठ भाग पर देवी लक्ष्मी जो हाथ में कमल लिये है, का अंकन है। पृष्ठ भाग पर ही ब्राह्मी लिपि में 'किदार' लेख लिखा है।

तोरमाण नामक इस नरेश की पहचान एक कठिन समस्या है। स्मिथ इसे हूण नरेश मिहिरकुल का पुत्र बताते हैं।[3] किन्तु हूणनरेश के मिहिरकुल के तोरमाण नामक पुत्र के सम्बन्ध में पुष्टिकारक तथ्यों का अभाव है। राजेजुलालमित्र, भानुदाणजी तथा आरेल स्टाइन इसे हूण नरेश तोरमाण बताते हैं।

किन्तु एस0सी0रे0 इस मत का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार राजतरंगिणी में उल्लिखित 'तोरमाण' हूण तोरमान से अलग है। इस तोरमाण का पुत्र प्रवरसेन था जबकि हूण तोरमान का पुत्र मिहिरकुल था। प्रवरसेन एवं

---

1. वही, भाग-2, पृ0 313.
2. स्मिथ, वी0ए0, कैटलॉग ऑव क्वाइंस इन इण्डियन म्यूजियम (ऐंशियन्ट) भाग 1
3. स्मिथ, वी0ए0, कैटलॉग ऑव क्वाइंस इन इण्डियन म्यूजियम (ऐंशियन्ट) भाग 1.

मिहिरकुल के सिक्के अलग प्रकार हैं। लल्लन जी गोपाल[1] एवं बेलालाहिड़ी[2] भी इन सिक्कों को हूण तोरमाण का नहीं मानते हैं। बहुत संभव है कि ये सिक्के काश्मीर के स्थानीय शासक के रहे हों।

'तोरमाण' नामयुक्त सिक्के लम्बे समय तक जारी रहे। क्षेमेन्द्र के लोक प्रकाश[3] के उल्लेख से इसके ग्यारहवीं शता0 एवं कवि श्रीवर की जैनराजतरंगिणी[4] में इसके प्रचलन का उल्लेख पंद्रहवीं शता0 में भी काश्मीर में प्रयोग होते रहने को सूचित करता है। किसी शासक के द्वारा जारी किये गये सिक्कों का इतने लम्बे समय तक प्रयोग होना व्यवहारिक नहीं है। अतः इस बात की अधिक संभावना दिखती है कि बाद के कुछ शासकों ने भी 'तोरमाण' नाम युक्त सिक्के जारी किये हों।

प्रवरसेन

राजतरंगिणी तोरमाण के पुत्र प्रवरसेन का उल्लेख करती है। इसके नाम युक्त सिक्के भी प्राप्त हुये हैं। इसने सोने एवं चांदी की मुद्रायें चलायी। प्रवरसेन के सोने के सिक्कों के अग्र तथा पृष्ठ भाग पर क्रमशः राजा का नाम एवं खड़ा राजा बैठी देवी का अंकन है। किन्तु यहां देवी कमल तो लिये है पर सिंह पर आसीन है। 'किदार' लेख अंकित है।

प्रवरसेन के रजत सिक्कों के मुख भाग पर राजा का नाम एवं देवी लक्ष्मी का अंकन है। इसके समय से सिक्कों में एक नया परिवर्तन शुरू हुआ। बैठी देवी सिक्कों के पृष्ठ भाग की जगह अब अग्रभाग पर अंकित की जाने लगी एवं अग्रभाग का अंकन जो खड़े राजा का था अब पीछे की तरफ

---

1. गोपाल, लल्लन जी, अर्ली मेडिवल क्वायंस टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया वाराणसी पृ0 1965.
2. बेलालाहिड़ी ज.न्यू0सो0इ0 XLII, पृ0 80.
3. बालाहतानां प्राचुर्यम निनिवार्यासमझसा, तोरमाणेन दीन्नाराः स्वहताः सम्प्रवर्तिताः। राजतरंगिणी, 3/103.
4. श्रीतोरमाण, दीनाराज निष्प्रचार अषेत्यचा 3/313.

आ गया।[1] राजा चन्द्रशीर्षयुक्त राजदण्ड लिये है। त्रिशूल एवं 'किदार' लेख है।

इस प्रकार अब राजा का नाम अग्र भाग 'देवी' के अंकन के साथ लिखा जाने लगा जबकि पृष्ठ भाग पर खड़ा राजा एवं 'किदार' लेख रहा।

काश्मीर में दो प्रवरसेन नामक नरेश हुये एक तोरमाण का पिता था एवं एक तोरमाण का पुत्र था। लल्लन जी गोपाल शैलीगत विशिष्टताओं के आधार पर इसे तोरमाण द्वितीय का मानते हैं।[2]

नरेन्द्र एवं गोकर्ण

नरेन्द्र एवं गोकर्ण लेख युक्त काश्मीरी परम्परा के सिक्के प्राप्त हुये हैं। कनिंघम ने इनको प्रवरसेन के पश्चात् माना है।[3] बेला लाहिड़ी का भी यही मत है।[4] नरेन्द्र की मुद्रा सुवर्ण निर्मित है जबकि गोकर्ण की मुद्रा तांबे की बनी है। इन नरेशों के कालक्रम के विषय में जानकारी प्रदान करने वाले सुस्पष्ट साक्ष्यों का अभाव है। राजतरंगिणी में गोकर्ण नामक शासक का उल्लेख हूण नरेश मिहिरकुल के पश्चात् एवं तोरमाण के बहुत पहले हुआ है। किन्तु इन सिक्कों के अंकन अभिप्राय एवं बनावट तोरमाण एवं प्रवरसेन के सिक्कों की ही तरह है। अतः गोकर्ण एवं नरेन्द्र नामक नरेशों को इनके पश्चात् ही माना जाना चाहिये। बेलालाहिड़ी इन सिक्कों पर अंकित 'किदार' लेख को प्रवरसेन की मुद्राओं के अनुकरण पर लिखा गया मानती है इस प्रकार वे भी इन्हें प्रवरसेन के पश्चात् के शासक मानती हैं। वे नरेन्द्रादित्य को प्रवरसेन का पिता खिंखिल नरेन्द्रादित्य न मानकर गोकर्ण का पुत्र लखन नरेन्द्रादित्य मानती हैं।

---

1. बेला लाहिड़ी, ज0अ0न्यू0सो0इ0 42, 1980, पृ0 79-80.
2 गोपाल लल्लन जी 'अली मेडिवल क्वाइंस टाइप ऑफ नार्दन इण्डिया, वाराणसी 1966, पृ0 20
3. कनिंघम, का0मे0इ0पृ0 43.
4. लाहिड़ी बेला, ज0न्यू0सो0इ0, 44, पृ0 107.

नरेन्द्र एवं गोकर्ण नामक नरेश की क्रमशः सोने एवं तांबे की मुद्रायें प्राप्त हुयी हैं। कनिंघम एवं बेलालाहिड़ी इसे प्रवरसेन के बाद के शासक मानते हैं।

कार्कोट वंश

राजतरंगिणी से प्रकट होता है कि 3677 लौकिक संवत् अर्थात् 601 ई0 में दुर्लभवर्धन ने काश्मीर में कार्कोट वंश की स्थापना की थी। इसने 637 ई0 तक राज्य किया।[1] दुर्लभवर्धन के पश्चात् दूर्लभक राजा हुआ। दूर्लभक का पुत्र चन्द्रापीड प्रतापी नरेश था। इसके पश्चात् इस वंश का सबसे प्रतापी नरेश ललितादित्य मुत्तापीड सिंहासन पर बैठा। इसने कन्नौज नरेश यशोवर्मा को पराजित किया।[2] विनयादित्य जयापीड अंतिम पराक्रमी पराक्रमी राजा था। जयापीड ने कन्नौज आक्रमण करके वहां के राजा वज्रायुध को पराजित किया। 810 ई0 के लगभग इस वंश का अंत हो गया।

इस वंश के शासकों ने पूर्ववर्ती किदार-कुषाण शैली के सिक्के प्रचलित किये जिसके मुख भाग पर देवी एवं राजा का नाम एवं पृ0 भाग पर खड़ा राजा एवं 'किदार' लेख का अंकन किया गया है।

इस वंश के प्रथम नरेश दुर्लभवर्धन ने इसी तरह के सोने के सिक्के जारी किये।

प्रतापः-सोने एवं तांबे के सिक्के मिले हैं जिन पर राजा का नाम 'श्री प्रताप' लिखा है। ये मुद्रायें काश्मीर से नहीं बल्कि उत्तर प्रदेश एवं बिहार से प्राप्त हुयी हैं।

'श्रीप्रताप' नामांकित मुद्राओं को विद्वान 'प्रतापादित्य' की मुद्रायें मानते

---

1. पाण्डेय विमल चन्द्र, प्राचीन भारत का इतिहास, भाग 2, पृ0 318.
2. राजतरगिणी, कविवात्पतिराजश्री भवभूत्यादिसेवितः, जितौ यथौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्।

हैं। प्रतापादित्य नामक दो नरेश हुये। कनिंघम स्वर्णमुद्रा को प्रतापादित्य प्रथम (661 ई0) एवं ताम्रमुद्रा का प्रतापादित्य (719 ई0) द्वितीय का मानते हैं।[1] वी0ए0 स्मिथ[2], स्टाइन[3] एवं बेलालाहिड़ी[4] इन्हें प्रतापादित्य द्वितीय का मानती है।

राजतरंगिणी में वर्णित है कि ललितादित्य मुक्तापीड़ ने प्रतापादित्य की उपाधि धारण की थी[5] इसी आधार पर एम0सी0 रे[6], अलतेकर[7] एवं लल्लनजी गोपाल[8] ने इन मुद्राओं को ललितादित्य का ही स्वीकार किया है। इसने कन्नौज नरेश यशोवर्मन को पराजित किया था अतः इसी आक्रमण के क्रम में मुद्राये भी दूर तक आयी।

तांबे की श्री 'प्रताप' लेखयुक्त मुद्रा भी इसी तरह इतिहासविदों के लिए समस्याजनक है। ये सिक्के बांदा एवं राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त हुये हैं। इस सम्बन्ध में ए0एस0 अलतेकर[9] का कथन है कि ललितादित्य के अभियान में उसके पौत्र जयापीडविनयादित्य ने साथ दिया था एवं बाद में वह वहाँ का प्रांतपति नियुक्त हुआ होगा तब उसने पितामह की तरह के प्रचलित सिक्कों के आगे 'ज' अक्षर जोड़ दिया होगा। स्वतंत्र होने पर उसने अपने नाम की मुद्रा काश्मीर में प्रचलित थी। लल्लनजी गोपाल का भी यही मत है।[10] जयपीडविनयादित्य सोने चांदी एवं तांबे की मुद्राये चलायी (750-780)।

---

1. कनिंघम, ए0, क्वाइन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन 1894, पृ0 43
2. स्मिथ वी0ए0, कैट्लाग आव क्वाइंस इन इण्डियन म्यूजियम, भाग 1, पृ0 267.
3 स्टाइन, राजतरगिनी, द्वितीय तरंग, पृ0 318.
4. बेलालाहिड़ी ज0न्यू0सो0इ0 XLVI पृ0 107
5. राजतरंगिणी 4/134
6. रे0 एस0सी0 ज0न्यू0सो0इ0, 10, पृ0 34.
7 अलतेकर, ज0न्यू0मो0इ0 10, पृ0 32.
8 गोपाल, लल्लनजी, अर्ली मेडिवल क्वायंस टाइम्स आव नार्दन इण्डिया, पृ0 22
9. अलतेकर, ए0एस0ज0न्यू0मो0इ0, 10, पृ0 37.
10 गोपाल, लल्लनजी, अली मेडिवट क्वाइंस टाइप्स आफ नार्दन राज्य, पृ0 23.

नाम्बि, विग्रह, यशोवर्म

'नाम्बि' नामयुक्त प्राप्त एक अन्य प्रकार की ताम्रमुद्राओं जिस पर 'किदार' लेख अंकित नहीं है, को बेलालाहिड़ी[1] कार्कोटवंशीय मुद्रा नहीं मानती है। काश्मीर के इतिहास में इस नाम के किसी भी राजा का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु कनिंघम[2] एवं ल0 गोपाल[3] इसे कार्कोटवंशीय मानते हैं। इसी प्रकार 'विग्रह' नामयुक्त सोने एवं तांबे के सिक्कों के प्रवर्तक राजा को 'किदार' शब्द के अंकन के आधार पर बेलालाहिड़ी[4] कार्कोटवंशीय मानती है। किन्तु इस राजा के विषय में अन्य कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

इसी प्रकार 'यशोवर्म' नाम एवं किदार लेख युक्त कुछ स्वर्णमुद्रायें प्राप्त हुयी है। स्मिथ एवं बेलालाहिड़ी[5] का विचार है कि यह राजा कार्कोटवंशीय था जबकि ल0 गोपाल[6] यशोवर्म को वर्मन नामान्त होने के बाद उत्पलवंशीय शंकरवर्मा का विरुद मानते हैं।

विनयादित्य के पश्चात् कार्कोटवंश के अनेक राजा हुये किन्तु वे निर्बल शासक थे। 855 ई0 में आवन्तिवर्मन् ने इस वंश का अंत कर दिया।

उत्पलवंश

अवन्तिवर्मन् उत्पलवंशीय था। वह एक प्रतापी नरेश था। उसने अवन्तिपुर नगर बसाया। किन्तु इसकी मुद्रायें प्राप्त नहीं हुयी हैं।

शंकरवर्मन्:–उत्पलवंश में सर्वप्रथम शंकरवर्मन (883–902 ई0) की मुद्रायें प्राप्त हुयी है।

---

1. बेलालाहिड़ी ज0न्यू0सो0इ0 XLVI 106.
2. ए0 कनिघम क्वाइंस ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन, 1894, पृ0 45.
3. गोपाल लल्लनजी, अ0से0क्वा0टा0ना0इ0 पृ0 24.
4. बेलालाहिड़ी ज0न्यू0सां0इ0 XLVI पृ0 106.
5. गोपाल लल्लन जी, अ0मे0क्वा0टा0नॉ0इ0 पृ0 2.
6. बेलालाहिड़ी ज0न्यू0सो0इ0 46, पृ0 107.

इसकी मुद्रायें काश्मीरी मुद्रा के इतिहास में महत्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती सिक्कों से इसके समय में जारी सिक्कों में परिवर्तन मिलता है। अव मुद्रा निर्माण में कलात्मकता का ज्यादा समावेश दिखता है। आकृति पहचानना अधिक सरल हो गया है। यद्यपि प्रतीक वही रहा। अग्रभाग पर लक्ष्मी एवं राजा के नाम का अंकन। किन्तु लक्ष्मी की आकृति साफ दिखती है। मुकुट दोनों ओर फैले एवं ऊपर को उठा है। कानों में बड़े कुण्डल हैं एव हाथ नहीं दिखाये गये हैं। राजा के पूरे नाम की जगह अग्र भाग पर अब मात्र पूर्वांश ही अंकित होने लगे। पृष्ठभाग पर राजा पगड़ी पहने सम्मुख खडा है। किन्तु अब 'किदार' लेख नहीं अंकित है बल्कि शासक के नाम का उत्तरांश अंकित है।

इस प्रकार के सिक्के लगभग 500 वर्षो तक काश्मीर में (1340 ई0 तक) चलते रहे (हर्ष देव अपवाद)। इसकी एकरूपता के कारण इन्हें 'मोनोटोनस' की संज्ञा दी है।

उत्पलवंश की सभी मुद्रायें तांबे की हैं। शंकरवर्मन् (883-902 ई0) गोपालवर्मा (902-904 ई0), सुगंधादेवी (904-906 ई0), पार्थवर्मन (906-921 ई0) निर्जितवर्मा (921-923 ई0), चक्रमवर्मा, उन्मत्तावन्तिर्मन् (937-939 ई0) के इस प्रकार के सिक्के प्राप्त हुये हैं।

यशस्कर वंश

उन्मत्तावन्तिर्मन् अत्याचारी नरेश होने के कारण सिंहासन से हटा दिया तब ब्राह्मण यशस्कर (939-948 ई0) गद्दी पर बैठा एवं काश्मीर में पुनः शांति व्यवस्था की स्थापना की। इस वंश की भी तांबे की मुद्रायें प्राप्त हैं एवं शंकरवर्मन की मुद्रा शैली का ही अनुकरण करतीं हैं।

यशस्कर की ताम्रमुद्राओं में अग्रभाग पर बैठी लक्ष्मी एवं पृष्ठ भाग पर खड़े राजा का चित्र पूर्वपरम्परा के ही अनुसार है किन्तु राजा के नाम का आधा भाग जो लक्ष्मी वाले अंकन की तरफ रहता था, में लेखन शैली में कुछ परिवर्तन आ गया। अब 'यशस्कर' लेख लक्ष्मी के चित्र के दोनों ओर बांट कर लिखा गया है। बाये तरफ 'य' एवं दाहिनी ओर 'स्कर' है। इस ढंग की लेखन शैली का बाद में भी अनुकरण किया गया।

यशस्कर के पश्चात् उसके पुत्र जो अल्पवयस्क था की हत्या करके उसके मंत्री पर्वगुप्त ने सत्ता हथिया ली। पर्वगुप्त (948 ई0) के भी काश्मीरी परम्परा के सिक्के प्राप्त हुये हैं। क्षेमगुप्त (948-958 ई0) की दो प्रकार की मुद्रायें प्राप्त होती हैं। इन मुद्राओं पर अंकित प्रतीक बैठी लक्ष्मी एवं खड़े राजा का ही है। अंतर मात्र नामों का है। कुछ मुद्राओं पर मात्र 'क्षेमगुप्त' लेख है जबकि कुछ मुद्राओं पर 'क्षेमगुप्त' के साथ ही 'दि' भी लिखा प्रापत होता है। दि संभवतः क्षेमगुप्त की पत्नी दिद्दा का सूचक है। यह हिन्दूषाहि वंशीय नरेश भीमदेव की दौहित्री एवं लोहर नरेश सिंहराज की पुत्री थी। संभवतः इस समय दिद्दा भी शासन में सहयोग करती थीं।[1] बाद में क्षेमगुप्त की मृत्यु के पश्चात् (958 ई0) उसने अपने पुत्र अभिमन्युगुप्त एवं पौत्रों नन्दिगुप्त, त्रिभुवनगुप्त और भीमगुप्त के समय शासन का कुशलता पूर्वक संचालन किया था।[2] किन्तु 980 ई0 में भीमगुप्त का वध करके स्वयं सत्तासीन हो गयी। अभिमन्युगुप्त (958-972 ई0) नन्दिगुप्त (972-973 ई0) त्रिभुवनगुप्त, भीमगुप्त (975-980 ई0) एवं दिद्दा (980-1003 ई0) के सिक्के क्षेमगुप्त के सिक्कों की ही तरह है।

1 सिंह, वाई0 वी0, ज0न्यू0सो0इ0, पृ0 46, पृ0 107-110.
2. राजतरंगिणी, 6/211-259.

प्रथम लोहार वंश

दिद्दा ने अपने अंत समय भीतजे संग्रामराज को युवराज बनाया था। 1003 ई0 में दिद्दा की मृत्यु के पश्चात् उसके सिंहासनारूढ़ होने से नये लोहारवंश की स्थापना हुयी। इस वंश के शासक संग्रामराज (1003-1028 ई0) एवं कलश (1028-1063 ई0) की मुद्रायें पूर्व शैली के ही अनुकरण पर ही बनी हैं तथा मात्र तांबे की हैं। किन्तु कलश (1063-1089 ई0) के सिक्कों की यद्यपि शैली यही है तथापि उसने तांबे के साथ मिश्रधातु (दरब) के भी सिक्के जारी किये।

हर्ष (1089-1102 ई0) की कुछ मुद्राये पूर्ववर्ती एवं परवर्ती काश्मीरी नरेशों की मुद्राओं से भिन्न अभिप्राय लिये हुये हैं। उसकी तांबे की मुद्रायें तो पूर्ववर्ती परम्परा का ही अनुकरण करती हैं किन्तु सोने एवं चांदी की मुद्राये भिन्न प्रकार की हैं।

कुछ सुवर्ण मुद्राओं के अग्र भाग पर माला लिये घुड़सवार एवं हर्ष देव नाम है। यह अंकन काबुल के हिन्दुषाहि शासकों के सिक्कों का ही अनुकरण है।[1] पृ0 भाग पर परम्परागत काश्मीरी शैली में देवी अंकित है।

हर्ष ने सोने के हाथी के चित्र युक्त भी सिक्के चलाये। जिसके अग्र भाग पर आभूषणों से सज्जित हाथी एवं पृष्ठ भाग पर दो पंक्तियों में 'श्रीहर्षदेव' लेख है।

कल्हण ने इस प्रकार के सिक्कों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। वह कहता है कि वह (हर्षदेव) दक्षिणपथ (दक्कन) के तौर-तरीकों में पर्याप्त रूचि रखता था। उसने कर्नाटों के प्रकार (टंका) का एक मुद्रा प्रकार चलाया।[3] वास्तव

---

1. ओंकार नाथ सिंह, गुप्तोत्तर कालीन उत्तर भारतीय मुद्रायें, पृ0 131.
2. कल्हण, राजतरंगिणी, तरंग 7 पृ0 926

.

में कल्हण का वक्तव्य इस तथ्य को इंगित करता है कि कर्नाटक क्षेत्र के सोने के सिक्के, गजपति पगोड़ा के लिये जाना जाता था। जिस पर आभूषणों से सज्जित हाथी का प्रतीक अंकित रहता था।[1] गंग वंश के सिक्के भी इसी प्रकार के हैं।

द्वितीय लोहार वंश

हर्ष के छोटे भाई उच्छल (1101-1111 ई0) ने विद्रोह कर उसकी हत्या करके स्वयं सिंहासन हस्तगत कर दिया। इसके वंश को द्वितीय लोहारवंश कहा गया है। उच्छल, सल्हण, सुस्सल (1112-1207) जयसिंहदेव, गुल्हण, परमानुक वन्तिदेव ने तांबे के सिक्के चलाये। ये सिक्के काश्मीर में इस वंश से पूर्व में प्रचलित सिक्कों का अनुकरण करते हैं। इन सिक्कों के अग्रभाग पर भी बैठी हुयी देवी लक्ष्मी तथा पृष्ठ भाग पर खड़ा राजा है। राजा के नाम के आगे का आधा अक्षर लक्ष्मी वाले तरफ तथा शेष खड़े राजा वाले तरफ लिखा है।

वन्दिदेव के पश्चात् जनता द्वारा **वप्पदेव** (1172-1199) को काश्मीर के शासक रूप में मनोनीत किया गया। इसी के साथ द्वितीय लोहार वंश का अंत हो गया। वाप्पदेव के पश्चात् जगदेव एवं राजदेव (1213-1236 ई0) ने भी मुद्रायें चलायी जो उनके नामयुक्त हैं एवं पूर्वशैली का ही अनुकरण करती है। बाद के शासकों ने (14वीं शता0 के मध्य तक) भी इसी प्रकार के सिक्के चलाये।

इस प्रकार काश्मीर ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र रहा है जहां लगभग चार सौ वर्षो तक तांबे के एक ही प्रकार के सिक्के चलते रहे।

---

[1]. बेलालाहिड़ी, जू0न्यू0सो0इ0, 42, 1980, पृ0 80.

[VIII] बंगाल एवं उत्तरी पूर्वी भारत के सिक्के

बंगाल भारत के पूर्वी तट पर स्थित है। इसके दक्षिण में बंगाल की खाड़ी है। समुद्रतटवर्ती क्षेत्र होने के कारण यह क्षेत्र प्राचीनकाल से ही विदेशी व्यापार के लिये महत्वपूर्ण रहा है। यहां स्थित ताम्रलिप्ति बन्दरगाह की प्राचीनकाल से ही अत्यधिक महत्ता थी।

प्रतापी गुप्तवंशीय नरेश समुद्रगुप्त ने बंगाल के कुछ भाग (समतट) को विजित किया था। किन्तु पूर्ण रूप से उसका वहां अधिपत्य स्थापित नहीं हो पाया था। रामगुप्त के कमजोर शासनकाल में वह पुनः स्वतंत्र हो गया था। तब यशस्वी गुप्तवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादितय (375 ई0 से 412 ई0) ने पुनः उसको अपने अधिकार में कर लिया। तब से लम्बे समय तक यहां गुप्तसत्ता बनी रही।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राजय क्षीण होने लगा था। वैन्यगुप्त (507ई0) के समय गुप्त साम्राज्य केवल बंगाल एवं बिहार तक ही सीमित रह गया था। विष्णुगुप्त यहॉं पर शासन करने वाला अंतिम गुप्त नरेश था। इसके पश्चात् बंगाल पर यहीं की स्थानीय शक्तियों का शासन रहा।

बंगाल राजनीतिक तौर पर दो मुख्य भागों में बंटा था–गौड़ एवं बंग। गौड़ से तात्पर्य उत्तरी एवं पूरा पश्चिमी बंगाल का भाग तथा बंग से तात्पर्य दक्षिणी एवं पूर्वी बंगाल से था।[1]

गुप्तवंश के पतन के पश्चात् बंगाल में पाल वंश से पूर्व जिन स्थानीय शासकों ने शासन किया वे अपनी लम्बी शासक वंश परम्परा को बनाये रखने में सक्षम नहीं रहे। गोपाल (750 ई0) के नेतृत्व में स्थापित

1. बेला लाहिड़ी, जर्नल आंव न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, भाग 44, 1982, पृष्ठ–155

पाल वंश की सत्ता लम्बे समय (मदनपाल, ई0 सन् 1144-1161) तक कायम रही। मदनपाल के समय पूर्वी बंगाल को आधार बनाकर उदित हुआ सेनराजवंश मुस्लिमों द्वारा विस्थापित किये जाने से पूर्व तक (तेरहवीं शती0 का पूर्वाद्ध) कायम रहा।

पूर्वमध्यकाल में बंगाल में मुद्रा प्रचलन के प्रमाण विभिन्न साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से मिलते है।

वास्तव में गुप्तों के बाद उदित हुये बंगाल के शासकों के सिक्के गुप्तों की स्वर्ण मुद्रा का अनुकरण करते हैं। ये गुप्तों के सबसे सामान्य प्रकार के सोने के सिक्के, जिसके अग्रभाग पर धनुर्धारी राजा एवं पृष्ठ भाग पर बैठी देवी (लक्ष्मी) की तरह निर्मित हुये हैं। गुप्तों ने यह प्रकार मूलतः कुषाणों से लिया था जिनके सिक्कों के अग्रभाग पर 'अग्निवेदिका में हविष डालता खड़ा राजा' एवं पृष्ठ भाग पर बैठी देवी (आर्दोक्षो) का अंकन था।[1]

किन्तु गुप्तों ने कुषाणों के सिक्के से प्रभावित होते हुये भी उनका भारतीयकरण किया। गुप्त सिक्कों के अग्रभाग पर राजा कुषाण तरह की लम्बी कोट, पैजामा एवं जूता की जगह भारतीय वस्त्र, धोती पहने है एवं धनुष तथा बाण लिये हुये चित्रित है। आर्दोक्षो देवी जो हाथ में कार्नुकोपिया ली हुयी कुषाण मुद्रा में अंकित की गयी थी, का रूपान्तरण गुप्तमुद्रा में कमल लिये एवं कमल पर बैठी हुयी लक्ष्मी से हो गया।

समाचारदेव

पूर्वी बंगाल के ढाका एवं फरीदपुर जिलों से प्राप्त सोने के सिक्कों, नालंदा से प्राप्त मिट्टी की एक मुहर एवं धुराहाटी से प्राप्त एक अभिलेख में

1 बेलालाहिड़ी, जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, भाग 44, 1982, पृ0 156.

'समाचारदेव' नामक शासक का उल्लेख मिलता है। फरीदपुर से प्राप्त पांच ताम्रपत्रों से गोपचन्द्र, धर्मादित्य एवं समाचार देव का नामक शासकों के नाम प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार समाचारदेव बंगाल का एक स्वतंत्र नरेश था। अलतेकर ने नालन्दा से मिली मिट्टी की मुहर पर अंकित 'समाचारदेव' एवं फरीदपुर से प्राप्त एक ताम्रपत्र, जिसमें इसका नाम मिलता है की लिपि के आधार पर इसका समय 575 ई0 से 600 ई0 के मध्य अनुमानित किया है।[1] मजुमदार ने फरीदपुर से मिले ताम्रपत्र में उल्लेखित नरेशों गोपचन्द्र, धर्मादित्य एवं समाचारदेव का समय 525-575 ई0 के मध्य निर्धारित किया था।[2] इनमें धर्मादित्य गोपचन्द्र एवं समाचारदेव को क्रमशः पहला, दूसरा एवं तीसरा नरेश माना था।

किन्तु 1974 में हुगली जिले के हसन्वान नामक स्थान से गुप्तनरेशों के सिक्कों के साथ समचारदेव के सिक्कों के प्राप्त होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अंतिमगुप्त नरेश विष्णुगुप्त का समकालीन था। संभवतः उसी ने गुप्तवंश का अंत कर वहां अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की थी। समाचारदेव के दो प्रकार सिक्के प्राप्त हुये हैं। जिन्हें धनुर्धारी प्रकार एवं राजलीला प्रकार कहा जाता है। ये सिक्के गोलाकार, 0.8" से 0.9" व्यास के एवं 148 ग्रेन के आसपास वजन के हैं।

प्रथम प्रकार के सिक्के गुप्त परम्परा का ही अनुसरण करते हैं अग्रभाग पर धनुर्धारी राजा खड़ा हुआ है। अलग-अलग दो भागों में बंटकर 'समाचार' लेख लिखा है। इन सिक्को के पृष्ठ भाग पर बैठी देवी (लक्ष्मी) हाथ में कमल

---

1 अलतेकर, ए0 एस0, द क्वाइनेज ऑफ गुप्त इम्पायर, वाराणसी, 1957, पृ0 326.
2 मजूमदार, आर0 सी0, द हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग 1, ढाका, 1943, पृ0 53-54.

लिये अंकित की गयी है। पृष्ठ भाग पर ही 'नरेन्द्र विनीत' लेख है।

किन्तु समाचार देव के दूसरे प्रकार के सिक्के गुप्तपरम्परा से कुछ हटकर हैं। अग्रभाग पर राजा पर्यङ्कर पर है एवं उसका नाम लिखा है दूसरी तरफ एक स्त्री है। इस प्रकार के सिक्के के पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी की जगह सरस्वती को स्थान दिया गया है। सरस्वती कमल पर खड़ी हैं एवं हाथ में भी कमल ली हुयीं हैं देवी के दाहिने तरफ हंस चित्रित किया गया है।

इस प्रकार समाचार देव के सिक्कों से बंगाल में सरस्वती देवी की पूजा के प्रचलन की परम्परा दृष्टिगत होगी है। धर्मपाल के खलीमपुर ताम्रपत्र अनुदान लेख से विद्या की देवी के मंदिर (कादम्बरी–देवकुलिका') का सन्दर्भ प्राप्त होता है[2]।

जयनाग

'जय' नामांकित कुछ स्वर्ण सिक्के प्राप्त हुये हैं। पहले एलन ने इसके नाम का उत्तरांश गुप्त अनुमानित किया था।[3] किन्तु मुर्शिदाबाद ताम्रपत्रलेख में 'जयनागदेव' नामक शासक का उल्लेख होने के बाद में उन्होंर्ने इसे जयनाग के सिक्के होने की संभावना व्यक्त की। अलतेकर भी इसी मत का समर्थन करते हैं। अलतेकर इसे शशांक (600–637 ई0) का परवर्ती नरेश मानते हैं[4] किन्तु बेलालाहिड़ी इसे शशांक का पूर्ववर्ती राजा मानती है[5] किन्तु समाचारदेव के सिक्कों से समानता रखने के कारण इसे शशांक का पूर्ववर्ती शासक माना ही ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होता है।

1- बेला लाहिडी, जनर्पल ऑफ न्यूमिसमैटिक्स सोसाइटी ऑफ इण्डिया, भाग, 44, 1982 पृ0 157 एवं अलवेकर, ए0 स0, द क्वाइनेज ऑफ गुप्ता इम्पायर, वाराणसी 1957, पृ0 325

2 कीलहार्न एफ0 'खलीमपुर पलेट ऑफ धर्मापालदेव इपिग्राफिया इण्डिका, IV, 1896, पृ0 43–54

3 एलन जे0, कैटलॉग ऑफ क्वायन्स ऑफ द गुप्त डायनेस्टी एण्ड अदर्स, इन द इण्डियन ब्रिटिष म्यूजियम, लन्दन, 1914, पृ0 330

4 अलतेकर, ए0 एस0, द क्वाइनेज ऑफ गुप्ता इम्पायर वाराणसी, 1957, पृ0 330–331

5. लाहिडी बेला, ज0 न्यू0 सो0द इ0, भाग 44, पृ0 159

इन सिक्कों के अग्र भाग पर धनुर्धारी राजा खड़ा है। चक्रध्वज का अंकन है एवं 'जय' लेख लिखा है।

पृष्ठ भाग पर कमलामना लक्ष्मी दर्शायी गयी है अभिषेक करता हुआ गज भी है एवं 'श्री प्रकाण्डयशस' लेख लिखा है।

शशांक

उत्तरपश्चिमी बंगाल, कर्णसुवर्ण एवं बिहार से शशांक की बहुत सी स्वर्णमुद्रायें प्राप्त होती हैं। इस गौड़ नरेश के सम्बन्ध पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है। यह लगभग 606 ई0 तक स्वतंत्र नरेश बन गया था एवं हर्ष का प्रतिद्वन्दी था। 637 ई0 के आसपास यह शासन करता रहा।

शशांक की स्वर्ण एवं रजत मुद्रायें प्राप्त हुयीं है। शशांक की स्वर्णमुद्रा के अग्र भाग पर नवीन अंकन है। प्रभामण्डलयुक्त शिव नन्दी पर आसीन हैं। चन्द्रमा (शशांक) का चित्र अंकित है तथा 'शश' लेख है।

पृष्ठ भाग पर कमलासीन लक्ष्मी हैं। किन्तु कुछ मुद्राओं पर देवी का अभिषेक करता हाथी चित्रित है एवं कुछ पर नहीं। सभी मुद्राओं पर पृष्ठ भाग पर ब्राह्मी लिपि में 'श्री शशांक' लेख लिखा है।

सर्वप्रथम 1979 ई0 में पी0 के भट्टाचार्या का आलेख छपने के पश्चात् शशांक की रजत मुद्राओं के विषय में जानकारी प्राप्त हुयी थी।[1] पश्चिमी बंगाल के चौबीस परगना जिले के दक्षिणी भाग से शशांक के दो चांदी के सिक्के प्राप्त हुये थे।

इन रजत मुद्राओं के अग्रभाग पर नन्दी पर आसीन शिव, त्रिशूल एवं चन्द्रमा अंकित है। पृष्ठ भाग पर कमलासीन लक्ष्मी का अभिषेक करते हुये

---

1 जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट-ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, 1979, पृ0 153-155

कहीं पर एक कहीं पर दो गज दर्शाये गये हैं तथा ब्राह्मी लिपि में 'श्री शशांक' लेख अंकित है।

शशांक शैव धर्मावलम्बी था। उसकी मुद्रा एवं ह्वेनसांग द्वारा उसको शैव बताने से इस बात की पुष्टि होती है। इससे पूर्वी बंगाल में सातवीं शताब्दी में शैवधर्म के प्रचार के सम्बन्ध जानकारी प्राप्त होती है।

वीरसेन

सिक्कों से 'वीरसेन' नाम के राजा के अस्तित्व के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। ये सिक्के सुवर्ण निर्मित है। अग्रभाग पर 'वृष' का अंकन एवं श्रीवीरसेन लेख है तथा पृष्ठ भाग पर कमलासना लक्ष्मी हैं।

अलतेकर इसे वाराणसी का शासक मानते हैं क्योंकि इसके सिक्के वाराणसी के आसपास के क्षेत्र से प्राप्त हुये थे।[1] किन्तु बेलालाहिड़ी इसे पूर्वी बंगाल का शासक मानती है।[2] किन्तु इस क्षेत्र से वीरसेन का कोई सिक्का प्राप्त न होने से इसे निश्चित रूप से बंगाल का शासक नहीं माना जा सकता है।

बंगलादेश के विभिन्न भागों त्रिपुरा, बोगरा, फरीदपुर, ढ़ाका एवं असम के अनेक भागों से गुप्त स्वर्ण सिक्कों के अनुकरण पर अनेक मुद्रायें प्राप्त हुयी है। जिनके अग्रभाग पर धनुर्धारी राजा एवं पृष्ठ भाग पर देवी अंकित है। खड़ी हुयी देवी कहीं दोभुजी तथा कहीं अष्टभुजी दर्शायी गयी है।

एक प्रकार के सिक्कों, जिन्हें एलन ने प्रकाशित किया था, के अग्रभाग पर धनुष लिये राजा खड़ा है। एक घोड़ा भी है एवं 'श्री' लेख है।[3]

---

1 अलतेकर, ए0एस0 द क्वायनेज ऑफ गुप्ता इम्पायर वाराणसी, 1957
2 लाहिडी, बेला, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 44, पृ0 158
3. एलन, ब्रिटिश म्यूजियम सूची, गुप्तवंश भूमिका, पृ0 107.

इन सिक्कों का पृष्ठ भाग विशिष्ट है। इसमें अष्टभुजा वाली देवी खड़ी हुयी दर्शायी गयी है। यद्यपि देवी का सिर नहीं दिख रहा है तथापि अष्ट भुजायें स्पष्ट है। यह बिन्दुओं की माला पहनी है। यदि इस माला को मुण्डमाला के रूप में पहचाना जाय तो यह देवी, जैसा कि एन0 के0 भट्टशालि ने प्रतिपादित किया है, काली का एक रूप हों सकती है।[1]

यह सिक्के उस समय बंगाल में शाक्त सम्प्रदाय के प्रचलन का द्योतक हैं। इन सिक्कों के प्रचलनकर्ता नरेश के विषय में सुस्पष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होते हैं। भट्टशालि ने एलन द्वारा प्रकाशित इस प्रकार के दो सिक्को में से एक पर 'सुधन्यादित्य' एवं दूसरे पर 'सुधन्या' पढ़ा।[2] इसी प्रकार के एक सिक्के पर राजा का नाम 'पृथुवीर' अंकित है।[3] ये बंगाल एवं समीपवर्ती क्षेत्रों के शासक थे।

इस प्रकार पूर्वमध्यकालीन बंगाल की कुछ मुद्रायें मिली हैं। किन्तु लम्बे समय तक शासन करने वाले (लगभग 400 वर्ष) पालों की मुद्रायें अप्राप्य हैं। रामशरण शर्मा इसका कारण पूर्वमध्यकाल में भारत में व्याप्त सामंतवाद को मानते हैं। जिसके कारण एवं गुप्तकाल के पश्चात् व्यापार के ह्रास के कारण सिक्कों की संख्या में कमी आयी।

यद्यपि राजा के नामयुक्त सिक्कों का प्रचलन इस काल में नगण्य रहा किन्तु इस समय बंगाल में सामंतवाद के अस्तित्व तथा व्यापार एवं मुद्रा परंपरा के ह्रास के मत का बहुत से विद्वानों ने खण्डन किया है।

एम0 आर0 तरफदार ने मैनामती की खुदाई से प्राप्त 350 सिक्कों की तरफ संकेत करते हुये कहा है कि गुप्तोत्तर एवं पूर्वमध्यकाल में दक्षिणपूर्वी

---

1 लाहिडी, बेला, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 42, 1980, पृ0 91
2 भट्टशालि, एन0 के0, न्यू0 स0, 27, 1923, पृ0 36, 17, 25, 51
3 ट्रान्जेक्शन्स ऑफ इण्टरनेशनल क्राग्रेस 1736, 50416

बंगाल में एक व्यापक मुद्रा परम्परा द्वारा समर्थित एक विकसित अर्थव्यवस्था विद्यमान थी।[1] यहां से प्राप्त अब्बासियों के सिक्के इस क्षेत्र के समुद्री व्यापार की निरंतरता की पुष्टि करते हैं।[2]

विजयकुमार ठाकुर ने तरफदार के इस मत का खण्डन किया है उनके अनुसार 350 सिक्के 800 वर्षो के लिये पर्याप्त नहीं है अतः तरफदार का यह मत यौक्तिक नहीं है। इस समय मौद्रिक परम्परा का पूरी तरह से समापन हो गया था एवं मुद्रा की जगह कौड़ियों ने ले ली थी।[3]

वास्तव में पूर्वमध्यकाल में बंगाल में देशी एवं विदेशी व्यापार निरंतर जारी था। राजा इसे प्रोत्साहित करते थे। इस समय आन्तरिक व्यापार में कौड़ियों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था।[3] परवर्ती पाल अभिलेखों में कार्षापण एवं सेन अभिलेखों में पण एवं कापर्दक पण का उल्लेख यह इंगित करता है कि मुद्रा प्रचलन कौड़ी के रूप में था नियमित मुद्रा के रूप में नहीं।[4] यद्यपि पालों एवं सेनों ने अपने नामयुक्त सिक्के नहीं चलाये किन्तु अन्य क्षेत्रों के सिक्के जो, यहाँ बड़ी मात्रा में पाये गये हैं, नियमित मुद्रा के रूप में उनके राज्य में चलते थे।

कापर्दक एवं कौड़ी, जो अत्यंत कम मूल्य का सिक्का था, से बड़े पैमाने पर व्यापार एवं वाणिज्य का चलना संभव नहीं था।

अतः व्यापार एवं वाणिज्य में ऊंची मूल्य एवं शुद्धता वाले माध्यम के रूप में सोने एवं चांदी की चूर्ण (धूल) के प्रयोग के साक्ष्य मिलतें हैं।[5]

---

1 तरफदार एम0 आर0, 'ट्रेड एण्ड सोसाइटी इन अर्ली मेडिवल बगाल इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यू, भाग 4, न0 2 जनवरी, 1978 पृ0 274–286'

2 खन, एफ, ए, मैनामती (करॉची पृ0 1963) पृ0 25–27

3 इलियट एव डाउसन, द हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ए टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग I पृ0 5, एव सध्याकरनन्दी, रामचरित, 4, पृ0 36 इत्यादि

4. मुकर्जी, बी0एन0, ज0न्यू0सो0इ0, 1983, भाग 45, पृ0 161.

5. वही.

सुलेमान नवी शता0 के मध्य में चाँदी के चूर्ण का विनिमय माध्यम के रूप में उल्लेख करता है।[1] एक तिब्बती विवरण से पाल राज्य में नगद के रूप में स्वर्णधूल के प्रयोग की जानकारी प्राप्त होती है।[2] सिलमपुर अभिलेख (12 वीं शता0) में नौ सौ हेम (सोने) के टुकड़ों का उल्लेख मिलता है।[3]

1280 कापर्दक या कौड़ियाँ 32 रत्ती के चांदी की धूल या टुकड़ों के बराबर थी।[4] लीलावती में 16 इस प्रकार की चांदी की इकाइयाँ जो द्रम्म, पुराण, कार्षापण या चूणि कहीं गयीं हैं, वे 80 रत्ती के सोने के इस प्रकार के टुकड़े जो निष्क, सुवर्ण एवं हेम कहे गये हैं, के बराबर थीं।[5] इस प्रकार सोने का एक टुकड़ा (चूर्ण या धातु टुकड़े रूप में) 20,480 कौड़ी के बराबर मूल्य का था।[6]

इस समय हरिकेल सिक्कों की एक लम्बी परम्परा मिलती है। ये हरिकेल नामक स्थान से, जो वर्तमान बंग्लादेश में है, से जारी किये गये थे। ये चाँदी के पतले, बड़े, हल्के एवं चपटे सिक्के थे एवं 8वीं सदी से 12वीं-13वीं सदी के मध्य प्रचलित किये गये थे। इन पर राजा का नाम न होकर स्थान का नाम अंकित है। इस प्रकार की मुद्रायें चट्गांव, त्रिपुरा एवं दक्षिणी बंग्लादेश से मिली हैं। ये मुद्रायें 2.6 से 6 सेमी0 के बीच के व्यास की हैं एवं इसका वजन 44 ग्रेन से 111.6 ग्रेन के बीच का है।

इस प्रकार की मुद्राओं के अग्रभाग पर बैठे हुये वृष का अंकन है एवं मुद्रालेख 'हरिकेल' है। पृष्ठ भाग पर कहीं-कहीं त्रिशूल सूर्य एवं चन्द्रमा है।

---

1 सुलेमान, उद्धृत, वही, पृ0 162
2 एस0 दास, इण्डियन पण्डित्स इन द लैण्ड ऑफ स्नो, पृ0 60
3 एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 13, पृ0 292
4 मुकर्जी, बी0 एन, पूर्वनिर्दिश्ट, पृ0 162
5 भास्कराचार्य, लीलावती, 1, 2
6 मुकर्जी, वी0 एन0 पूर्वनिर्दिश्ट पृ0 162

मुद्राओं पर पृष्ठ भाग खाली है।

ये सिक्के संभवतः स्थानीय बैंकर एवं श्रेणियों द्वारा जारी किये गये थे। ये सिक्के अत्यंत शुद्ध है जो यह प्रमाणित करता है कि यह व्यापार में अच्छी साख रखते थे। ऊँची वजन के सिक्के पुराण का अनुकरण करते थे एवं 32 रत्ती की ईकाई की रजतधूल या इसी वजन के चाँदी के टुकड़े या 1280 कौड़ियों से बदले जा सकते थे।[1]

इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में बंगाल में एक जटिल मुद्रा प्रणाली विद्यमान थी। जिसका मूलाधार कौड़ी था। क्षेत्र के बहुत बड़े भाग में नगद का प्रचलन नहीं था। यद्यपि वाह्य सिक्के भी यहाँ व्यापार में यहाँ प्रयुक्त होते थे। किन्तु ज्यादा प्रयोग स्वर्ण या रजत धूल का होता था। ये हरिकेल सिक्कों से बदले जा सकते थे।[2] बंगाल में सामंतवाद का इतना प्रभाव नहीं दृष्टिगत होता है एवं व्यापार पूर्ववत् जारी था। वास्तव में यहां पर यूरोप की तरह का नहीं वरन् भारतीय तरह का सामंतवाद था।[3]

⌘

---

1 . वही, पृ0 165

2 वही, पृ0 163

3. धीर राय, ज0 न्यू सो0 इ0, भाग, 51, 1989–पृ0 63

अध्याय : छह

पूर्वमध्यकाल में व्यापार में सिक्कों की भूमिका एवं सिक्कों की कमी की समस्या

किसी भी देश, काल एवं समाज में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं। अतः किसी भी समाज के जीवन के किसी एक पक्ष का अध्ययन करते समय तत्कालीन जीवन के अन्य पक्षों को भी ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। यही बात पूर्वमध्यकाल के आर्थिक जीवन विशेषतया व्यापार एवं सिक्कों के अध्ययन में भी लागू होती है। इस समय व्यापार में सिक्कों के प्रचलन की सही स्थिति ज्ञात करने के लिये इस काल की समस्त आर्थिक प्रवृत्तियों एवं उनको प्रभावित करने वाले तत्वों का गहन विश्लेषण आवश्यक है।

पूर्वमध्यकाल में व्यापार में मुद्रा प्रचलन के सम्बन्ध में दो तरह की विचारधारायें प्रचलित हैं। एक विचारधारा इस समय सिक्कों की कमी होने का मत प्रस्तुत करती है जबकि दूसरी विचारधारा इस समय सिक्कों की कमी के मत का खण्डन करती है।

पहली विचारधारा का समर्थन रामशरणशर्मा[1], लल्लनजी गोपाल[2], बी0एन0एस0 यादव[3], जे0पी0 सिंह[4], सुशीलमालती देवी[5] आदि के द्वारा किया

---

1. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामंतवाद, पृ0 63.
2. गोपाल, लल्लन जी, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया दिल्ली 1986.
3. यादव, बी0एन0एस0, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन द ट्वेल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद, 1973.
4. सिंह, जे0पी0 क्वायनेज एण्ड इकोनॉमी आफ नार्थ-ईस्टर्न स्टेट्स ऑफ इण्डिया, न्यू0सो0ई0 मेमोरायर्स, न0 8, पृ0 17.
5. देवी सुशील मालती, इकोनॉमिक कण्डीशन ऑफ एनशियण्ट इण्डिया, ए0डी0 7050 टू ए0डी0 1200, दिल्ली 1987.

गया जबकि दूसरी विचारधारा दिनेशचन्द्र सरकार[1] द्वारा समर्थित की गयी।

प्रो0 रामशरण शर्मा गुप्तोत्तर काल में सिक्कों की अल्पता के विषय में कहते हैं कि 'पालों, गुर्जरप्रतिहारों और राष्ट्रकूटों ने लगातार करीब तीन शताब्दियों तक या इससे भी अधिक समय तक सुदूर दक्षिण को छोड़कर पूरे देश पर शासन किया, फिर भी हम विश्वास के साथ नहीं कह सकते हैं कि इन्होंने कोई सिक्कों की श्रृंखला चलायी। हम कुषाणों एवं गुप्तों के समय में जो स्वर्ण मुद्राओं की बहुतायत देखते हैं, उस लिहाज से उत्तर गुप्त काल में इनकी अल्पता और भी प्रखर हो उठती है। वास्तविक सिक्कों के अभाव में मध्यकालीन राजवंशों के अभिलेखों में सिक्कों के हवाले को अधिक महत्व देना संभव नहीं है। यद्यपि कलचुरियों, चन्देलों, गहड़वालों आदि के शासनकाल में स्वर्णमुद्राओं का प्रचलन पुनः शुरू हुआ फिर भी ग्यारहवीं एवं बारहवीं शताब्दियों में ये थोड़े ही पैमाने पर थी और कम से कम करीब सन् 650 से 1000 ई0 तक तो स्वर्णमुद्राओं का प्रायः अभाव ही दीख पड़ता है।'[2]

प्रो0 शर्मा इस काल में सिक्के के अभाव को व्यापार की अवनति का परिचायक मानते हैं।[3] वे मुद्रा की कमी का एक कारण प्रो0 शर्मा अफ्रीका के साथ होने वाली व्यापार की मात्रा में कमी बताते है। वे कहते हैं कि इस समय स्वर्णमुद्रायें भारत में ही नहीं अपितु यूरोप के विभिन्न भागों एवं पश्चिमी एशिया में भी कम निर्मित हुयी। जबकि अफ्रीका में स्वर्णमुद्राओं का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में हो रहा था। सोने का आयात अफ्रीका से होता था। अरब अशांति के कारण इस आयात मार्ग में रूकावट आने के कारण यहाँ

---

1. सरकार डी0सी0, स्टडीज इन इण्डियन क्वायन्स, न्यूमिस्मैटिक एण्ड एपिग्राफ स्टडीज, कलकत्ता, 1977.
2. शर्मा, रामशरण, पूर्व मध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, (लगभग 500-1200 ई0) देवराज चानना व्याख्यानमाला प्रथम व्याख्यान, 1969, पृ0 5.
3. शर्मा रामशरण, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ0 164

स्वर्ण मुद्राओं का निर्माण रुक गया।[1]

जयप्रकाश सिंह कहते हैं कि गुप्तोत्तर काल में उत्तर भारत में व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता से व्यापारिक स्थिति में ह्रास हुआ। वाह्य व्यापार में ह्रास से सोने, चांदी जैसी महत्वपूर्ण धातुओं की कमी हो गयी। इन सभी के कारण देश में सोने चांदी की मुद्राओं का कम प्रचलन हुआ।[2]

लल्लन जी गोपाल ने भी इस काल में व्यापार एवं मुद्रा ह्रास सम्बन्धी विचारधारा का समर्थन किया है।[3] वे कहते हैं कि गुप्तोत्तर काल में देश छोटे–छोटे राज्यों में बंट गया था। हर्ष के बाद उत्तर भारत में एक बड़ा साम्राज्य न बन सका। कन्नौज के प्रतिष्ठापरक संघर्ष में पाल एवं प्रतिहार राज्यों के साथ समस्त उत्तर भारत भी अस्थिर हो गया।

सुशील मालती देवी का मत है कि देश में अच्छी नस्ल के घोड़ों की कमी के कारण, अरब देशों से जो घोड़े मंगाये जाते थे उनके क्रय में काफी धन व्यय होता था। यह तत्कालीन भारत में मुद्रा की कमी का एक प्रमुख कारण था।[4]

डॉ० बी०एन०एस० यादव भी इस समय सामान्यतौर पर मुद्रा की कमी के कम का समर्थन करते हैं। वे इसे पूर्वमध्यकाल के प्रथम चरण में हुयी आर्थिक अवनति का परिणाम मानते हुये कहते हैं कि 'इस समय आर्थिक दशा में गिरावट की पुष्टि श्रेणियों की सीलों एवं मुद्रा की खराब दशा से की जा सकती है। गुप्तकाल के बाद की सदियों में न केवल सोने के सिक्कों का

---

1. शर्मा रामशरण, क्वायन्स एण्ड अर्ली मेडिवल इकॉनॉमी, न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया मेमोरियर्स न0 6, पृ0 125-137
2 सिंह जयप्रकाश, क्वायनेज एण्ड इकोनॉमी ऑफ नार्थ ईस्टर्न स्टेट्स ऑफ इण्डिया, न्यू0सो0 मेमोरायर्स, नं0 8, पृ0 1-7.
3. गोपाल लल्लन जी, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया दिल्ली, 1966.
4. देवी सुशील मालती, क्वायन्स एण्ड अर्ली इण्डियन इकॉनामी, न्यू0सो0इ0 मेमोरायर्स नं0 6, पृ0 125-137

जारी किया जाना बन्द रहा बल्कि यह हीनता चांदी एवं तांबे की मुद्राओं में भी दृष्टिगोचर होती है जो कोई खास मात्रा में नहीं ढाली गयी थीं। पालों एवं गुर्जर–प्रतिहार नरेशों के सिक्कों के निम्नस्तर एवं राष्ट्रकूटों के सिक्कों का न पाया जाना मुद्रा अर्थव्यवस्था में गिरावट का सूचक है। यद्यपि गुर्जर प्रतिहारों के समय मुद्रा सम्बन्धी कुछ सकारात्मक प्रमाण प्राप्त होते हैं। किन्तु सीमित संख्या में इनके सिक्कों का पाया जाना यह इंगित करता है कि वे कम संख्या में प्रचलित किये गये थे।[1]

इन मतों के विपरीत दिनेशचन्द्र सरकार इस काल में मुद्रा की कमी को स्वीकार नहीं करते हैं।[2] अपने मत के समर्थन में उन्होंने विभिन्न साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों का सहारा लिया है। उन्होंने भारत के अन्य देशों के साथ राजनीतिक एवं व्यापारिक सम्बंधों का हवाला दिया है। उन्होंने हर्ष के काल की आर्थिक स्थिति एवं तत्कालीन व्यापारिक केन्द्रों का भी उल्लेख किया है।[3]

इस प्रकार सरकार का विचार है कि भारत में सामंतवाद का कोई प्रभाव नहीं था। विभिन्न साहित्य एवं अभिलेखिक साक्ष्यों में मुद्रा संबंधी विवरण की बहुलता है जो इस समय पर्याप्त मात्रा में मुद्रा निर्माण को सूचित करते है। वे यह भी कहते हैं कि रजत मुद्राओं का उपयोग जो कुषाणों एवं गुप्तों के समय कम हो गया था, अब अधिक मात्रा में होने लगा।[4]

के0डी0वाजपेयी भी सिक्कों के दशा में गिरावट के मत का समर्थन नहीं करते हैं। उन्होंने इस काल में सिक्कों की अच्छी मात्रा में प्राप्ति की

---

1. यादव, बी0एन0एस0, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 275.
2. सरकार, डी0सी0, न्यूमिस्मेटिक एण्ड एपीग्राफ स्टडीज, 1977, पृ0 16–38.
3. वहीं.
4. वही.

तरफ संकेत किया है। वह पश्चिम भारत से प्राप्त चांदी एवं तांबे के गधिया सिक्कों का उल्लेख इस सम्बंध में करते हैं।[1]

कुछ विद्वान् इस काल में सिक्के की कमी की तो स्वीकार करते हैं किन्तु व्यापार में गिरावट एवं विनिमय माध्यम की कमी के मत को स्वीकार नहीं करते हैं। जॉन्स देयल इस सम्बन्ध में कहते हैं कि इस समय निश्चित ही सिक्कों के प्रकारों में कमी थी किन्तु प्रचलित माध्यमों की कमी नहीं थी।[2] सिक्कों में भारी मिलावट आर्थिक अवनति का सूचक नहीं है बल्कि कीमती धातुओं की आपूर्ति में कमी इसका कारण है। यह मूलतः धातु में मिलावट का युग था जहाँ कीमती धातु मुद्रा के रूप में प्रयुक्त नहीं की जाती थी।[3]

विविध साक्ष्यालोक में यदि पूर्वमध्यकाल की मौद्रिक स्थिति का सम्यक् अध्ययन किया जाय तो वास्तविकता का ज्ञान होता है।

वस्तुतः सरकार ने अपने मत की पुष्टि में जिन तत्कालीन स्रोतों एवं बौद्ध यात्रियों के उल्लेखों को आधार बनाया है वे सभी छठी सातवीं सदी के हैं। उन्हें बाद के 500-600 वर्षों के काल के सम्बन्ध में प्रमाण स्वरुप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।[4] हर्ष के समय में देश में शांति एवं सुव्यवस्था की स्थिति थी। आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी तथा विदेशों से अच्छे व्यापारिक सम्बंध स्थापित थे। किन्तु बाद में भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्यों के उदित होने से अस्थिरता व्याप्त हो गयी। सरकार के इस मत से सहमत होना कठिन है कि मुद्रा निर्माण इस युग में बाधित नहीं हुआ। अभी तक

---

1. सिंह ओ0एन0, लेस, ऑन पॉसिटी ऑफ क्वायंस इन अर्ली मेडिवल पीडियड, ज0न्यू0सो0इ0, 1987, भाग 49.
2. देयल जॉन्स, लिविंग विदाउट सिल्वर, ऑक्सफोर्ड, 1999, पृ0 5.
3 वही, पृ0 7.
4. सिंह, ओंकार नाथ, गुप्तोत्तरकालीन उत्तर भारतीय मुद्राएं, वाराणसी 1999, पृ0 2.

बंगाल के पाल एवं सेन राजवंशों की एक भी मुद्रा प्राप्त नहीं हुयी है।[1] परमेश्वरी लाल गुप्ता सिक्कों के इस अभाव के पीछे मुहम्मद गजनी की लूट मानते हैं।[2] यह एक कारण हो सकता है किन्तु मुख्य नहीं।

प्राचीन काल से तुलना करने पर इस काल में धातु के सिक्कों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान किया जा सकता है।

भारत में वास्तविक रूप से सिक्कों का प्रचलन छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व से माना जाता है।[3] सबसे प्राचीन भारतीय मुद्रायें आहत मुद्रायें थीं जो चांदी एवं तांबे की निर्मित होती थीं। मौर्यकाल में मुद्रा प्रणाली का पर्याप्त मात्रा में प्रचलन था एवं सामान्य जीवन में तथा अधिकारियों को वेतनादि में सिक्कों का पर्याप्त प्रयोग होता था।

मौर्य काल के पश्चात् 200 ई0पू0 और 300 ई0 सन् के बीच में समय में मौद्रिक अर्थव्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ हुयी। इस समय स्थानीय तथा मध्य एशियाई मूल के राजवंशों ने काफी सिक्के जारी किये। यदि इन्हें कबायली गणतंत्रों, शहरों, श्रेणियों आदि के द्वारा जारी किये गये तथा रोमन साम्राज्य से आने वाले सिक्कों के साथ मिलाकर देखें तो यह सिक्कों की प्रचुरता का काल प्रतीत होता है।[4] इस समय देशी एवं विदेशी व्यापार, शहरीकरण एवं उद्योगों की स्थिति में अत्यधिक विकास दिखाई देता है। रोमन साम्राज्य से होने वाले व्यापार में स्थिति भारत के पक्ष में थी एवं निर्यातित भारतीय माल की कीमत के तौर पर प्रभूत मात्रा में रोमन मुद्रा के रूप में

---

1. वही
2. गुप्ता, परमेश्वरी लाल, क्वायन्स, पृ0 63-72.
3. इस सम्बन्ध में विद्वानों के विविध मत हैं। रामशरण शर्मा इसका समय पांचवी शताब्दी ई0पू0 बताते हैं (पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज एवं संस्कृति, पृ0 1010) जबकि क्रिब चतुर्थ शताब्दी ई0पू0 मानते है। (इंडियाज अर्लिएस्ट क्वायंस, क्वायन होर्डस VII, पृ0 281).
4. शर्मा, रामशरण, पूर्व-मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ0 102.

कीमती धातुयें भारत आती थीं।[1] अपने इस घाटे को रोकने के लिये रोम को भारतीय माल के आयात पर रोक लगानी पड़ी थी।[2]

इस समय हिन्दयवन, कुषाणों एवं सातवाहनों ने बड़ी मात्रा में सिक्के जारी किये। कुषाणों ने सोने एवं तांबे, हिन्दयवनों ने सोने, चांदी, सीसा एवं तांबे के एवं सातवाहनों ने सीसा, तांबे एवं चांदी के सिक्के चलाये।

गुप्तकाल (लगभग 300 से 500 ई0) में भी राजाओं ने पर्याप्त मात्रा में सिक्के चलाये। इन्होंने सोने, चांदी एवं तांबे धातु का सिक्कों के लिये प्रयोग किया। इसी समय पश्चिमी शक-क्षत्रपों के प्रदेश में रांगे, तांबे एवं चांदी तीनों धातुओं के सिक्के प्रचलित थे। गुप्त राजाओं ने विभिन्न प्रकारों सहित सिक्के प्रचलित किये। भारतीय मुद्राशास्त्र में छन्दोबद्ध रूप से मुद्रालेख सबसे पहले गुप्त सिक्कों पर ही दिखाई देता है।[3] इसका बाद में अनुकरण मौखरी, हूण एवं वर्धन वंश की मुद्राओं में किया गया।[4]

प्रथम चन्द्रगुप्त द्वारा प्रचलित सुवर्ण सिक्के में मौलिकता है। अग्रभाग पर राजा रानी को भेंट देता हुआ दिखाया गया है पृष्ठ भाग पर सिंहवाहिनी देवी है। एलन इसे समुद्रगुप्त द्वारा प्रचलित मानते हैं[5] किन्तु यह मत निराधार है। समुद्रगुप्त ने छह प्रकार की स्वर्ण मुद्रायें जारी कीं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने आठ प्रकार की स्वर्णमुद्रायें चलायीं। इसके समय से ही सर्वप्रथम गुप्त वंश की मुद्राओं में रजत मुद्रा का समावेश हुआ। कुमारगुप्त प्रथम के समय चौदह प्रकार की स्वर्णमुद्रायें एवं दो प्रकार की रजत मुद्रायें

---

1. वही.
2. स्टेनवेन ई0 साइडबांथम, रोमन इकॉनमिक पालिसी इन द एरिथ्रा थलासा, लाइडेन, 1989, पृ0 38-39.
3. जॉन अलन ने सर्वप्रथम सिक्कों की छन्दोबद्धता पहचानी.
4. अलतेकर ए0एस0 गुप्तकालीन मुद्रायें, 1972, पृ0 12.
5. एलन, बि0क्यू0कै0सी0डी0 भूमिका, पृ0 114-118.

प्रवर्तित की गयी। समुद्रगुप्त[1], रामगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं कुमारगुप्त ने तांबे के सिक्के भी जारी किये। कुमारगुप्त के बाद तांबे का कोई भी सिक्का नहीं मिला है।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य की अवनति होने लगी। इस समय मुद्रा में भी ह्रास परिलक्षित होता है।

गुप्तकाल में सामान्यतया चांदी का सिक्का लगभग 30 ग्रेन का होता था और सोने का सिक्का 123 ग्रेन के आसपास होता था[2] जिसमें 10 प्रतिशत हीन धातु मिली रहती थी। स्कन्दगुप्त के राज्यकाल के अंत की ओर सोने के सिक्कों का वजन 144 से 146 ग्रेन हो गया किन्तु हीन धातु की मात्रा बढ़कर 25 प्रतिशत हो गयी। इस समय स्वर्ण अनुपात घट गया। पुरुगुप्त, घटोत्कचगुप्त, नरसिंहगुप्त, बुधगुप्त, विष्णुगुप्त एवं वैन्यगुप्त सभी परवर्ती गुप्त नरेशों के सिक्के प्राप्त हैं। नरसिंहगुप्त एवं कुमारगुप्त द्वितीय के सिक्कों में मात्र 54 प्रतिशत सोना है।[3]

कुमारगुप्त प्रथम के कुछ सिक्कों में नीचे तांबा एवं ऊपर चांदी का खोल चढ़ा है। स्मिथ का मत है कि बाद के गुप्त सम्राटों ने इस प्रकार के सिक्के इसलिये चलाये क्योंकि उनके पास पर्याप्त मात्रा में चांदी नहीं थी।[1]

मोटे तौर पर लगभग सभी गुप्त नरेशों के समय पर्याप्त मात्रा में सिक्के जारी किये गये।

गुप्त काल के पश्चात् भारत विशेषतया उत्तर भारत की मौद्रिक स्थिति में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। छठी से दसवीं सदी के बीच जब सामंतवादी

---

1. बनर्जी, आर0डी0, ने अपने ग्रन्थ दि एज आफ एम्पीरियल गुप्ताज (पृ0 214) में समुद्रगुप्त के दो तांबे के सिक्कों का उल्लेख किया है।
2. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, दिल्ली 1975, पृ0 152
3. अलतेकर, ए0एस0, गुप्तकालीन मुद्रायें, 1972, पृ0 207.

प्रवृत्तियां प्रबल रूप से विद्यमान रहीं, व्यापार की दशा में अवनति एवं व्यापार में मुद्रा के प्रयोग की ह्रासमान स्थिति के सम्बंध में अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

इस समय मुद्रायें बहुत कम संख्या में प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में प्रो0 रामशरण शर्मा कहते हैं कि 'लगभग 500 से 1000 ई0 के दौरान भारत के प्रायः सभी हिस्सों में अनेक शक्तिशाली राजवंश शासन करते रहे। जितने राज्य इस काल में थे उतने इससे पहले के किसी भी काल में नहीं थे। सिक्कों की गुप्तकालीन परम्परा 650 ई0 तक उत्तरी, मध्य और पूर्वी भारत तथा आन्ध्र प्रदेश के तटवर्ती क्षेत्रों में जैसे तैसे कायम रही। इसके बाद के राजवंशों द्वारा जारी किये जाने वाले सिक्कों में भारी कमी आ गयी। इस काल में भारतीय राजवंशों ने सोने के सिक्के प्रायः जारी ही नहीं किये।[2] चांदी एवं तांबे के सिक्के भी पर्याप्त मात्रा में नहीं ढाले गये हैं।[3] यद्यपि गुर्जर-प्रतिहारों के समय सिक्कों के सम्बंध में कुछ प्रमाण मिले हैं किन्तु वे अल्प हैं।[4] मोटे तौर पर छठी सदी के लगभग 400 साल बाद तक दक्षिण भारतीय राजवंशों ने सिक्के जारी करने का सिलसिला प्रायः बन्द ही रखा।[5]

इस समय छुटपुट रूप से कुछ राजाओं द्वारा जो सोने के सिक्के जारी किये गये, वे अल्प हैं। सोने के सिक्के बड़े व्यापारिक लेन-देन में ही प्रयुक्त होते थे एवं समाज के धनी वर्ग द्वारा खजाने के रूप में संचय करने के काम में आते थे।[6] चांदी के सिक्के इसकी अपेक्षतया अधिक एवं तांबे के सिक्के सबसे ज्यादा विनिमय हेतु प्रयुक्त होते थे।

---

1 स्मिथ, जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, 1893, पृ0 142-43.
2. शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज एवं संस्कृति, पृ0 105
3 यादव, बी0एन0एस0 सोसाइटी एण्ड कल्चर इन ट्वेल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद, 1973, पृ0 275.
4. पुरी, बी0एन0 द हिस्ट्री ऑफ द गुर्जर प्रतिहार, पृ0 134.
5. शर्मा, रामशरण, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ0 105.
6. लाहिड़ी, बेला, ज0न्यू.सो0इ0 42, 88.

इस प्रकार सातवी शता० से दसवीं शता० तक मुद्रा की दशा में अवनति दिखाई देती है। सिक्कों की अल्पप्राप्ति, मिलावट की अधिकता, कलात्मकता का निम्न स्तर मौलिकता का अभाव इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। यदि हम पूर्वी चालुक्यों, प्रतिहारों एवं काश्मीर के राजवंशों को अलग रखें तो सातवीं से दसवीं सदियों के दौरान भारत की वर्तमान सीमाओं के अंदर राजवंशीय धातु मुद्राएं लगभग बिल्कुल नहीं मिलती हैं।[1]

यदि हम छठी से दसवीं शताब्दी तक के कालखण्ड में उत्तर भारत में सिक्कों की स्थिति का क्षेत्रवार अध्ययन करें तो स्थिति ज्यादा स्पष्ट होती है।

काश्मीर की स्थिति राजवंशीय मुद्रा के सम्बंध में शेष भारत से पृथक् सी प्रतीत होती है। संभव है यह इसकी अलग-थलग सी भौगालिक स्थिति का परिणाम हो। यहां छठी से तेरहवीं सदी तक शासन करने वाले सभी राजवंशों ने सिक्के जारी किये। किन्तु यहां भी इस समय मुख्यतः ताम्रमुद्रा परम्परा प्रचलित थी।[2]

उत्पलवंश द्वितीय लोहार वंश एवं यशस्कर वंश की सारी राजवंशीय मुद्रायें तांबे की है। अन्य वंशों के कुछेक राजाओं की मुद्राओं से चांदी, दरब या सोने का प्रयोग हुआ। शेष नरेशों की मुद्रा ताम्रनिर्मित ही है। यहां के शासकों की मुद्राओं में मोटे तौर पर अंकन अभिप्राय (एक भाग पर लक्ष्मी एवं दूसरे पर खड़ा राजा) एक ही से हैं।

इस प्रकार यहां भी इस समय मूल्यवान धातु के सिक्के अल्प है। यहाँ कौड़ी[3] एवं विनिमय माध्यम के रूप में अन्य साधन तथा चावल आदि धान्य[1] भी प्रयुक्त होते थे।

---

1. शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ0 107.
2. देयल जॉन्स, लिविंग विदाउट सिल्वर, ऑक्सफोर्ड, 1990, पृ0
3. क्षेमेन्द्र, समय मात्रक, समय 8, श्लोक 80.

उत्तर भारत में वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार एवं बंगाल में इस समय (600 ई0 से 1000 ई0 सन् के मध्य) राजवंशीय मुद्रायें अत्यन्त अल्प मात्रा में प्राप्त होती है। उत्तर भारत में इस समय कन्नौज को राजधानी बना कर शासन करने वाले मौखरी, तथा वर्धन वंश के कुछ शासकों की गुप्तों की रजत मुद्रा के अनुकरण पर बनी मुद्रायें प्राप्त हुयी हैं किन्तु ये सातवीं शता0 के पूर्वाद्ध की ही हैं। सातवीं शताब्दी के उत्तराद्ध से लेकर ग्यारहवीं शता0 तक गुर्जर प्रतिहार वंश के भोज[2] एवं विनायकपाल की रजत मुद्रा के अतिरिक्त राजवंशीय मुद्रा का अभाव दिखता है। स्वर्ण मुद्रा का तो नितान्त अभाव है। बाद में बारहवीं शता0 में गहड़वालों के समय पुनः सोने के सिक्कों को ढाला गया।

बंगाल में गुप्त काल के पश्चात् समाचार देव, जयनाग, शशांक, वीरसेन आदि राजाओं की सोने की मुद्रायें मिलती है। बंगाल एवं उत्तर पूर्वी भारत के क्षेत्रों से गुप्तों के धनुधारी प्रकार की स्वर्णमुद्रा के अनुकरण में कुछ मुद्रायें प्राप्त होती हैं। किन्तु ये सिक्के खोटी धातु के तथा निम्न कलात्मक स्तर के हैं।[3] ये भी आठवीं सदी के मध्य तक ही निर्मित हुये हैं। 'बंग्लादेश के सिलहट एवं चटगांव इलाकों से जो सिक्के मिले हैं वे अंशतः दक्षिण-पूर्व एशियाई परम्परा की देन हैं। बर्मा में अराकान के चन्द्रों ने वृषभ-त्रिशूल सिक्के जारी किये। 'अकर' राजवंश ने मैनामती में इस सिलसिले को जारी रखा। हरिकेल सिक्कों के बारे में भी यही स्थिति जान पड़ती है। अकर सिक्कों

---

1 राजतरंगिणी VIII 122

2 डॉ0 रामशरण शर्मा (पूर्वमध्यकाल का सामंती समाज और संस्कृति, नयी दिल्ली, 1996, पृ0 109) यह संभावना व्यक्त की है कि संभव है 'भोज' नामधारी सिक्के दसवीं सदी के अंत एवं उसके बाद के हो। भोजनामधारी राजा न केवल नवीं एवं दसवीं सदियों के प्रतिहार वंश में, बल्कि ग्यारहवीं सदी के परमार वंश में भी हुये हैं।

3. शर्मा रामशरण, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, 107.

का काल नौवीं सदी का मध्य माना जाता है। मैनामती की खुदाई में कुल 297 सिक्के प्राप्त हुए। इनमें से काफी सिक्कों पर पट्टिटकेर नाम अंकित है और लगता है कि ये स्थानीय तौर पर किए गए। रॉबर्ट विक्स के अनुसार आज हरिकेल सिक्के की संख्या लगभग 600 है। जिनका विस्तार दक्षिण-पूर्व एशियाई सिक्कों में सबसे अधिक है और जिनमें से बहुत बड़ी संख्या उन सिक्कों की है जो दक्षिण-पूर्व बंगाल में मिले हैं। स्थानीय राजवंशों ने खास तौर से बंग्लादेश के तटवर्ती इलाकों में विचाराधीन काल में अर्थात् दसवीं सदी के अंत तक धातु के सिक्के जारी किये। दसवीं सदी के बाद हरिकेल सिक्कों की संख्या खूब बढ़ जाती है। विभिन्न इलाकों की परिस्थितियों के अनुसार सिक्कों के चलन के पैमाने में अंतर दिखाई पड़ता है। बड़े नगरों और तटवर्ती इलाकों में स्वभावतः उनका अधिक व्यवहार होता होगा। यही कारण है कि हरिकेल सिक्के दक्षिण-पूर्व बंगाल के चटगांव और सिलहट जिलों में मिले हैं और चालुक्य सिक्के आंध्र के तटवर्ती इलाकों में । जो भी हो ऐसा नहीं लगता कि बंग्लादेश के दक्षिण-पूर्वी जिलों से प्राप्त सिक्कों ने दसवीं सदी तक या उसके कुछ काल बाद तक भी पूर्वी भारत के आर्थिक जीवन पर विशेष प्रभाव डाला हो। सेन अभिलेखों से लगता है कि विनिमय-माध्यम के तौर पर कौड़ियों का इस्तेमाल आम था। इसके अलावा मालूम होता है, दसवीं सदी के पूर्व और पश्चात् भी इस क्षेत्र में सेवाओं का प्रतिदान भूमिदानों के रूप में किया गया था।[1]

ये आंतरिक व्यापार में प्रयुक्त होते थे। ये मोटे तौर पर 5.4 ग्राम वजन के थे।

---

1. शर्मा रामशरण, वही, पृ0 107-108.

इस प्रकार इस समय राजवंशीय मुद्रायें कुछ क्षेत्रों को छोड़कर कम ही प्राप्त हैं। चांदी एवं तांबे की हीन कोटियों, कलात्मकता के निम्न स्तर वाली मुद्रायें प्राप्त हुयी है। स्वर्णमुद्रा का तो एकदम ही अभाव दिखता है।

इस समय इस तरह की हीन कोटि की मुद्राओं से अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्य बड़े पैमाने पर होने वाले अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार संभव नहीं था। इस हेतु एक सारवयुक्त विश्वसनीय मुद्रा की आवश्यकता थी।

इन परिस्थितियों में राजा सामान्यतया सोने के सिक्कों की ढलाई के झंझट से मुक्त रहते थे एवं यह काम उन्होंने बड़े व्यापारियों एवं व्यापारिक संस्थानों को सुपुर्द कर दिया था।[1] इन्होंने इस ध्येय हेतु अपने सोने के सिक्के चलाये।[2]

पहले सिक्का चलाना राजा का एकाधिकार होता था किन्तु पूर्वमध्यकाल में यह समाप्त हो गया। राजतरंगिणी में इससे सम्बंधित एक प्रसंग मिलता है।[3] जिसमें राजा अनन्त (1028 ई0 से 1063 ई0) के एक मंत्री ने सोने की गुणवत्ता एवं मूल्य निर्धारित करने का राजकीय एकाधिकार को समाप्त कर दिया था ताकि परवर्ती राजाओं को अत्याचार करने का मौका नहीं मिले। वल्लालचरित में वर्णित है कि राजा वल्लालसेन ने उदन्तपुर (मगध) की जीत के लिये उस समय के सबसे धनी व्यापारी वल्लभानन्द से एक करोड़ निष्क उधार में लिये।[4] कैकट के अभियान के सेना के पुनर्संगठ्न के लिये व्यापारी ने पुनः डेढ़ करोड़ सुवर्ण की मांग रखी जिसे वल्लभी ने अस्वीकार कर दिया। बाद में राजा को जब पता चला कि यह व्यापारी वल्लभानन्द जो वणिकों का

---

1. गोपाल, लल्लनजी, द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, 1996, पृ0 218.
2. चटर्जी भास्कर, ज0न्यू0सो0इ0 1988, भाग 50, पृ0 109
3. राजतरंगिणी VII, 211-212.
4. वल्लाल चरित, भाग II

नेता था वह प्रतिपक्षी पाल नरेश के पक्ष में था जो उसका दामाद था तब उसने उसकी दशा को नीचा कर दिया। राजा द्वारा व्यापारी से करोड़ रूपये के सुवर्ण एवं निष्क की मांग व्यापारियों द्वारा सिक्के ढाले जाने के मत का समर्थन करती है।

कुछ विद्वान् गधैया सिक्कों की ढलाई सराफ एवं व्यापारी द्वारा किया जाना मानते है।[1] यद्यपि इस समय सिक्कों के निर्माण का अधिकार कुछ राज्येतर संस्थाओं को भी प्राप्त हो गया था किन्तु यह असीमित नहीं था। इस अधिकार की प्राप्ति हेतु राज्यानुमति आवश्यक थी। मुहम्मदउफी का विवरण इस तथ्य को संकेतित करता है। वह कहता है कि एक राजा ने अपने भाई को नरवाल का प्रमुख बनाया जो दुष्ट था एवं उसने नकली दिरहम बनवाकर चलाये तब राजा (राय) ने सेना भेजकर उसको पकड़वाया।[2]

अन्य क्षेत्र के विपरीत भारतीय उपमहादीप के पश्चिमोत्तर भाग में भूमिदान प्रथा का कम प्रचलन था एवं मुद्रा का व्यापक रूप से प्रयोग होता था। ओहिन्द के हिन्दूशाही शासकों ने इस समय बैल एवं घुड़सवार प्रकार के सिक्के चलाये। ये चांदी एवं ताम्र निर्मित हैं।

गुजरात मालवा एवं राजस्थान से बड़ी संख्या में गधैया सिक्के मिले हैं। ये सातवीं से बारहवीं सदी तक के माने गये हैं। ये सिक्के कांसे के बने हैं जिन पर चांदी का मुलम्मा चढ़ाया गया है।[1]

इस समय मुद्रा की कमी के कारण स्थानीय तौर के लेनदेन में विनिमय के माध्यम के रूप में कौड़ियों का प्रयोग होता था। पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इसे भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता था।

---

1 शर्मा, रामशरण, पू0म0भा0सा0स0 संस्कृति, पृ0 112.
2. इलियट एवं डाउसन, II, 168.

बंगाल में इसे कार, राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश में कौड़ी, गुजरात में कौड़ा और छत्तीसगढ़ में कौरा कहा जाता था। गुप्तकाल में भी स्थानीय लेनदेन में इसका प्रयोग होता था। फाहियान ने कहा है कि मध्यप्रदेश में रोजाना के आदान-प्रदान में कौड़ी का प्रयोग होता था।[2] पूर्वमध्यकाल में इसका प्रचलन बहुत ज्यादा हो गया। हवेनसांग ने भी मुद्रा की जगह इसके प्रयोग का उल्लेख किया है।[3] मसूदी[4] एवं मिनहाज[5] ने बंगाल में इसके प्रचलन का विवरण दिया है। क्षेमेन्द्र काश्मीर में कौड़ियों के प्रचलन की सूचना देता है।[6] सियाडोनी अभिलेख में इनका उल्लेख एवं कौड़ियों के अनेक ढेर उत्तर प्रदेश में इसकी लोकप्रियता की पुष्टि करते हैं।

व्यापार में इस समय मुद्रा के अभाव की पूर्ति हेतु कहीं-कहीं विनिमय के साधन के रूप में विविध वस्तुओं को अपनाया गया था। इनमें सोने के आभूषण एवं अनाज प्रमुख थे। राजतरंगिणी में एक ऐसा प्रसंग मिलता है जहां स्वर्ण कंगन का यव (जौ) के साथ विनिमय किया गया।[7] अनाज में चावल प्रमुख खाद्यान्न था जो विनिमय माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाता था।[8]

मुद्रा की कमी के कारण इस समय राज्य के कर्मचारियों को वेतन नकद नहीं दिया जाता था बल्कि उन्हें राजस्व का कुछ हिस्सा दे दिया जाता था। यद्यपि पहले भी कहीं-कहीं प्रशासनिक अधिकारियों को भूमिदान देने के प्रसंग प्राप्त होते हैं किन्तु उनका स्वरूप इस समय दिये गये भूमिदानों से

---

1 शर्मा, रामशरण, पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ0 111
2 लीज, रिकार्ड्स ऑफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स बिइंग ऐन एकाउण्ट ऑफ चाइनिज मांक फाहियान, पृ0 43.
3. बाट्टर्स, भाग ए पृ0 178.
4. जी0 वान्ट्ट, डिक्सनरी ऑफ द इकोनामिक प्रोडक्ट्स ऑफ इण्डिया, पृ0 989.
5. उद्धृत मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग I, पृ0 669.
6. क्षेमेन्द्र समय मात्रक, समय 8, पृ0 80.
7. कल्हण राजतरंगिणी, त0 7, श्लोक 1621.
8. वही भाग 1 एवं 2.

भिन्न होता था। कौटिल्य के समय समाहर्ता आदि अनेक अधिकारियों को नकद वेतन देने के विधान किया गया है।[1] यद्यपि नयी बस्तियों में गोप एवं स्थानिक को भूमिअनुदान देने का प्रावधान अर्थशास्त्र में किया गया है किन्तु इस प्रदत्त भूमि को उसे न बेचने न अन्य किसी को देने को अधिकार प्राप्त था।[2] यह अनुदान नकद वेतन के ऊपर से था। ईस्वीसन् के प्रारम्भ में इस स्थिति में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। मनु स्मृति में गांवों से सम्बन्धित कुछ अधिकारियों को वेतन के रूप में नकद की जगह भूमिअनुदान देने का विधान किया गया है।[3] गुप्तकाल में सरकारी कर वसूलने का दायित्व कम से कम तो अंशतः सामंतों को सौंप ही दिया जाता था।[4]

गुप्तोत्तर काल में यह प्रवृत्ति और प्रबल हो गयी। राजा अपने सामंत रूपी तीसरे मध्यवर्ती वर्ग के सहारे किसानों से कर की वसूली करता था। सातवीं सदी के पूवार्द्ध के चीनी यात्री हवेनसांग के कथन से भी यही स्थिति स्पष्ट होती है। वह कहता है 'सरकार की नीति बहुत उदार होने के कारण बहुत कम अधिकारियों की जरूरत होती है। परिवारों का पंजीयन नहीं होता है।[5] सामंत वसूले गये राजस्व में कुछ हिस्सा वेतन रूप में रख कर शेष केन्द्रीय सत्ता को दे देते थे। हर्ष के समय में बड़े अधिकारियों की वृत्ति के लिये एक चौथाई राजस्व को सुरक्षित किया जाना[6] इस बात की पुष्टि करता है कि हर्षवर्धन के समय में राज्याधिकारियों को सेवा के प्रतिदानस्वरूप नकद वेतन नहीं प्राप्त होता था।

---

1. अर्थशास्त्र, अ0 (5), 2 ले0 3.
2. वही, 2,1
3. मनुस्मृति 15-20.
4. शर्मा रामशरण, भारतीय सामंतवाद पृ0 9.
5. वार्टस, युवान-चुआग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, 1176.
6. सैमुअल, बील (अनु0) सी0यू0की, ए 88.

इस समय की मुद्राओं में अत्यधिक मिलावट दृष्टिगत होती है। इससे भी मुद्रा के गिरते स्तर का पता चलता है। चांदी के सिक्कों में कहीं–कहीं इतनी अधिक मिलावट दृष्टिगत होती है कि यह कहना कठिन होता है कि इन्हें चांदी के सिक्कों की कोटि में रखा जाय या मिश्रित सिक्कों की कोटि में रखा जाय। इस सम्बंध में जान्स देयल कहते हैं कि इस समय सोने एवं चांदी के सिक्कों में मूल धातु के अनुपात में कमी एवं मिश्रण की अधिकता इस समय की व्यापारिक अवनति का परिचायक नहीं है। बल्कि ऐसा इस समय सीमित मात्रा में कीमती धातुओं की आपूर्ति के कारण हुआ है।[1] यद्यपि कीमती धातुओं की आपूर्ति के तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। किन्तु इसके साथ ही यह भी सही है कि इस समय सामंतवाद के कारण भी मुद्रा अर्थव्यवस्था पर आघात लगा था।

इस समय व्यापार में अदल बदल प्रणाली के प्रचलन के संकेत प्राप्त होते हैं। ग्राम आदि आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था वाले सीमित क्षेत्रों में वस्तुओं के आदान–प्रदान की प्रणाली द्वारा व्यापार संचालित होता था। इससे मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। लीलावती[2] गणितसार संग्रह[3], त्रिशब्दिश्लाकापुरुशचरित[4] में वस्तुओं के व्यापारिक आदान प्रदान के प्रसंग इसी प्रणाली को संकेतित करते हैं।

इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में छठी से दसवीं सदियों के बीच के समय में व्यापार में मुद्रा के प्राचीनकाल की तुलना में कम प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। इस स्थिति के पीछे अनेक तत्कालीन कारण उत्तरदायी थे।

---

1. देयल जॉन्स, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. 5.
2. लीलावती, पृ0 35.
3. गणितसार संग्रह IV, 37-38.
4. त्रिशब्दिश्लाकापुरूषचरित, I, पृ0 7.

1. पूर्वमध्यकाल में सामंतवाद के कारण एवं विदेशी व्यापार में ह्रास से उत्पन्न भारत की आर्थिक दशा में गिरावट का प्रभाव मुद्रा–अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा। पश्चिमी देशों से जारी परम्परागत व्यापार की समाप्ति, तथा अरबों के साथ व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में भारतीय व्यापारियों के न टिक पाने से पश्चिमी देशों के साथ व्यापार में भारतीय पक्ष की अब पूर्ववत् लाभप्रद स्थिति नहीं रही। भारत के भीतर व्यापारियों की गतिशीलता में कमी, स्पर्धा का अभाव, उनको प्रशासनिक उत्तरदायित्व सौंपा जाना आदि कारकों ने अर्थव्यवस्था पर विपरीत असर डाला। इससे व्यापारियों को दूरस्थ इलाकों में जाकर व्यापार की प्रेरणा समाप्त होने लगी एवं उनकी गतिविधियां छोटे इलाकों में ही सीमित रह गयीं। इससे आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को बल मिला। मुद्रा की जगह आदान–प्रणाली का प्रयोग ज्यादा होने लगा।

2. बहुमूल्य धातुओं (सोने एवं चांदी) की भारत में इस समय पर्याप्त मात्रा में आपूर्ति में कमी से भी सिक्कों की संख्या एवं शुद्धता प्रमाणित हुयी।

छठी शताब्दी से दसवी शता0 तक भारत से स्वर्ण सिक्कों की कमी के कई कारण थे। प्राचीन भारत में कभी भी सोने की मांग की पूरी तरह आपूर्ति देशी स्रोतों से नहीं होती थी। यद्यपि कोलार की खान एवं नदियों की बालू आदि से प्राचीन समय से ही सोना प्राप्त किया जाता था किन्तु यह देश की समस्त मांग को पूरा करने में सक्षम नहीं था। वस्तुतः भारत में सोने की आपूर्ति का मुख्य स्रोत विदेशों से स्वर्ण मुद्रा या व्यापार में भारतीय माल के बदले कीमत के रूप में दिया गया सोना था। अतः जब तक भारत की विदेशों

के साथ व्यापार में लाभप्रद स्थिति रही, तब तक अधिक मात्रा में सुवर्ण आने से प्रभूत मात्रा में स्वर्ण मुद्रायें जारी की गयी।

(क) प्राचीन समय में रेशम के व्यापार में मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। कुषाण काल में विशेषकर कनिष्क के समय में बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान, मध्यएशिया तथा उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रांत के क्षेत्र भी भारतीय साम्राज्य का अंग बन गये थे इससे भारत का पश्चिमी देशों में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ तथा सिल्क मार्ग जो चीन से होकर पश्चिमी देशों तक जाता था, के भारतीय क्षेत्र से होकर जाने के कारण इससे होने वाले रेशम के व्यापार में मध्यस्थ की भूमिका में भारतीय व्यापारियों ने पर्याप्त लाभ अर्जित किया जिससे भारत में सोना आया।

किन्तु छठी सदी के मध्य तक यह स्थिति पूरी तरह बदल गयी थी। 551 ई0 के आसपास रेशम पैदा करने वाले कीड़े थल मार्ग से छिपाकर चीन से बैजन्तिया साम्राज्य में लाये गये।[1] छठी शता0 खत्म होते-होते बैजन्तिया वालों ने रेशम के कीड़े से रेशम पैदा करने की तकनीक सीख ली। इससे इन्होंने रेशमी वस्त्रों का पूर्व से आयात बन्द कर दिया तो भारतीय विदेशी व्यापार को भी धक्का लगा। लाभ की कमी का स्पष्ट परिणाम विदेशी सोने के (जो मध्यएशिया के मार्ग से आता था) भारत आने में कमी के रूप में दृष्टिगत हुआ।

(ख) भारतीय वस्तुओं के विदेशों को निर्यात बदले मुद्रा के रूप में भी भारत सोना प्राप्त करता था। प्राचीन समय में रोम मसाले, सूतीवस्त्र हाथीदांत की बनी वस्तुओं, मोती, शंख, चन्दन और रेशम तथा रेशमी वस्त्रों आदि

---

1 रिचर्ड पैकहर्स्ट, इंट्रोडक्शन टु इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 46.

विलासिता की वस्तुओं का भारत से आयात करता था।[1] भारत में रोम से मृण्भाण्ड, मनके आदि के साथ-साथ सोने-चांदी के सिक्के बहुत मात्रा में आते थे। दक्षिणभारत में बड़ी संख्या में सोने एवं चांदी के रोमन सिक्के प्राप्त हुये हैं। दक्षिण में तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश से ये विशेष रूप से प्राप्त हुये हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भारत में मिलने वाले रोमन शासकों के सिक्कों की अड़सठ निधियों में से सत्तावन विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में स्थित क्षेत्रों से ही मिली है। मुद्रानिधियों के रूप में मिलने का कारण यह बतलाया जाता है कि दक्षिण भारत में सोने के सिक्के का प्रचलन नहीं था। वहाँ के निवासी इन सिक्को का बुलियन (Bullion) के रूप में अथवा आभूषण के रूप में प्रयोग करते रहे होंगे। उत्तर भारत में रोमन सिक्के नहीं मिलते है। कुषाण शासकों ने प्राचीन भारत में सर्वप्रथम सोने के सिक्के जारी किये थे। इस बात की अधिक सम्भावना है कि उत्तर भारत में व्यापार के माध्यम से पहुंचने वाले रोमन सिक्कों को गलाकर भारतीय सिक्कों में बदल दिया जाता रहा होगा। व्यापारिक संतुलन संभवतः भारत के पक्ष में था क्योंकि प्लिनी नामक रोमन लेखक ने इस बात पर खेद प्रकट करते हुये लिखा है कि रोम का काफी धन भारत आदि पूर्वी देशों से विलासिता की वस्तुयें मंगाने में प्रतिवर्ष व्यय होता है। कुछ रोमन शासकों ने इस पर रोक लगाने की चेष्टा की।[1]

ईस्वी सन् की तीसरी सदी के पश्चात् भारत एवं रोम का यह व्यापार क्रमशः कम होने लगा था। सातवीं सदी के आते-आते इसमें अत्यंत कमी आ गयी थी। इसके पीछे भारत एवं रोम दोनों देशों की आंतरिक स्थितियां उत्तरदायी थीं। भारत में सामंतवाद एवं पश्चिमी समुद्रों पर अरबों के बढ़ते

1. पाण्डेय जयनारायण, पुरातत्व विमर्श, 1983, इलाहाबाद, पृ0 424

अधिपत्य के कारण भारतीय व्यापारी उनका मुकाबला करने में असमर्थ हो रहे थे। अब भारतीय व्यापारियों ने पश्चिमी दूर देशों की यात्रा करने की जगह खुद को मुख्यतः भारत के तटवर्ती नगरों तक ही सीमित कर लिया। रोम का विभाजन, उस पर विदेशी आक्रमण एवं नगरीय जीवन में ह्रास से उत्पन्न आर्थिक अवनति से भी दोनों देशों के पारस्परिक व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ा इससे भारत में सोने-चांदी की आपूर्ति का एक मुख्य स्रोत जो रोमन मुद्रा के रूप में प्राप्त होता था, बन्द होने लगा।

यद्यपि इस समय भारत का पश्चिमी एवं पूर्वी देशों से व्यापार एकदम बंद नहीं हुआ था किन्तु इस समय भारत को पूर्वकाल की तुलना में लाभ की मात्रा कम प्राप्त होती थी।

इस प्रकार भारत में छठी सदी से दसवीं सदी तक सोने की आपूर्ति में कमी ने स्वर्ण सिक्कों पर विपरीत असर डाला।

भारत में व्यापार एवं सिक्कों की स्थिति में ग्यारहवीं सदी से पुनरूत्थान परिलक्षित होता है। कृषि उत्पादनों में वृद्धि, नौका निर्माण कौशल का विकास, चमड़े एवं चमड़े के सामान का मध्यपूर्व के देशों को एवं चीन को निर्यात तथा यातायात के साधनों में सुधार से व्यापार को प्रोत्साहन मिला।[2] व्यापार के विकास के फलस्वरूप हुयी आर्थिक उन्नति का असर सिक्कों के निर्माण में भी दिखता है।

स्वर्ण सिक्कों के पुनर्निर्माण की परम्परा की शुरूआत त्रिपुरी के कलचुरि नरेश गांगेयदेव (1019-1040) द्वारा हुयी। काश्मीर में हर्ष को (1089-1101) स्वर्ण मुद्रा का पुनर्निर्माणकर्ता कहा जा सकता है। रतनपुरि के

---

1. पाण्डेय जयनारायण, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 421.
2 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामतवाद, पृ0 258-262

कलचुरि नरेशों, चन्देल नरेश कीर्तिवर्मन्, मदनवर्मन्, परमदि, त्रैलोक्यवर्मन् ने, गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल ने, ग्यारहवी एवं बारहवीं शता0 के तोमर नरेशों ने, परमार उदयादित्य (1068-1087 ई0) ने एवं गुजरात चालुक्य नरेश के जयसिंह सिद्धार्थ ने सोने के सिक्के प्रचलित किये।[1] यद्यपि सोने के सिक्कों का निर्माण संख्या की दृष्टि से इस समय व्यापार के विकास की तुलना में संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है।[2] ये कम वजन एवं कम मूल धातु (सोना) वाले हैं।[3]

इस समय चांदी, चांदी कांसा, मिश्रित धातु (चाँदी + तांबा) एवं ताम्र सिक्कों की संख्या में भी वृद्धि परिलक्षित होती है। ये मध्यभारत, मालवा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब एवं भारत के उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में चलाये गये। किन्तु इस समय भी मुद्रा की ढलाई व्यापार के अनुरूप पर्याप्त मात्रा में नहीं हुयी थी एवं सभी राजाओं द्वार सिक्के नहीं प्रवर्तित किये गये।

इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में सामान्य तौर पर व्यापार में सिक्कों का कम प्रयोग एवं धातु के सिक्कों की कमी परिलक्षित होती है।

⌘

---

1. यादव, बी0एन0एस0, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन ट्वेल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद, 1973
2. वही.
3. चक्रवर्ती, एस0एन0, जर्नल ऑफ द डिपार्टमेण्ट ऑफ लेटरर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 30, 19, 38, पृ0 37.

अध्याय : सात

उपसंहार

पूर्व मध्यकाल, जिसका समय मोटेतौर पर 700 ई0 सन् से लेकर 1200 ई0सन् के बीच माना जाता है, में उत्तर भारत में व्यापार एवं सिक्कों की स्थिति सदा एक सी नहीं थी। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों एवं कालों में इनमें परिवर्तन दृष्टिगत होता है। इस समय के समाज, धर्म, राजनीति एवं आर्थिक अवस्था को प्रभावित करने वाले तत्वों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व सामंतवाद था।

भारत में सामंतवाद के अस्तित्व एवं उसके स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्रो0 रामशरण शर्मा ने भारत में सामंतवाद की विद्यमानता एवं इसकी विशेषताओं के विषय में अध्ययन सम्बन्धी एक नयी दृष्टि प्रदान की। उन्होंने मध्यकालीन यूरोपीय सामंतवाद (जिसका समय आमतौर पर पांचवी शताब्दी से पंद्रहवी शताब्दी के बीच में माना जाता है) की मूल विशेषताओं को पूर्वमध्यकालीन भारत में भी विद्यमान माना। उनके अनुसार सामंतवाद की प्रमुख विशेषता भूमि एवं उसकी उपज के वितरण में अत्यधिक असमानता है। इस असमान वितरण एवं कृषि अधिशेष उत्पादन के असमान अधिग्रहण ने पराधीन कृषक वर्ग को जन्म दिया। राजा एवं किसानों के बीच का मध्यवर्ती वर्ग जो भूमि का स्वामी होता है किसानों को पराधीन बनाकर उनका अनेक तरह से शोषण करता है। भारत में सामंतवाद के पहले चरण में नगरों का पतन और धातु मुद्रा तथा दूरदेशी व्यापार का अभाव दिखाई पड़ता है।

भारत में सामंतवाद के उदय के मूल में कई कारण सन्निहित थे। इसमें प्रमुख था अपने वर्णधर्म से विभिन्न सामाजिक वर्गो का विचलन। उत्पादन में लगे लोग भारी करों एवं वसूलियों का विरोध करने लगे थे। इस स्थिति का सामना करने के लिये भूमिदान दिये गये। पुराहितों एवं राज्याधिकारियों को दान-दक्षिणा तथा वेतन-पारिश्रमिक पैसे या जिसके रूप में न देकर भूमि रूप में दिया गया। इससे दान में दिये गये क्षेत्रों से करों की उगाही तथा शांति व्यवस्था का दायित्व अनुदान भोगियों का हो जाता था। वे विरोधी किसानों को तुरंत दबा सकते थे। इस प्रथा के कारण आबाद रहित

जमीन में कृषि हो सकती थी। इसके अतिरिक्त जीते गये जनजातीय क्षेत्रों में ब्राह्मणों को कसाकर लोगों को अकुंश में रखा जा सकता था तथा राजा की आज्ञा मानने तथा करों को देने के लिये प्रेरित किया जा सकता था। भूमिदान के कारण दान दिये गये क्षेत्र केन्द्रीय सत्ता के प्रभाव से मुक्त होकर सत्ता के केन्द्र बन गये जिनका प्रमुख सामंत होता था। इस समय सामंतों द्वारा भूमि को पुनः दान देने की प्रणाली से सामंतों की एक श्रेणी का जन्म हुआ। ये सामंतश्रेणी उत्पादन कार्य में लगे किसानों के उत्पादन पर आश्रित थी तथा अधिशेष उत्पादन का अधिकांश हिस्सा स्वयं हड़प कर लेती थी जिससे किसानों की आर्थिक दशा अत्यंत दयनीय हो गयी। एवं उनको कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिये कोई प्रेरणा नहीं रह गयी।

दान में दिये क्षेत्रों के किसानों एवं शिल्पियों को भी दानग्रहीता को हस्तान्तरित करने से इनकी गतिविधयां एक सीमित क्षेत्र तक ही सिमट कर रही गयी। स्पर्धा के अभाव, राजनीतिक अस्तव्यवस्था, विदेशी व्यापार के ह्रास, डकैती का बढ़ता खतरा, करों की अधिकता, कहीं कहीं प्रशासनिक उत्तरदायित्व के भार आदि कारणों से व्यापारियों की गतिशीलता प्रभावित हुयी। इन सब कारणों से आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों का प्रादुर्भाव हुआ। जिसका परिणाम आर्थिक अवनति, नगरीकरण का गिरता स्तर एवं मुद्रा की कमी के रूप में दृष्टिगत होता है।

ग्यारहवीं एवं बारहवीं सदियों में आर्थिक स्थितियों में कुछ परिवर्तन दृष्टिगत होता है। उत्तर भारत में कतिपय नयी आर्थिक शक्तियों का उदय हुआ और उसके परिणामस्वरूप आत्मनिर्भर अर्थ व्यवस्था, मुद्रा के चलन के अभाव एवं किसानों के शोषण पर आधारित पुराना सामन्तवाद कमजोर पड़ने लगा। अब भूमिअनुदान की जगह नकद का प्रयोग ज्यादा होने लगा। इस समय अनेक नये नगरों का प्रादुर्भाव हुआ। आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार में वृद्धि हुयी तथा मुद्राप्रणाली का नवोत्कर्ष हुआ।

पूर्वममध्यकाल में यद्यपि व्यापार-वाणिज्य में कुछ उतार-चढ़ाव दृषष्टिगत होता किन्तु यह कभी-भी एकदम समाप्त नहीं हुआ। इस समय व्यापारी व्यापार हेतु भारत के विभिन्न भागों में एवं दूरदेशों की यात्रा करते थे। राजा भी इसे प्रोत्साहित करते थे एवं व्यापारियों को सुरक्षा प्रदान करते थे। व्यापारी

जब दूरदेशों की यात्रा, जो आर्थिक दृष्टि से अत्यंत लाभप्रद रहती थी को जाते थे। वे ज्यादातर समूह (कांरवॉ) में चलते थे। ऐसा करने से से वे डाकुओं, जंगली जानवरों आदि के खतरे से निर्भय रहते थे क्योंकि कांरवॉ के नेता सार्थवाह व्यापारियों की सुरक्षा, सुविधाओं की देखाभाल करता था।

व्यापारी देश के भीतर मसाले, खाद्यान्न, चीनी, तेल, घी नमक, पशु चमड़े चन्दन, कस्तूरी आदि विविध वस्तुओं का व्यापार करते थे। प्रसिद्ध उद्योग के केन्दों में वस्तुयें दूसरे जगह विक्रय हेतु ले जायी जाती थी।

इस समय व्यापारी गांवों में हाट लगाकार वस्तुयें बेंचते थे। ये हाट कुछ निश्चित दिन ही लगते थे। नगरों एवं कस्बों में कुछ स्थायी दुकाने भी होती थीं। मेलों में भी व्यापार होता था। मंदिर के आसपास भी बाजार विकसित हो जाते थे। उस समय अनेक राजकीय अधिकारी व्यापार की देखरेख हेतु नियुक्त किये जाते थे जिसमें हट्टपति, शौल्किक एंव तारिक अधिकारी प्रमुख थे।

पूर्वमध्यकाल में भारत के विदेशी व्यापार की दिशा एवं स्वरूप में प्राचीन काल की तुलना में परिवर्तन दिखता है। इस समय विदेशी व्यापार का एक महत्वपूर्ण तत्व अरबों का भारतीय व्यापार में प्रवेश है। सातवीं शता0 में इस्लाम धर्म का उदय हुआ। धार्मिक उत्साह में अरबों ने अनेक समीपवर्ती देशों को जीतकर एक विशाल राज्य का निर्माण किया। इसी क्रम में आठवी शताब्दी के पूवार्द्ध में उन्होनें भारत पर भी आक्रमण किया। यद्यपि उन्होनें भारत पर अपना स्थायी आधिपत्य जमाने में सफलता नहीं पायी किन्तु व्यापारियों के रूप में उन्होंने भारतीय व्यापार को पर्याप्त प्रभावित किया। अरबों ने भारत के पश्चिमी देशों से होने वाले सीधे व्यापार को हतोत्साहित किया। उनकी नौसैनिक श्रेष्ठता के सामने भारतीय व्यापारी टिक नहीं पाये एवं वे मूलतः भारत के तटवर्ती क्षेत्रों में ही सीमित रह गये।

भारतीय व्यापारी देश के अन्तवर्ती क्षेत्रों से माल तटीय नगरों तक लाते थे जिन्हें अरबी व्यापारी खरीदकर पश्चिमी देशों में पुनः विक्रय कर देते थे। अरबी व्यापारियों द्वारा बाहर से लायी गयी सामग्री को भारतीय व्यापारी क्रय करके देश के भीतर भागों में पहुँचाते थे। इस प्रकार अरब इस समय भारतीय व्यापार में भागीदारी करने वाला प्रमुख देश था। भारत पश्चिमी देशों से घोड़ा खजूर, कृमिराग, हॉथीदात आदि वस्तुयें आयात किया करता था जबकि

तलवारें एवं अन्य धातु निर्मित सामान, चन्दन, कपूर, कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थ, चमड़े एवं चमड़े का सामान, ईमारती लकड़ी भारत से पश्चिमी देशों को निर्यात की जाने वाली प्रमुख वस्तुयें थीं।

प्राचीन काल की ही तरह इस समय भी भारत का चीन से भी पर्याप्त मात्रा में व्यापार होता था। अधिकांश भारत-चीन व्यापार जलमार्ग से होता था जबकि पहले यह स्थल मार्गो से होता था। भारत प्राचीन काल की ही तरह चीन से मुख्य रूप से रेशम का आयात करता था। सूती वस्त्र, तलवारें, कच्चा लोहा भी चीन को भारत से जाते थे। पूर्वमध्यकाल में भारत का दक्षिणी पूर्वी द्वीपीय देशों से पर्याप्त मात्रा में व्यापार होता था। ताम्रलिपि के बन्दरगाह से अनेक जहाज इन देशों को जाते थे। यहां से सोना, चांदी, बहुमूल्य पत्थर, मसाले भारत में लाये जाते थे। कपड़े एवं चन्दन भारत की इन देशों को निर्यात की जाने वाली प्रमुख वस्तुयें थीं।

श्रीलंका से परम्परागत रूप से भारत के घनिष्ठ सम्बन्ध थे। वहां से मोती भारत लाये जाते थे। जबकि कपड़े भारत से निर्यात किये जाते थे।

पूर्वमध्यकाल में भारत के विदेशी व्यापार के स्वरूप में प्राचीनकाल की तुलना में परिवर्तन दिखता है। प्राचीनकाल में भारत से मुख्यतः विलासिता की वस्तुयें निर्यात की जाती थीं जैसे मसाले, रेशम एवं उत्तम किस्म का मलमल। किन्तु अब चीनी, बकरम सन के बने हुये एवं सूती वस्त्र कमाया हुआ चमड़ा एवं चमड़े की सामग्री, तलवार, भाले एवं खाद्यान्न निर्यात की प्रमुख सामग्री थी। यद्यपि विलासिता की कुछ वस्तुओं का भी कुछ व्यापार जारी था।

इस समय प्राचीनकाल की ही तरह व्यापारी श्रेणी-संलठ्न का निर्माण करते थे। सामंतवाद का प्रभाव इन संगठ्नों पर भी पड़ा। इन पर राजकीय नियंत्रण अब पूर्वकाल की तुलना में बहुत कम हो गया था और वे स्वतंत्र संगठ्न की तरह बनती जा रही थी।

पूर्वमध्यकाल में मुद्रा की कमी एवं व्यापार की अवनति का प्रभाव ब्याज की बढ़ती दरों पर भी दिखता है। इस समय साहूकारी सम्बन्धित वर्गो की स्थिति लाभपूर्ण थी।

राज्य को व्यापार वाणिज्य से स्मबन्धित करों की वसूली से बहुत आय होती थी। 'शुल्क' नामक कर सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। यह मुख्यतः एक

पारगमन कर था। चुंगी, दुकानों पर, घाटों पर लगाये जाने वाले करों से भी राज्य को पर्याप्त आमदनी होती थी।

व्यापारियों का राज्य एवं समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था। इस समय अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब प्रभावशाली व्यापारियों ने शासन में अधिकारी या मंत्री पद पा लिया था। गुजरात के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराजा के समय (ई0सन् 1143) बहुत अधिकारी एवं मंत्री वणिक् वर्ग से सम्बन्धित थे।

पूर्वमध्यकाल में भारत के अनेक भाग विभिन्न मार्गों द्वारा जुड़े हुये थे। ज्यादातर मार्ग प्राचीन काल से ही निरंतर प्रयुक्त हो रहे थे। प्राचीन काल की ही भांति तक्षशिला से ताम्रलिप्ति तक जाने वाला उत्तर महापथ इस समय भी उत्तरी भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थल मार्ग था। इससे अनेक शाखायें एवं प्रशाखायें निकलकर भारत के विभिन्न भागों को इससे जोड़ती थीं। पंजाब एवं सिंध क्षेत्र में मार्ग नदियों के साथ-साथ चलते थे। उत्तर भारत की नदियां सदावाहिनी होने के कारण नव्य थी। ये व्यापार हेतु सुविधाजनक मार्ग प्रस्तुत करती थीं। यही कारण है कि प्राचीन काल के प्रमुख नगरों का विकास नदियों के किनारे ही हुआ था। राज्य की ओर से प्रमुख व्यापारिक मार्गों पर सुविधायें उपलब्ध करायी जाती थीं।

भारत से विदेशों को अनेक स्थल मार्ग जाते थे। एक मार्ग जो तक्षशिला से होकर काबुल को जाता था, प्राचीन काल से ही भारत से यूनान, पश्चिमी एशिया एवं चीन देशों से होने वाले व्यापार हेतु महत्वपूर्ण था। काबुल से विभिन्न दिशाओं को मार्ग जाते थे। प्राचीन काल में यह मार्ग के रेशम मार्ग से जुड़े होने के कारण भारतीय व्यापारियों के लिये यह अत्यधिक प्रमुख हो गया था। यद्यपि इस समय में रेशम के परम्परागत व्यापार की समाप्ति के कारण एवं इस क्षेत्र की अस्तव्यस्त राजनीतिक स्थिति के कारण भारतीय व्यापियों के लिये इस मार्ग से व्यापार में प्राचीन काल की भांति आकर्षण नहीं रह गया था। फिर भी इस मार्ग से थोड़ा-बहुत व्यापार इस समय भी जारी था। असम तथा सिक्किम से चीन को अनेक मार्ग जाते थे। भारत से तिब्बत होते हुए भी चीन के लिए अनेक मार्ग थे। भारतीय विदेशी व्यापार में समुद्री मार्गों का पूर्वकाल की तुलना में अधिक प्रयोग होने लगा था। भारत का दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों, पश्चिमी देशों श्रीलंका एवं चीन से होने वाला

अधिकांश व्यापार इन्हीं मार्गों द्वारा होता था। पश्चिमी देशों को व्यापारिक जहाज अरब सागर होते हुए फारस की खाड़ी एवं लाल सागर तक जाते थे। ताम्रलिप्ति, भड़ौंच, देबल, क्विलोन प्रमुख बन्दरगाह थे। इस समय भारतीय जहाजरानी, चीनियों एवं अरबों की तुलना में पिछड़ी हुयी थी।

आर्थिक उत्थान-पतन का प्रभाव सिक्कों की दशा पर भी पड़ता हैं। पूर्वमध्यकाल के पहले चरण में इसमें हीनता दृष्टिगत होती है जबकि परवर्ती चरण में मुद्रा का पुनरोत्थान हुआ।

पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों एवं साहित्य से मुद्रा सम्बन्धी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। मुद्रा के लिये सबसे अधिक 'द्रम्म' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'द्रम्म' शब्द की उत्पत्ति यूनानी मुद्रा 'ड्रेक्म' से हुयी है जो एक चांदी का सिक्का था एवं जिसका वजन 67.5 ग्रेन होता था। यही फारस में दिरहम हो गया था। भारत में 'द्रम्म' नाम से कहे गये सिक्के किस धातु से बने होत थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। भण्डारकर इसे रजत निर्मित बताते हैं। डॉ0 लल्लनजी गोपाल का भी यही मत है जबकि पुष्पानियोगी इसे सुवर्ण, रजत एवं ताम्र तीनों धातुओं द्वारा निर्मित मानती हैं। वस्तुतः द्रम्म शब्द का अधिकशंतः प्रयोग रजत मुद्रा के अर्थ में हुआ है। इस समय द्रम्म के विभिन्न प्रकार प्रचलित थे। पारुत्थद्रम्म, पंचीयक द्रम्म, द्विवल्लकद्रम्म आदि वराह द्रम्म, बीसलदेव द्रम्म इसके प्रमुख प्रकार थे। इस समय द्रम्म के विभिन्न विभागों के भी सिक्के प्रचलित थे।

दीनार भी उसकाल की एक महत्वपूर्ण मुद्रा थी। 'दीनार' शब्द की व्युत्पत्ति रोमन मुद्रा डेनेरियस से हुयी है। दीनार गुप्तकाल में एक सोने के सिक्के को कहा जाता था किन्तु रोम में यह चांदी का का सिक्का था। सुवर्ण, कांकिणी, पुराण, रूपक्का, पण, टंका, विमसोपाक, कार्षापण, कापर्दक या कौड़ी की प्रचलित मुद्रायें थीं। कौड़ी सबसे कम मूल्य का सिक्का था। यह छोटे पैमाने के व्यापार में विनिमय माध्यम के रूप में प्रयुक्त की जाती थी। उत्तर भारत के लगभग सभी क्षेत्रों में इसके प्रचलन के प्रमाण मिलते हैं। इस काल में कभी-कभी चावल आदि खाद्यान्न स्वर्णाभूषण आदि वस्तुयें भी। विनिमय माध्यम के रूप में प्रयुक्त की जाती थीं। व्यापार में मुद्रा की जगह कभी-कभी अदल-बदल प्रणाली का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है।

छठीं से दसवीं शताब्दी तक सोने के सिक्के अत्यल्प संख्या में प्राप्त होते हैं। शुद्ध चांदी के सिक्कों की भी यही स्थिति है। अधिकांश खराब चांदी के सिक्के, चांदी एवं तांबे के मिश्रित सिक्के एवं ताम्र निर्मित सिक्के इस अवधि में प्रचलन में रहे। काश्मीर के अलावा अन्यंत्र इस काल दौरान राजवंशीय सिक्कों की श्रृखंला नहीं प्राप्त होती है। सिक्कों की इस स्थिति पीछे प्रो0 रामशरण शर्मा आदि विद्वान में भारत की आर्थिक अवनति को उत्तरदायी ठ्हराते है जबकि जान्सदेयल आदि विद्वान् इसे भारत में कीमती धातुओं की आपूर्ति में कमी का परिणाम मानते हैं। वे इसे काल में आर्थिक अवनति से जोड़े जाने के विरोधी हैं। वस्तुतः सिक्कों की संख्या कमी एवं उनमें मूल्यवान धातु के अनुपात की कमी के पीछे ये दोनों ही कारण उत्तरदायी थे।

इस समय आत्मनिर्भर अर्थवस्था के उदय, वेतन एवं दान में नकद की जगह भूमिदानों के बढ़ते चलन ने मुद्रा अर्थ व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव डाला। ग्यारहवीं सदी में मुद्रा प्रणाली में पुरोत्थान दृष्टिगत होता है। उत्तर भारत में डाहल के कलचुरि राजवंश के नरेश गांगेयदेव के समय में एवं काश्मीर में हर्ष के समय से स्वर्णमुद्रा का पुनरांकन शुरू हुआ। राजपूत नरेशों के समय पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण मुद्रायें ढाली गयीं।

पूर्वमध्यकाल में प्रचलित सिक्कों को मुख्यतः पांच वर्गो में रखा जा सकता है। ये हैं– गुप्त प्रकार, कुषाण प्रकार, इण्डोसासानी प्रकार बैठी लक्ष्मी प्रकार एवं घुड़ासवार प्रकार।

गुप्त प्रकार के इस काल के सिक्के वे सिक्के माने जाते हैं जो गुप्तों के सबसे सामान्य प्रकार, जिसमें अग्रभाग पर धनुधारी खड़ा राजा एवं पृष्ठ भाग पर बैठी लक्ष्मी का अंकन है, के अनुकरण पर निर्मित हैं। बंगाल के समाचारदेब, जयनाग आदि की स्वर्ण मुद्रायें इसी प्रकार की है।

कुषाण प्रकार की मुद्राओं में अग्रभाग पर हविष डालता खड़ा राजा एवं पृष्ठ भाग पर ओर्दोक्षो देवी के अंकन वाले कुषाण सिक्कों के अनुकरण पर निर्मित सिक्के सम्मिलित किये जाते हैं। इसमें आर्दोक्षो देवी बाद में बैठी लक्ष्मी के रूप में परिवर्तित हो गयी है। अग्रभाग पर हाविष डालते राजा की जगह अग्नि वेदिका के पास खड़ा राजा सिक्कों में अंकित किया गया। यह प्रकार मुख्यतः काश्मीर में अपनाया गया।

इण्डोसासानी प्रकार भारत में हूणों द्वारा चलाया गया था जो मूलतः सासानी सिक्कों का अनुकरण था। इस प्रकार के सिक्कों के पृष्ठभाग पर पहरेदार सहित या रहित अग्निवेदिका का तथा अग्रभाग पर राजा की आवक्ष आकृति का अंकन रहता था। भारत में इस तरह के हीन अनुकरण पर बने सिक्के गधिया सिक्के कहे गये। तोरमाण, मिहिरकुल, भोज, विनायकपाल के सिक्के इस प्रकार के थे। ये सिक्के राजस्थान के मारवाड़, मालवा, गुजरात मध्यभारत एवं कुछ उत्तर प्रदेश एवं विहार तक प्राप्त हुये हैं। ये सिक्के मुख्त चांदी एवं चांदी एवं तांबे मिश्रित धातु के बने हैं।

बैठी लक्ष्मी प्रकार की मुद्रायें सर्वप्रथम कलचुरि नरेश गांगेयदेव (ई0सन् 1015 ई0 से 1040 के बीच) द्वारा प्रवर्तित की गयी थी। इसमें एक ओर चतुर्भुजी लक्ष्मी पालथी मार कर बैठीं हैं एवं एक ओर बड़े अक्षरों में लेख (राजा का नाम) हैं।

इस प्रकार के सोने के सिक्के गांगेयदेव, चंदेलवंशीय, तोमरवंशीय, शाकरबरी के चाहमानवंशीय एवं कन्नौज के गहड़वालों द्वारा प्रचलित किये गये। मुहम्मद गोरी ने कन्नौज विजय के पश्चात् गहड़वालों के ढंग पर अपने सिक्कों पर लक्ष्मी का अंकन कराया।

बैल एवं घुड़सवार प्रकार के सिक्कों में अग्रभाग पर बैठा बैल एवं पृष्ठ भाग पर घुड़सवार है। ये चांदी एवं तांबे के निर्मित थे एवं ओहिन्द के ब्राह्मण शहियों द्वारा सर्वप्रथम जारी किये गये। ये प्रकार समस्त उत्तर भारत एवं अफगानिस्तार में प्रचलित था। दिल्ली के तोमर, जालौर, नाडौल एवं शाकम्बरी के चाहमान तथा कन्नौज के गहड़वालों द्वारा इसी ढंग के सिक्के चलाये गये।

इन मुख्य प्रकारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं अन्य प्रतीक भी अपनाये गये। चंदेलवंश के सलक्षणवर्मन् (ई0सन् 1100 से 1115) की ताम्रमुद्राओं पर सर्वप्रथम हनुमान का अंकन दिखता हैं इसका अनुकरण इसी वंश के जयवर्मा, पृथ्वीवर्मा, मदनवर्मा, रतनपुरि के कलचुरि नरेश जाजल्यदेव तथा पृथ्वीदेव के ताम्र सिक्कों पर किया गया है। रतनपुरि के कलचुरि नरेश के सोने के सिक्कों पर सर्वप्रथम 'गजशार्दूल' के नवीन प्रतीक को अपनाया गया है। अन्य कुछ चित्र यथा बछड़ों को दूध पिलाती गाय, शिवलिंग के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता मानव आदि भी कुछ सिक्कों पर प्राप्त होते हैं।

इस समय के सिक्के पूर्वकाल के सिक्कों की अपेक्षा कम वजन के हैं। प्राचीनकाल में सोने के सिक्के सामान्यतः 120 ग्रेन के आसपास के वजन के थे। इस समय के सुवर्ण सिक्के 60 ग्रेन के लगभग वजन के है। वजन की यह कमी चांदी एवं तांबे के सिक्कों में भी दृष्टव्य है। लल्लन जी गोपाल इस समय के सिक्कों को दो समान्तर प्रणालियों के अनुकरण पर निर्मित बताते हैं। एक ग्रीक ड्रेक्म की 67.5 ग्रेन की वजन प्रणाली, जिसका अनुकरण ज्यादातर सोने, चांदी एवं तांबे के सिक्कों में किया गया है। दूसरा भारतीय पारम्परिक 32 रत्ती या 58.6 ग्रेन की वजन प्रणाली। कहीं-कहीं इसको भी अपनाया गया है।

सिक्कों पर विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बंधित चिह्न मिलते हैं। लक्ष्मी तथा आदिवराह अंकन का सम्बन्ध वैष्णव सम्प्रदाय, शिवलिंग, बैल जो शिव का वाहन था के अंकन को शैव सम्प्रदाय से जोड़ा जा सकता हैं। बंगाल में मुण्डमाला धारी (बिन्दु माला को ज्यादातर विद्वान् मुण्डमाला मानते हैं) अष्टभुजी देवी की आकृति युक्त सिक्के वहाँ शाक्त धर्म के प्रचलन की सूचना देते हैं।

इस समय विभिन्न क्षेत्रों में सामान्यतया अपनी एक विशिष्ट मुद्रा प्रणाली का प्रचलन था। काश्मीर में मुख्यतः ताम्रमुद्रा परम्परा थी एवं कुषाण प्रकार का अंकन अभिप्राय सिक्कों पर अपनाया गया था। जबकि बंगाल में इस काल के प्रारम्भिक कुछ राजाओं द्वारा गुप्तप्रकार के अंकन वाली मुद्रायें जारी की गयी थीं। यहाँ कौड़ियाँ, स्वर्ण एवं रजत धूल एवं हरिकेल सिक्के भी विनिमय का एक प्रमुख माध्यम थे। हूणों, पश्चिमी, मध्य क्षेत्र, उत्तर प्रदेश एवं बिहार के कुछ राजाओं द्वारा गधिया प्रकार के सिक्के चलाये गये। तोरमाण की कुछ चांदी की मुद्रायें गुप्तों के मयूर प्रकार की (मध्यदेशीय शैली की) मुद्राओं का अनुकरण करती है। कन्नौज के मौखरी एवं वर्धन वंश की चांदी मुद्रायें इसी प्रकार की हैं। कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार वंश में भोज एवं उसके पौत्र विनायकपाल की इण्डोसासानी प्रकार की मुद्रायें हैं जबकि कन्नौज के गोविन्द चन्द्र गहड़वाल ने, कलचुरिनरेश गांगेयदेव की बैठी लख्मी प्रकार की स्वर्ण मुद्राओं के अनुकरण पर अपनी स्वर्ण एवं ताम्र मुद्रायें चलायी।

त्रिपुरी के कलचुरि नरेश गांगेयदेव के सिक्कों पर बैठी लक्ष्मी प्रकार के

अंकन को सर्वप्रथम अपनाया गया। इसने सोने, चांदी एवं तांबे तीनों धातु की मुद्रायें चलायीं। इसकी मुद्रा व्यवस्था को कनिंघम ने पूर्ण मुद्रा व्यवस्था कहा है। रतनपुरि के कलचुरि नरेशों एवं चन्देल नरेशों की मुद्राओं में भी। इस प्रकार का अंकन है। उत्तर पश्चिम भारत काबुल क्षेत्र में बैल एवं घुड़सवार प्रकार की, सामंतदेव, स्पालपतिदेव, भीमदेव आदि लेख युक्त मुद्रायें मिली हैं। 'सामंतदेव' शब्द का अनायास अनुकरण परवर्ती कुछ राजपूत नरेशों द्वारा किया गया।

हम इस समय सुवर्ण सिक्कों में प्राचीन भारतीय सुवर्ण मानक की जगह युनानी द्रम्म मानक (67.5 ग्रेन) का प्रयोग पाते हैं।

इस प्रकार पूर्वमध्यकाल में व्यापार एवं सिक्कों की दशा में प्राचीन काल से प्रारम्भिक काल परिवर्तन दिखता है। व्यापार एवं सिक्कों के अध्ययन से पूर्वमध्यकालीन आर्थिक प्रवृत्तियों को सम्यक् रूप से जाना जा सकता है। आर्थिक प्रवृत्तियाँ तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होती है तथा स्वयं भी इनको प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं। व्यापार एवं सिक्के आर्थिक जीवन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू हैं।

⌘

सहायक ग्रंथ सूची

(क) मूलग्रन्थ

अमरचन्द्र : काव्यकल्पलता वृत्ति, जगन्नाथ शास्त्री सम्पादित, वाराणसी, 1931.

आपस्तम्ब : आपस्तम्ब धर्मशास्त्र, अनु० जी० ब्यूलर, भाग 2, पुनःसंस्करण, दिल्ली 1965.

आचार्य, बलदेव उपाध्याय (सम्पादित) : अग्निपुराण, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1966, राजेन्द्रलाल मित्रा सम्पादित, बिब्लिआथिका इंडिका, दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, भाग 3, 1879.

आचार्य नेमिचन्द्र : आख्याणकमणिकोश, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, 1962

आचार्य पी०के० (संपादित) : मानसार, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934

आप्टे, विनायक जी० : स्मृतिनाम समुच्चय

अपरार्क : याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका, दो भाग, पूना 1903, 1904

भविष्यपुराण : क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

बाणभट्ट : हर्षचरित, कॉवेल व टामस अनुवादित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1961, पी०वी० काणे सम्पादित प्रथम संस्करण, बम्बई, 1918

बल्लाल : भोज प्रबन्ध, जे० एल० शास्त्री सम्पादित एवं अनुवादित, पटना, 1962

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र : एफ०डब्ल्यू० टामस सम्पादित, लाहौर 1921

भट्टाचार्य, बी० (सम्पादित) : साधनमाला (2 भागों में) बड़ौदा, 1925, 1938

बालचन्द्र : बसन्तविलास, सी०डी० दलाल द्वारा सम्पादित, गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज, 10 बड़ौदा,

बुद्धस्वामिन् वृहत्कथाश्लोक संग्रह, पी0के अग्रवाल एवं वी0एस0 अग्रवाल द्वारा सम्पादित बनारस, 1974

भास्कराचार्य : लीलावती, एच0सी0 बनर्जी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता 1893

श्रीरामशर्मा (सम्पादित) : भविष्य पुराण, हिन्दी अनुवाद एवं संपादन श्री रामशर्मा द्वारा 2भागों में, बम्बई द्वितीय संस्करण बरेली, 1923 ब्रह्माण्ड पुराण, बरेली, 1967

वृहस्पति : वृहस्पति स्मृति, अनु0 जे जॉली द्वारा, भाग 33, ऑक्सफोर्ड, 1889, पुनर्प्रकाशित दिल्ली, 1965

भुवनदेव : अपराजित पृच्छा, पी0ए0 मान्कड् सम्पादित, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1950

भोज : समरागण सूत्रधार, टी0 गणपति शास्त्री सम्पादित (दो भागों में) बड़ौदा, 1924, 1925 युक्तिकल्पतरू, ईश्वरचन्द्र शास्त्री सम्पादित, कलकत्ता 1917

भवदेव भट्ट : प्रायश्चित प्रकरण, गिरीशचन्द्र वेदान्ततीर्थ सम्पादित, राजशाही, 1927

बिल्हण : विक्रमांकदेव चरित, जी0 व्यूहलर सम्पादित, बंबई संस्कृत (एण्ड प्राकृत) सीरिज, बम्बई (एण्ड पूना)

भागवतपुराण : गोरखपुर, वि0सं0 2010

ब्रह्मवैवर्त पुराण : जीवानन्द विद्यासागर संपादित, कलकत्ता, 1888

वृहन्नारदीय पुराण : सम्पादित एच0 शास्त्री द्वारा कलकत्ता, 1891

चन्दबरदाई : पृथ्वीराजरासो, एम0बी0 पांडिया, श्यामसुन्दर दास, बनारस, 1913

चण्डेश्वर : गृहस्थरत्नाकर, बिब्लिआथिका इंडिका (बि0इ0) द्वारा प्रकाशित, कृत्यरत्नाकर, प्रका0 18 इ0 1925, कोमलकृष्ण स्मृति तीर्थ सम्पादित, राजनीति रत्नाकर, के0पी0 जायसवाल सम्पादित, बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, 1936

दामोदर : कुट्टनीमत्त, एम0 कौल द्वारा सम्पादित कलकत्ता 1944

दण्डिन् : दशकुमारचरित, अंग्रेजी अनुवाद एम0आर0 काले द्वारा, दिल्ली, 1966

देवणभट्ट : स्मृतिचंद्रिका, जे0आर0 घपुरि सम्पादित, बम्बई, 1918

देवलस्मृति : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना

दामोदर पण्डित : उक्तिव्यक्तिप्रकरण, जिनविजयमुनि द्वारा सम्पादित, सिन्ही जैन सीरिज, 39 बम्बई, 1903

धनपाल : तिलकमंजरीकथा, बम्बई, 1903, भविष्यत्कथा, सी0डी0 दयाल एवं वी0डी0 गुने द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, 1893

धोयी : पवनदूतम्, चिंताहरण चक्रवर्ती संपादित, कलकत्ता 1926

गोवर्धनाचार्य : आर्यासप्तशती, निर्णयसागर प्रेस, 1895

गरूणपुराण : रमाशंकर भट्टाचार्य, सम्पादित वाराणसी 1964

हरिभद्रसूरि : समराइच्चकथा, एच0 जैकोबी सम्पादित, कलकत्ता, 1932 : भगवानदास सम्पादित, अहमदाबाद 1942

हरिषेण : वृहत्कथाकोश, एच0एन0 उपाध्याय, संपादित, बम्बई, 1943

हेमचन्द्र : त्रिशाष्टिश्लाकापुरुषचरित (6 भाग में) भावनगर, 1905–09, जॉनसन का अंग्रेजी अनुवाद (4 भागों में) बड़ौदा, 1931, 1949, 1954
कुमारपालचरित, प्रथम संस्करण पी0एल0 वैद्य, पूना, 1936, इयाश्रयकाव्य, ए0पी0 कठवते (2 भागों में) बम्बई, 1915, 1921
परिशिष्टपर्वन्, एच0 जैकोबी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1883

हेमाद्रि : चतुर्व्वर्गचिन्तामणि, दो भाग, भरतचन्द्र शिरोमणि सम्पादित, वि0इ0

जल्हण : सुक्तिमुक्तावली, बड़ौदा, 1938

जयानक : पृथ्वीराजविजय, जी0 एच0 ओझा संपादित अजमेर, 1940

जयसिंह सूरी : हम्मीरमानमर्दन, बड़ौदा, 1920, वस्तुपालतेजपाल प्रशस्ति, सी0डी0 दलाल सम्पादित, गायकवाड़ ओरियण्टल सोसाइटी, 10, बड़ौदा, 1920
कुमारपालचरित महाकाव्य, बम्बई, 1926

जिनहर्ष गनी : वस्तुपालचरित, कीर्तिविजयमुनि अहमदाबाद, 1941

जिनसेन : आदिपुराण, पन्नालाल जैनकृत, हिन्दी अनुवाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, (दो भाग) काथी, 1963–65

जीमूतवाहन : दायभाग, जीवानन्द संपा0 कलकत्ता 1893, अंग्रेजी अनु0 कोलब्रुक, कलकत्ता, 1910
कालविवेक, कलकत्ता, 1905, व्यवहारमातृका, ए0मुकर्जी संपादित, मैम्रायर्स, ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता

जिनदत्त सूरी : सम्पादित, गायकवाड़ ओरियण्टल, सीरिज, 37 बड़ौदा, 1927, 1967

जिनप्रभसूरी : विविधतीर्थकल्प, जिनविजयमुनि द्वारा सम्पादित, अहमदाबाद एवं कलकत्ता 1934, हिन्दी अनुवाद, ए0बी0 नहटा, मेवानगर, 1978

जिनेश्वरसूरी : कथाकोषप्रकरण, बम्बई 1919

कात्यायन : कात्यायनस्मृति, पी0पी0 काणे का अनुवाद

कर्तारगच्छगुरुवावली : जिनविजयमुनि, सिंही जैन सीरिया न 42, बम्बई, 1938

कल्हण : राजतरंगिणी, दुर्गाप्रसाद संपादित, बम्बई, 1892, अंग्रेजी अनुवाद एम0ए0 स्टाइन, वेस्टमिंस्टर 1900, अंग्रेजी अनुवाद आर0एस0 पण्डित, इलाहाबाद, 1935

कूर्मपुराण : ए0एस0 गुप्ता सम्पादित, काशीराजट्रस्ट, रामनगर, 1972

कृष्णमित्र : प्रबोधचन्द्रोदय, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1904

कौटिल्य : अर्थशास्त्र, वा0 शामशास्त्री, संपादित, मैसूर, 1924, संपादित एवं हिन्दी अनुवाद वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्या भवन, 1970

कुल्कूकभट्ट : मनुस्मृतिभाष्य, बनारस, 1935

कविशेखराचार्य : वर्णरत्नाकर, एस0के0 चटर्जी एवं बाबू मिश्रा द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1940

कुमारिल भट्ट : तंत्रवार्तिक, बनारस संस्कृत सीरिज, 1890, अंग्रेजी अनु0 जी0एन0 झा, कलकत्ता, 1924

चक्रवर्ती, एस0के0 : ऐंश्येण्ट इण्डियन न्यूमिस्मेटिक्स, मेमनसिंह, 1931

क्षेमेन्द्र : वृहत्कथामंजरी, शिवदत्त एवं के0पी0 प्राब द्वारा सम्पादित, बाम्बे, 1931

लोकप्रकाश, जे0डी0 जाडू द्वारा सम्पादित, श्रीनगर, 1947
समयमात्रका, बम्बई, 1925
नर्ममाला, पूना, 1923
देशोपदेश, पूना, 1923
कलाविलास, बम्बई, 1896

लक्ष्मीधर : के0वी0 रंगास्वामी, अयंगर, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा दानकाण्डःगायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज
गृहस्थकाण्ड : गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, 19
नियतकालकाण्ड : गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, 19
राजधर्मकाण्ड : गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, 1940
तीर्थविवेचनाकाण्ड : गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, 1942

लेखपद्धति : ए0डी0 दलाल व श्रीगोण्डेकर, संपादित, बड़ौदा, 1925

महावीराचार्य : गणितसारसंग्रह, सम्पादित एवं अंग्रेजी अनुवाद एम0 रंगाचार्य द्वारा, मद्रास, 1912, हिन्दी अनुवाद एल0सी0 जैन शौलापुर, 1963

मिराशी, वी0वी0 : इन्सक्रिप्शन्स ऑफ द वाकाटकस्, कॉपर्स इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम, भाग 5, अटकामण्ड, 1973

मजूमदार, बी0 पी0 (सम्पादित) : चर्यापद, कलकत्ता, 1967

मनु : मनुस्मृति, वी0एन0 माण्डलिक द्वारा सम्पादित, बम्बई, 1886

मम्मट	:	काव्यप्रकाश, बम्बई संस्कृत सीरिज, 1917
मेधातिथि	:	मनुस्मृति पर भाष्य, जी0एन0 झा संपादित, बनारसीदास, 1883 (संस्करण)
मत्स्यपुराण	:	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना, 1907, रामप्रसाद त्रिपाठी का हिन्दी अनुवाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
मनुस्मृति	:	जे0एल0 शास्त्री, सम्पादित, मोतीलाल बनारसी दास, 1983 (संस्करण)
मेदिनीकोश	:	कलकत्ता, 1884
मित्रमिश्र	:	वीरमित्रोदय, राजनीतिप्रकाश व संस्कारप्रकाश, चौखम्बा संस्कृत सीरिज
मेरुतुंग	:	प्रबंधचिंतामणि, एच0पी0 द्विवेदी सम्पादित व अनुवाद, 1904
नेमिचन्द्र सूरी	:	हम्मीरमर्दनमहाकाव्य, एम0जे0 कीर्तने द्वारा सम्पादित, बम्बई, 1879
नरपतिनाल्ह	:	वीसलदेवरासो, एम0पी0 गुप्ता एवं ए0सी0 नाथ सम्पादित, 1953
नीलमतपुराण	:	के0डी0 व्रीज सम्पादित, लीडेन, 1936
नीलकण्ड	:	दानमयूख, चौखम्बा संस्कृत सीरिज
पुरातन प्रबंध संग्रह	:	जिनविजयमुनि सम्पादित, सिंधी जैन सीरिज, कलकत्ता, 1136
पद्मगुप्त	:	नवसाहसांकचरित, बम्बई संस्कृत सीरिज, 1895
पाणिनी	:	अष्टाध्यायी, निर्णयसागर प्रेस, 1929
प्रभाचन्द्र	:	प्रभावकचरित, एच0एम0 शर्मा सम्पादित
पद्मपुराण	:	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, 1893
राजशेखर	:	कर्पूरमंजरी, कैम्ब्रिज, 1901 काव्यमीमांसा, बड़ौदा, 1934
राजतरंगिणी	:	कल्हण, अनु0 एम0ए0 स्टेन, बेस्टीमानेस्टर, 1900

~~1900~~

सोमदेव : कथासरित्सागर, टॉनीपेंजर, (अनु0 व संपा0) 10 भागों में, हिन्दी अनुवाद केदारनाथ शर्मा, पटना (बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्) 1960

सोमेश्वर : मानसोल्लास (2 भागों में) बड़ौदा, 1925, 1939

सोड्ढल : उदयसुन्दरीकथा, सी0डी0 दलाल व कृष्णमाचार्य (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज) 11 बड़ौदा, 1920

शिवपुराण : पंचानन तर्करत्न, संपादित, प्रकाशन बंगवासी प्रेस

सिद्धर्षिसूरि : उपमितिभवप्रपंचकथा, पीटर्सन व जैकोबी सम्पादित, कलकत्ता, देवचन्द, लालभाई-संस्करण, बम्बई, 19-20

स्कन्दपुराण : बेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन

सोमदेव प्रभाचार्य : कुमारपाल प्रतिबोध बड़ौदा, 1920

संध्याकरनन्दी : रामचरित, मजूमदार, बसाक व बनर्जी सम्पादित, राजशाही, 1939

साधनमाला : बी0 भट्टाचार्य संपादित, गायकवाड़ ओरियंट्ल सीरिज

सर्वानन्द : जगडूचरित, सम्पादित जी0 ब्यूलर द्वारा भारतीय स्टडीज

संघदासगनी : वासुदेवहिन्दी, चतुरविजयमुनि एवं पुष्यविजयमुनि द्वारा सम्पादित, प्रथम खण्ड, भावनगर, 1930-31

श्रीधर : गणितसार, रामानुजाचार्य व जी0आर0 कये संपादित, लिपजिंग, 1913

श्रीधरदास : सदुक्तिकर्णामृत, आर0 शर्मा संपादित

श्रीहर्ष : नैषधचरित, शिवदत्त, बम्बई, 1919, अंग्रेजी अनुवाद, के0के हेडिक, पूना, 1956

शुक्र : शुक्रनीतिसार, जीवानन्द विद्यासागर, संपादित, अंग्रेजी अनुवाद, बी0के0 सरकार, पाणिनि आफिस इलाहाबाद, 1914

उपकेशगच्छापट्टावली : अनुवाद ए0एफ0 आर0 होरनील द्वारा इण्डियन एण्टीक्वेरी, 19, 1890, पृ0 233-42

उद्योतनसूरि : कुवलयमाला कथा, ए0एन0 उपाध्याय संपादित, बम्बई, 1959

वाक्पति : गौड़वहो, एन0बी0 उत्गिकर संपादित, पूना, 1927

विश्वरूप : याज्ञवलक्यस्मृति पर टीका, टी0 गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1922-24

वल्लालसेन : दानसागर, बी0 भट्टाचार्य संपादित, बिब्लिआथिका इंडिका, 1953-55

वराहमिहिर : वृहत्संहिता, बंगलौर, 1947

विज्ञानेश्वर : मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृति-भाष्य) निण्रयसागर प्रेस, 1926

वस्तुपाल संग्रह : पुण्यविजयसूरी सम्पादित, सिंधी जैन समाज, 5 बम्बई, 1961

यादव प्रकाश : बैजयन्ती, गुस्ताव द्वारा संपादित 1893

यशःपाल : मोहराजपराजय, बड़ौदा, 1918

(ख) प्राचीन कोश

अजयपाल : नानार्थ संग्रह, टी0आर0 चिंतामनि सपादित, मद्रास यूनिवर्सिटी, 1937

अमरसिंह : अमरकोश, पं0 विष्णुदत्त शर्मा सम्पादित, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, 1929

धनंजय : नाममाला : एस0एन0 त्रिपाठी संपादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1950

हेमचन्द्र : अभिधानचिंतामणि, मुनिजिनविजय सम्पादित, यशोविजय जैन ग्रंथिमाला, 42, बड़ौदा, 1920
अनेकार्थ संग्रह : बम्बइ 1893
देशीनाममाला : मुरलीधर बनर्जी सम्पादित (भाग एक) कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1931

हलायुध : अभिधानरत्नमाला, टी0 और फ्रेच, पुनमुद्रित, लाहौर, 1928

माधवाकर : पर्यायरत्नमाला, टी0 चौधरी संपादित पटना यूनिवर्सिटी जर्नल, जिल्द दो, 1945-46

शाश्वतकोश : कृष्णजी गोविन्द औक, पूना प्रथम संस्करण

विद्याकर : सुभाषितरत्नरत्नकोश, डी0डी0 कौशाम्बी व वी0वी0 गोखले सम्पादित, हषवर्ड ओरियंटल सीरिज, 1957

यादव प्रकाश : वैजयन्ती, गुस्तव ओप्पेर्ट, मद्रास, 1893

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज, न्यूयार्क 1957

इनसाइक्लोपीउिया ऑफ रीलिजन एण्ड इथिक्स, भाग 11, जेम्स एण्ड हेस्टिंग्स संपादित, न्यूयार्क, 1958

(ग) विदेशी विवरण

बील0 एस0 : अनुवाद, सि0यु0कि, बुद्धिस्ट रिकॉर्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, अनुवाद चीनी ह्वेनसांग के विवरण से, दो खण्ड, पुनर्प्रकाशित, नयी दिल्ली 1983
ट्रेवेल्स ऑफ फाह्यान एण्ड सुंगयुन, चीनियों से अनुवाद, प्रथम प्रकाशन, 1869 द्वितीय संस्करण कलकत्ता, 1964

इलियट, एच0एम0 एण्ड डाउसन, जे0 : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एस टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, 8 खण्ड लन्दन, 1866-77

फरिश्ता : तारीख–ए–फिरिश्ता, अंग्रेजी अनु0जे0 बिडस, कलकत्ता, 1911

फार्रेण्ड, जी0 : वायेज टू मर्चेण्ट अरेब सुलेमान एन इण्डे इट इन चाइना, पेरिस, 1922

गिब, एच0ए0आर0 : अनुवाद, इब्नबतूता, ट्रेवल्स इन एशिया एण्ड अफ्रीका, लन्दन 1929, पुनप्रकाशित नयी दिल्ली, 1986

हर्थ, एफ एण्ड रॉकहिल, उब्ल्यू0 डब्ल्यू0 : अनुवाद, चाऊ, जु–कुआः सेण्ट पीटर्स वर्ग, 1911

होदीवाला, एस0एस0 : स्टडीज इन इण्डो–मुस्लिम हिस्ट्री, बम्बई, 1939

हुसैन, मेहदी : अनुवाद, द रेहला ऑफ इब्नबतूता, गायकवाड़ ओरियण्टल सोसाइटी, 122, बड़ौदा, 1953, 1976

मैकक्रिनडेल, जे0, डब्ल्यू : सम्पादित एवं अनुवादित, द कॉमर्स एण्ड नैविगेशन ऑफ इरीथ्रियन सी, कलकत्ता, 1973
(पेरिप्लस ऑफ द इरीथ्रियन सी का अनुवाद)

रैवर्टी, एच0जी0 : मिनहाज–उद्–दीन की तबकाते नासिरी का अनुवाद, खण्ड–दो, कलकत्ता, 1873–97, पुनर्प्रकाशित, नई दिल्ली, 1970

रेनदात : ऐंशियण्ट एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया एण्ड चाइना बाइ टू मोहम्मेडन टेवलर्स (सुलेमान एण्ड अबुजैद) लन्दन, 1733

रांएरिक, जी0 : बायोग्राफी ऑफ धर्मस्वामी, के0पी0 जायसवाल, रिसर्च इंस्टीट्टूय पटना, 1959

सचाऊ, ई0सी0 : अलबरूनीज इण्डिया, फर्स्ट इण्डियन दि प्रिन्ट, 1964, एस0चन्द्र एण्ड कम्पनी, न्यू देहली

टॉगन, ए0 जे0 वी0 (सम्पादित) : बरूनीज पिक्चर ऑफ द वर्ल्ड, मेमोरीज ऑफ द आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 53 दिल्ली 1937

वाटर्स, टी० : अनुवाद, ऑन युयानच्वांगस ट्रेवेल्स इन इण्डिया, रीस् डेविड्स एवं बुशैल द्वारा सम्पादित, दो खण्ड, लन्दन, 1904–5, नयी दिल्ली, 1973

युले, एच एण्ड एच० कॉरडियर : अनुवाद एवं सम्पादन, द बुक ऑफ सर मार्कोपोलो, दो खण्ड, एम्सटरडम, 1975

(घ) अभिलेख

आचार्य, जी० वी० (सम्पादित) : हिस्टॉरिकल इन्सक्रिप्शन्स ऑफ गुजरात, खण्ड 3, बम्बई, 1933–38

भण्डारकर, डी० आर० : लिस्ट ऑफ इंसक्रिप्शंस ऑफ नार्दन इण्डिया, ऐपेंडिक्स टू एपि० इंडि० भाग 19–23

भट्टाचार्य, पद्मनाथ (सम्पादित) : कामरूप शासनावली, रंगपुर साहित्य परिषद्, 1931

ब्यूलर, जी (सम्पादित) : इलैवन लैण्ड ग्रान्ट्स ऑफ चालुक्याज ऑफ अन्हिलवाड़, इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग 6, पृ० 180–214

चौधरी, आर० के० (सम्पादित) : सेलेक्ट इन्सक्रिप्शंस ऑफ बिहार, पटना, 1938

दीक्षित, एम०जी० : सेलेक्टेड इन्सक्रिप्शनस् फाम महाराष्ट्र (5 से 12वीं शता० ई०) पूना, 1947

द्विवेदी हरिनिवास (सम्पादित) : इन्सक्रिप्शन्स ऑफ सिलाहारर्स, कार्पस इन्सक्रिप्शंस इनडिकेरम भाग 6, नयी दिल्ली, 1977

इन्सक्रिप्शन्स ऑफ द कलचुरि चेदि द्वारा, कार्पस इन्सक्रिप्शंस इनडिकेरम, भाग 4, 2 खण्ड, अटकमण्ड, 1955

फ्लीट, जे0एफ0 : कार्पस इन्शक्रिप्सन, इण्डिकेरम, भाग 3

मजूमदार, एन0जी0 (सम्पादित) : इंसक्रिप्शन्स ऑफ बंगाल, 3 राजशाही, 1929

मैटी एस0 के एवं मुकर्जी आर0 आर0 : कार्पस ऑफ बंगाल इंसक्रिप्शंस, 1967

पीटरसन, पी0 : ए कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्सक्रिप्शंस, भावनगर 1905

पाण्डेय राजबली : हिस्टॅारिकल एण्ड लिटरेरी इंसक्रिप्शन्स, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, 1962

सरकार, डी0सी0 (संपादित) : सेलक्ट इन्सक्रिप्शंस बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सीविलाइजेशन, भाग एक, कलकत्ता, 1942, भाग दो, दिल्ली, 1983, इपिग्राफिकल, ग्लोसरी इण्डियन इपिग्राफी, वाराणसी, 1963

अर्ली इंसक्रिप्शंस, जिल्द एक 1931 मद्रास

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली

इण्डियन एन्टीक्वेरी

एपिग्राफिया इण्डिका

एनुअल रिपोर्ट ऑफ दि आर्केलाजिकल सर्वे कैटलॉग ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इंसक्रिप्शंस 2

जैनशिलालेख संग्रह जिल्द 2, जैन ग्रन्थमाला, हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शंस फ्राम गुजरात, जिल्द

(च) द्वितीयक ग्रन्थ

आचार्य, जी0 वी0 : हिस्टरी ऑफ क्वाइनेज इन गुजरात प्रोसिडिंगस एण्ड ट्रांजेक्शन्स ऑफ ऑल इण्डिया ओरियण्टल कांफ्रेंस, 7, बड़ौदा, 1933, पृ0 689-702

आचार्य, पी0 के0 : मानसार, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1964

अग्रवाल, वी0 एस0 : हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन पटना, 1964

अग्रवाल, आर0 सी0 : 'न्यूमिस्मैटिक डाटा इन गणितसार' ज0न्यू0सो0इ0, 20, भाग एक, 1958, पृ0 38-41

लिटरी इविडेन्स फार द क्वाइनेज ऑफ मेवाड़ (दसवीं से सतरहवीं शता0) ज0न्यू0सो0इ0, 20, भाग एक, 1958, पृ0 15-25,

रूपक्का-ए क्वाइन डेनोमिनेशन, ज0न्यू0सो0इ0, 19, भाग 2, 1957, पृ0 115-20

द्रम्म इन एनशियेण्ट इण्डियन एपिग्राफस एण्ड लिटरेचर, ज0न्यू0सो0इ0, 17, भाग 2, 1955, पृ0 64-82

एलन जे0 : कैटलाग ऑफ द क्वाइन्स ऑफ एनशियेण्ट इण्डिया (इन द ब्रिटिश म्यूजियम) लन्दन 1936, पुनर्प्रकाशित, नयी दिल्ली, 1975

कैटलॉग ऑफ क्वांइस ऑफ द गुप्त डाइनेस्टी एण्ड अदर्स इन द ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन, 1914

आयंगर, के0वी0आर0 : आस्पेक्टस ऑफ एनशियेण्ट इण्डियन इकोनॉमिक थॉट्स, बनारस, 1934, इण्ट्रोडक्शन टू व्यवहारकाण्ड ऑफ कृत्यकल्पतरू ऑफ लक्ष्मीधर, बड़ौदा, 1958

अवस्थी, ए0बी0एल0 : राजपूत पॉलिटिक्स, वाराणसी, 1964

अहमद, इब्नमाजिद : अरब नेविगेशन इन द इण्डियन ओशियन बिफोर द कमिंग ऑफ द पुतगीज, लन्दन 1971

इब्नमकबूल : इण्डो-अरब रिलेशन : एन एकाउण्ट ऑफ इण्डियाज रिलेशंस विथ द अरब वर्ल्ड फ्राम एनशियण्ट अप टू मार्डन टाइम्स बम्बइ, 1969, कॉमर्शियल रिलेशंस ऑफ इण्डिया विथ द अरब वर्ल्ड, इण्डियन कल्चर, 2, 1964, पृ0 141-56

वर्ल्ड, इण्डियन कल्चर, 2, 1964, पृ0 141-56

अलतेकर, ए0एस0 : द राष्ट्रकूट्स एण्ड देयर टाइम्स, पूना 1934
गुप्तकालीन मुद्रायें, वाराणसी, 1957
ए हिस्ट्री ऑफ इम्पॉर्टेण्ट टाउन्स एण्ड सिटीज इन गुजरात एण्ड काठियावाड़ (शुरू से 13वीं शता0 ई0 तक) बम्बई, 1926
द रिलेटिव प्राइसेज ऑफ मैट्लस एण्ड क्वाइंस इन एनशियेण्ट इण्डिया जू0न्यू0सो0इ0, 2 पृ0 1-14
ओरिजन एण्ड अर्ली हिस्ट्री ऑफ क्वाइनेज इन एनशियण्ट इण्डिया, जू0न्यू0सो0इ0, 15 1, 1953 पृ0 1-26

एण्डरसन, प्रेरी : पैसेज फाम एन्टीक्विटी टू क्यूडलिज्म लण्डन, 1974

बर्न, बी0 : क्वायंस ऑफ मौखरी एण्ड मानीसिलिंग

बनर्जी, आर0डी0 : प्राचीन मुद्रा, कलकत्ता, 1920

ब्राउन, सी0जे0 : क्वायंस ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, 1922
क्वायंस कैलेक्टिंग इन नार्दन इण्डिया, 1894
कैटलाग ऑफ क्वाइन्स इन द गवर्नमेण्ट म्यूजियम लाहौर, 1891

बाशम, ए0एल0 : द वण्डर दैट वाज इण्डिया, संस्करण तीसरा, लन्दन, 1967

भण्डारकर, डी0आर0 : कारमाइकल लेक्चर्स ऑन एनशियण्ट इण्डियन न्यूमिसमैटिक्स, कलकत्ता, 1921

बाजपेयी, के0डी0 : भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा, 1951

बजे0 पी0वी0 : एनशियण्ट एण्ड मैडिवल टाउन प्लानिंग इन इण्डिया, नयी दिल्ली, 1978

भाटिया, पी0 : द परमार्स (ईस्वी सन् 800 से 1305) नयी दिल्ली, 1970

बोस, एन0एस0 : हिस्ट्री ऑफ द चन्देल्स् ऑफ जेजाकभुक्ति, कलकत्ता, 1956

बुद्ध प्रकाश : एन ऐथ सेन्चुरी इण्डियन डाक्यूमेण्ट ऑन इण्टरनेशनल ट्रेड, मद्रास, 1970, पृ0 32-52, एस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, आगरा, 1965

बरूआ, बी0के0 : ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ असम, जिल्द 1, 1951 (नौगांव असम)

बन्दोपाध्याय, आर0 डी0 : प्राचीन मुद्रा, आर0सी0 वर्मा द्वारा अनुवादित, काशी 1981 (हिन्दी)

बन्दोपाध्याय, एन0सी0 : इकोनॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एनशियण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1925

बेडेनपावेल : द इण्डियन विलेज कम्युनिटी, लन्दन, 1896

बरूआ, के0एल0 : अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप, शिलांग, 1933

बामजाई, पी0एन0के0 : हिस्ट्री ऑफ काश्मीर, दिल्ली, 1962

बर्नेट, एल0डी0 : एण्टीक्वीटिज ऑफ इण्डिया, लन्दन, 1913, कल0 1964

ब्यूलर : लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य, हिन्दी अनुवाद कस्तूरमल बेन्थिया, हेमचन्द्राचार्य जीवनचरित (हिन्दी) वाराणसी, 1967

बर्गेस, जे0ए0एस0 : एसेज इन इकोनॉमिक हिस्ट्री, खण्ड एक, लन्दन, 1954

चट्टोपाध्याय, बी0डी0 : क्वायंस एण्ड करेंसी सिस्टम्स इन साउथ इण्डिया (ई0 सन् 225 से 1300) नयी दिल्ली, 1978

ट्रेड एण्ड अर्बन सेण्टर्स इन अर्ली मेडिवल नार्थ इण्डिया, द इण्डियन हिस्टॉरिकल रिब्यू, 1, 2, 1974, पृ0 203-19

इररीगेशन इन अर्ली मेडिवल राजस्थान, जे0इ0एस0एच0ओ0 16, 1973, पृ0 298–316

अर्बन सेण्टर्स इन अर्ली मेडिवल इण्डिया सब्यसाची भट्टाचार्या एवं रोमिला थापर द्वारा सम्पादित 1986

चट्टोपाध्या, ब्रजदुलाल : दे मेकिंग ऑफ अर्ली मेडिवल इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1994

चक्रवर्ती चिन्ताहरन : द तन्त्र स्टडीज इन देयर रिलिजन एण्ड लिटरेचर्स, कलकत्ता, 1963 जैन संस्कृति महाकाव्यों में भारतीय समाज, दिल्ली 1989

चौधरी, के0एन0 : ट्रेड एण्ड सिविलाइजेशन इन इण्डियन ओशियन, एन इकोनॉमिक हिस्ट्री फ्राम द राइस ऑफ इस्लाम टू 1750, न्यू देहली, 1985

चंद मोहन : जैन संस्कृत महाकाव्य में भारतीय समाज, दिल्ली, 1989

चंद, आर0पी0 : द इण्डो–आर्यन रेसज राजशाही, 1916

चित्विक, नेविले : इण्डियन रिलेशन्स विथ ईस्ट अफ्रीका बिफोर द एराइवल ऑफ पुर्तगीज, जे0आर0ए0एस0 1980, पृ0 117–27

चौधरी, ए0के0 : अर्ली मेडिवल विलेज इन नार्थइस्टर्न इण्डिया (ईस्वी सन् 00–1200) कलकत्ता, 1871

चौधरी, जी0सी0 : पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज (ईस्वी सन् 650–1300 तक) अमृतसर, 1963

चौधरी, आर0के0 : इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ एनशियण्ट इण्डिया, दिल्ली 1982

कनिंघम, ए0 : क्वायंस ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन, 1894

क्वायंस ऑफ एनशियण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1863

ऐनशियेण्ट क्वाइनेज ऑफ काश्मीर, लन्दन, 1843

दास, बी0एस0 : स्टडीज इन द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा फ्राम एनशियेण्ट टाइम्स टू 1833, कलकत्ता, 1978

दास शुक्ला : सोशियो इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, (ई0 सन् 550 से ई0 सन् 650), नयी दिल्ली, 1980

देयल, जॉन्स : लिविंग विदाउट सिल्वर, द मॉनिटरी हिस्ट्री ऑफ अर्ली मेडिवल नार्थ इण्डिया, नयी दिल्ली, 1990

दीक्षित, भारती : मोबोलिटी इन एनशियण्ट इण्डिया, शोध प्रबंध डि0फिल0, इला0वि0, 1978

दिस्कालकर, डी0 बी0 : गधिया क्वाइंस विथ हार्समेन रिवर्स जे0न्यू0सो0इ0, 8, 1946, पृ0 66-71

दीवाकर, आर0 आर0 (संपादित) : विहार थ्रू एजेज, कलकत्ता, 1958

दासगुप्ता व डे : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (क्लासिकल पीरियड) कलकत्ता, 1047

फर्बिस, के0 : रासमाला, एच0जी0 रॉलिंसन, संपादित, 1924

फिक0 आर0 : दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्टर्न इंडिया, कलकत्ता, 1920

गोटेन, एस0डी0 : स्टडीज इन इस्लामिक हिस्ट्री एण्ड इन्स्टीट्यूशन, लीडेन, 1966

: लेटर्स एण्ड डाक्यूमेण्ट ऑन इण्डियन ट्रेड इन मेडिवल टाइम्स, इण्डियन कल्चर, 2, 3 पृ0 188-205

गांगुली, डी0सी0 : हिस्ट्री ऑफ परमार डायनेस्टी, ढाका, 1933

गांगुली, एम0 : उड़ीसा एण्ड हर रिमेन्स, कलकत्ता, 1912

गांगुली, ओ0सी0 : दि आर्ट ऑफ चन्देलज, कलकत्ता, 1957

गोपाल, लल्लनजी : द इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, (ईस्वी सन् 700-1200) दिल्ली, 1965
अर्ली मेडिकल क्वाइन-टाइप्स ऑफ नार्दन इण्डिया, वाराणसी, 1966

गुप्ता, पी0एल0 : क्वायन्स, दिल्ली, 1969

घुर्रे, जी0एस0 : कास्ट एण्ड क्लाम इन इण्डिया, बम्बई, 1957

गुप्ता, चित्रलेखा : द हॉर्स ट्रेड इन नार्थ इण्डिया, सम रिफलेक्शन्स ऑन सोशियो इकोनॉमिक लाइफ, जे0ए0आई0एच0 14, 1983-84, पृ0 186-206

गोखले, बी0जी0 : द मर्चेन्ट इन एनशियण्ट इण्डिया, जे0ए0ओ0एस0, भाग 2, 1977, पृ0 125-30

हबीब, इरफान : ए एरिगेशन सिस्टम ऑफ मुगल इण्डिया, बम्बई, 1963

हबीबुल्ला, ए0वी0एम0 : फाउण्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, लाहौर, 1945

हैडिक, के0क0 : यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, शोलापुर, 1949

हाजरा, आर0सी0 : स्टडीज इन पुराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1940

हाल, केन्नीथ आर0 : ट्रेड एण्ड स्टेटक्राफ्ट इन द एज ऑफ द चोलाज, नयी दिल्ली, 1980

हेन्डी, माइकेल : स्टडीज इन द मॉनिटरी इकोनॉमी इन द बैंजामिन इम्पायर सी0 300-1450, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985

हॉयकिन्स कीथ : कॉन्क्वेरर्स एण्ड स्लेवस्, कैम्ब्रिज, 1978

जैन, बी0के0 : ट्रेड एण्ड ट्रेडर्स इन वेस्टर्न इण्डिया (ए0डी0 1000–1300), दिल्ली, 1990

जायसवाल, सूवीर : ओरिजन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ वैस्नविजम, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1981

जयशंकर मिश्र : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, वाराणसी, 1974

जैन, जे0सी0 : लाइफ इन ऐशियण्ट इंडिया एज डेपिक्टेड इन जैन कैनन्स, बम्बई, 1947

जैन, डी0सी0 : इकोनॉमिक लाइफ इन एनशियण्ट इण्डिया एस डिपिक्टेड इन जैन कोनोनिकल लिटरेचर, वैशाली, 1980

जैन, पी0एस0 : एन एकाउण्ट ऑफ ट्रेड एण्ड शिपिंग इन प्राकृत लिटरेचर इन कॉण्ट्रीब्यूशन ऑफ जैनिज्म टू इण्डियन कल्चर, आर0सी0 द्विवेदी, सम्पादित, 1975, पृ0 270–78

जैन, बालचन्द्र : उत्कीर्ण लेख, रायपुर, 1961

जैन, रेखा : एनशियण्ट इण्डियन क्वायनेज, ए सिस्टमैटिक स्टडी ऑफ मनी इकोनॉकी फ्र जनपद ऑफ अर्ली मेडिवल पीरियड (600 वी0ी0 टू ए0डी0 1200) डी0के0 प्रिन्ट वर्ल्ड, न्यूदेहली 1995

जैकी, एस0 (सम्पादित) : अरब एकाउण्ट्स ऑफ इण्डिया ड्यूरिंग द फोरटिंथ सेन्चुरी, देहली, 1981

कुल्के, हरमनन (सम्पादित) : द स्टेट इन इण्डिया 1000–1700 आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, 1995

क्रिब, जो : 'इण्डियाज अर्लियस्ट क्वायंस' इन क्वाइन होर्ड्स भाग 7

कीथ, ए0बी0 : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर दिल्ली, 1973

कौशाम्बी, डी0डी0 : एन इण्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्टरी, बाम्बे, 1956

काणे, पी0वी0 : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्रज (4 जिल्दों में) पूना, 1930–53

क्रैमिरीश, एस0 : पाल एण्ड सेन स्कल्पचर्स, कलकत्ता, 1929

कार्लमार्क्स : प्री केपिटोलिस्टिक एकोनामिक फार्मेशन, लन्दन, 1964

लाहिड़ी, बेला : कम्पलेक्सिटीज इन द स्टडी ऑफ अर्ली मेडिवल क्वाइन्स ऑफ नार्दन इण्डिया, जू0न्यू0सो0इ0 42, 1980, पृ0 74–94

मैटी, एस0के0 : इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया इन द गुप्ता पीरियड, एडी 300–550, कलकत्ता, 1951

अर्ली इण्डियन क्वायंस एण्ड करेंसी सिस्टम, नयी दिल्ली, 1970

मजूमदार, बी0पी0 : सोशियो–इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया (1030–1194) कलकत्ता, 1960

मजूमदार, आर0सी0 : दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग 1, ढाका, 1943

मजूमदार आर0सी0 एण्ड पुसालकर ए0डी0 : दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, 1955

मजूमदार, ए0के0 : चालुक्याज ऑफ गुजरात, बाम्बे, 1956

मुन्शी, के0एम0 : दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, पार्ट 3

मित्र, वाइ0के0 : सोशियो, एकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इस्टर्न इंडिया, बी0 आर0 पब्लिशिंग हाउस, 1973

मजूमदार, बी0पी0 : सोशियो इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, (1030–1194 एडी) कलकत्ता 1960, इण्डस्ट्रीज एण्ड ट्रेड इन अर्ली मेडिवल नार्थ इण्डिया, जे0वी0आर0एस0 45–56, 1979–80, पृ0 230–55

आयरन इण्ड्रस्ट्रीज इन नार्दन इण्डिया ऑन द इन ऑफ तुर्को अफगान कान्क्वेस्ट, इण्डियन कल्चर, 14, 1 पृ0 32–36, सेलेक्शन ऑफ कैपिट्ल सिटीज इन एनशियण्ट नार्दन इण्डिया, ए स्टडी ऑफ जियोग्राफिकल फैक्टर्स (विशेषतया 600 से 1200 ई0 सन् तक) जे0ए0आई0एच0, 14, 1983–84, पृ0 117–37

मिश्रा, एस0एम0 : इण्डियाज फॉरेन ट्रेड एस नोन फ्राम द समराइच्चकहा एण्ड कुवलयमाला जे0ओ0आई0 24, पृ0 187–200

मिश्रा, एस0एस0 : मानसोल्लास, एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1966

माइकेल, आई0जे0 : लिस्ट ऑव क्वायन्स, मैकमोहन म्यूजियम क्वेटा, 1912

मुकर्जी, आर0के0 : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग एण्ड मैरिटाइम एक्टिविटी, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, 1957

मोतीचन्द्र : सार्थवाह, नयी दिल्ली, 1977

मुखिया, हरबंस : वाज देयर फ्यूडलिज्म इन इण्डियन हिस्ट्री (प्रेसिडेन्सियल एडरेस, भाग वी0आई0एच0सी0, वाल्टेयर, 1979

मुधोलकर, वनमाला : सोशियों इकोनॉमिक स्टडी ऑफ द अर्ली जैन कथा लिटरेचर (एडी 700–1000) इलाहाबाद, 1995

नाहर, पी0सी0 (संपादित) : जैन–लेख–संग्रह (3 जिल्दों में), कलकत्ता, 1918–25

नियोगी, पुष्पा : कन्ट्रीब्यूशन्स टू दि इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया, कलकत्ता, 1962

नियोगी, आर0 : ए हिस्ट्री ऑफ गहड़वाल डायनेस्टी, कलकत्ता, 1959

1959

निगम, श्यामसुन्दर : इकोनॉमिक आर्गनाइजेशन इन एनशियेण्ट इण्डिया, नयी दिल्ली, 1962

नाथ, विजय : दान, गिफ्ट सिस्टम इन एनशियेण्ट इण्डिया, ए सोशियो इकोनामिक पर्सपेक्टिव, नयी दिल्ली, 1987

नियोगी आर0 : द हिस्ट्री ऑफ द गहड़वाल डायनेस्टी, कलकत्ता, 1959

ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नयी दिल्ली, 1975

ओझा, जी0एच0 : हिस्ट्री ऑफ राजपूताना, अजमेर, 1911

पाण्डेय दीनबंधु : कौड़ीज एस मॉनिटरी टोक इन एनशियण्ट इण्डिया, जू0न्यू0सो0इ0 28, 1966, पृ0 127

द शाहीज ऑफ अफगानिस्तान एण्ड पंजाब, वाराणसी, 1973

पाण्डेय, जयनारायण : पुरातत्व विमर्श, इलाहाबाद, 1983

पाण्डेय, आर0बी0 : हिन्दू संस्काराज बनारस, 1949

पाठक, बी0पी0एन0 : सोसाइटी एण्ड कल्चर इन अर्ली विहार, नयी दिल्ली, 1988

पाठक विशुद्धानन्द : उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, 1973, लखनऊ

प्रिन्सेप जेम्स : एण्टीक्यूटीज ऑफ इण्डिया, भाग 2 (सम्पादक ई0 थामस)

परोच, डी0जे0 : ससौनियन क्वांयस

प्रभु पी0 एच0 : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, बम्बई 1963

प्राननाथ : ए स्टडी इन दि इकोनामिक कंडिशन ऑफ एनशियण्ट इण्डिया, लन्दन, 1921

प्रयाग दयाल : लखनऊ म्यूजियम कैटलाग ऑफ दि क्वायन्स ऑफ दि सुल्तान ऑफ देलही

पायरे, इ0 इस : मौखरीज, प्रथम पुनः मुद्रण 1982, रामानन्द विद्याभवन दिल्ली,

राय एस0सी0 : स्ट्रैटिग्रैफिक इविडेन्स ऑफ क्वायंस इन द इण्डियन एक्सकेवेशन्स एण्ड सम एलाइट इशूज, वाराणसी, 1959

प्रसाद पी0सी0 : फॉरेनट्रेड एण्ड कॉमर्स इन एनशियण्ट इण्डिया दिल्ली, 1977

प्रसाद ईश्वरी : हिस्ट्री ऑफ गुर्जरप्रतिहाराज, बम्बई, 1956,

प्रेम, नाथू राम : जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई 1956,

रे, पी0सी0 : हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमेस्ट्री, फ्राम दि अर्लीएस्ट टाइम्स टू दि मिडिल ऑफ दि सिक्सटिन्थ सेन्चुरी दिल्ली।

: द क्वाइनेज ऑफ नार्दन इण्डिया, 1980

रे, एच0 सी0 : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया

रेप्सन, आर0 जे0 : इण्डियन क्वायन्स स्ट्राटर, 1897

राय एस0 एन0 : हिस्टॉरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन द पुरानाज, इलाहाबाद, 1998

राय, यू0 एन0 : गुप्तराजवंश तथा उसका युग, इलाहाबाद तृतीय संस्कृत 1986

राय, जी0 के : क्वानेज एण्ड मेट्रोलॉजी एट दि सुल्तान ऑफ देलही, 1936

रे0 एस0 सी0 : स्ट्रेटिग्राफिक एविडेन्स ऑफ क्वायन्स इन इण्डियनएक्सकेवेशन एण्ड सम एलाइड इसूज

राय जी0 : फोर्स्ड लेबर इन एनशियण्ड एण्ड अर्ली मिविल इण्डिया, इण्डिन हिस्टॉरिकल रिवन्यू, 3, 1, 1976, पृ0 1642

राय, जयमल : द रूरल अर्बन इकोनॉमी एण्ड सोशल चेन्जेस इन एनशियण्ट इण्डिया (300 ई0 पू0 से600 ई0 सन् तक) वाराणसी, 1974

ई0 सन् तक) वाराणसी, 1974

राव, एस0आर0 : शिपिन्ग इन एनशियण्ट इण्डिया, इन इण्डियाज कॉण्ट्रीब्यूशन टू वर्ल्ड थॉट एण्ड कल्चर, लोकश चन्द्र सम्पादित, मद्रास, 1970, पृ0 83-107

राव, वी0 एन0 : क्वायन्स ऑफ मारवाड़, जोधपुर, 1946

देवी, सुशील मालती : इकोनॉमिक कण्डीशन ऑफ एनाशियण्ट इण्डिया (एडी 750 टू0 एडी 1200) दिल्ली, 1987

सिंह ओंकार नाथ : गुप्तोत्तरकालीन उत्तर भारतीय मुद्रायें, 1999

सिंह, आनन्दशंकर : भारत की प्राचीन मुद्राएं, द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद 1998

सिंह, आर0 पी, : 'वर्ण' जाति एण्ड टैक्निकल अक्कुपेशन्स् इन धर्मशास्त्रस्, दिल्ली 1983, पृ0 205-309,

सरकार डी0 सी0 : स्टडीज इन इण्डियन क्वायन्स न्यूसिसमैटिक एण्ड एपिग्राफिक स्टडीज, कलकत्ता 1977

: स्टडीज इन जियोग्राफी ऑफ ऐश्येण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, दिल्ली, 1960

स्मिथ, वी0ए0 : कैटलॉग ऑव क्वायन्स इन इण्डियन म्यूजियम (एनशियण्ट) भाग एक, ऑक्सफोर्ड, 1906

समन्दर, जे0 एन0 : दि ग्लोरिज ऑफ मगध, पटना यूनिवर्सिटी, रीडरशिप लैक्चर्स, 1922, प्रकाशित, 1924

सन्देसरा, बी0 जे0 : लीटररि साइकिल ऑफ माहामात्य वस्तुपाल एण्ड इट्सं कांन्ट्रीब्यूशन टू संस्कृत लिटरेचर बम्बई, 1953,; वेट, मेसर्स एण्ड क्वाइनेज ऑफ मेडिवल गुजरात, ज0न्यू0सो0इ0, 8, 1946, पृ0-24 से आगे

शास्त्री, अजयमित्र : इण्डिया एस सीन इन कुट्टनीमत्त ऑफ दामोदर गुप्ता, नयीदिल्ली, 1975, इण्डिया एस सीन वृहत्संहिता ऑफ बराहमिहिर, वाराणसी, 1969

शास्त्री, देवन्द्रकुमार : भविष्यत्कहा तथा अपभ्रंशकथा काव्य दिल्ली, 1970

1970

साहनी, बीरवल · टेकनीक ऑफ कास्टिंग क्वायन्स एन ऐश्येण्ट इण्डिया, एन0एस0आई0 वाराणसी, 1945,

सिंहल सी0 आर0 : बिब्लियोग्रफी ऑफ इण्डियन क्वायन्स बम्बई, 1950

सिंहल, आर0बी0 : हिस्ट्री ऑफ चौहान डायनेस्टी

सेन, बी0सी0 : सम हिस्टोरिकल एस्पेक्ट्स ऑफ दि इन्मक्रिप्सन्स ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1942

श्रीधरन, के0ए0 : मैरिटाइम हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, दिल्ली 1965

श्रीवास्तव, बलराम : ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन एनशियण्ट इण्डिया (फ्राम अर्लियस्ट टाइम्स् टू एडी 300) वाराणसी 1968,

श्रीवास्तव, ए0के0 : क्वाइन होर्डस ऑफ उत्तर प्रदेश 1882-1979, द स्टेट म्यूजियम, लखनऊ, 1980

श्रीवास्तव, वी0 के0 : कुषाण एवं गुप्त मुद्राओं का एक तुलनात्मक अध्ययन, पी0एच0डी0 थीसिस, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1985

सुब्बा राव, एन0एस0 : इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकिल कण्डीशन ऑफ एनशियण्ट इण्डिया, मैसूर, 1911

शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डायनेस्टी, दिल्ली, 1959; ग्लीनिंग फ्राम कर्तारगच्छपट्टावली, इण्डिया हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली, 26,1950, पृ0-223

शर्मा0बी0एन0 : सोशल लाइफ इन नार्दन इण्डिया (ए0डी0 600-1000), दिल्ली, 1966

शर्मा, रामशरण : पूर्वमध्यकाल का सामंती समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1996

अर्बन डिके इन इण्डिया (ऐडी 300-1000) नयी दिल्ली 1987,

पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (एडी 500-1200) दिल्ली 1969

(एडी 500-1200) दिल्ली 1969

भारतीय सामंतवाद, 300-1200, कलकत्ता, 1965

क्वायन्स एण्ड प्राबलम ऑफ अर्ली इण्डियन इकोनॉमिक हिस्ट्री, ज0न्यू0सो0 इ0 31, 1, 1969, पृ0- 1-18

प्राब्लम ऑफ ट्रांसिसन फ्राम एनशियण्ट टू मैडिवल इन इण्डियन हिस्टरी, इण्डियन हिस्टॉरिकल रिब्यू, 1 ,1974, पृ0 1-9

हाउ फ्यूडल वाज इण्डियन फ्यूडलिज्म, (लेख) 1987, पृ0 116-97

शर्मा, रामशरण एवं झा, डी एन0 : इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अप टू एडी 1200, ट्रैण्ड एण्ड प्रास्पेक्ट्स, ज0इ0सो0हि0ओ0 लीडेन, 18, 1,1974

तरफदार, एम0आर0 : ट्रेड एण्ड सोसाइटी इन अर्ली मेडिवल बंगाल, इण्डियन हिस्टोरिकल रिब्यू 4, 2, 1978, पृ0-274-86

ठाकुर उपेन्द्र : मिन्ट्स एण्ड मिण्टिंग इन इण्डिया, वाराणसी, 1972,

ए स्टडी इन बारटर एण्ड एक्सचेंज इन एनशियण्ट इण्डिया ज0ए0सो0हि0ओ0 25, 1972, पृ0 297-315

ठाकुर, बी0के0 : अर्बनाइजेशन इन एनशियण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1980

ठाकुर, जे0पी0 : कल्चर गलीनिंग फ्राम हेमचन्द्रास त्रिशष्टिश्लाकापुरूष चरित्र, ऑ0इ0ओ0 का0 20, पृ0 121-30

टाड, जे0 : एन्नल्स एण्ड इण्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, डब्ल्यू क्रुक सम्पादित, ऑक्सफोर्ड, 1924

त्रिवेदी, बी0बी0 : चन्दबरदाई और उनका काव्य (हिन्दी में)

थापर, रोमिला : भारत का इतिहास, नयीदिल्ली, 1975

थामसन, जे0 डब्ल्यू0 : इकोनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ द मिडिल एजेस (300-1300) भाग 2, न्यूमार्क, 1959

अंगर, रिचर्ड, डब्ल्यू : द शिप इन मैडिवल इकोनॉमी, 600-1600, लन्दन 1980

उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय मुद्रायें, पटना, 1971

वैद्य सी0वी0 : हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया 3 भाग, पूना, 1821-26

वल्गास, बी0ए0 : सम प्राब्लम्स ऑफ द हिस्ट्री आर्फ नैविगेशन इन इण्डियन एण्ड पैसिफिक ओशनस् (रूसी भाषा) अनुवाद ग्वरिलोप एवं कोस्तयुक द्वारा, मास्को, 1974

वर्मा, बी0एस0 : सोश्यो-रेलिजिअस इकोनॉमिक एण्ड लिटरेरी कंडीशन ऑफ बिहार फ्राम सी0 319 ए0डी0 टू 1000 ए0डी0 दिल्ली, 1962

बोगेल, जे0पी0एच0 : एन्टीक्वीटीज ऑफ चम्बा स्टेट, पार्ट 1,

वर्मा एच0सी0 : मेडिवल रूट्स टू इण्डिया, बगदाद टू दिल्ली; ए स्टडी ऑफ ट्रेड एण्ड मिलिटरी रूट्स, कलकत्ता 1978;

डायमिक्स ऑफ अर्बन लाइफ इन प्री मुगल इण्डिया, नयी दिल्ली, 1986

वेबर, ए0 : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, वाराणसी,

विद्याविनोद, बि0 बि0 : सप्लीमेण्टरी कैटलॉग ऑफ द क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम (नॉम मोहम्मडन सीरिज) भाग 1, कलकत्त

विग्स, जे0 : द राइस आव मुहम्मदन बाबर इन इण्डिया, 'तारीखे फरिश्ता' का अनुवाद, 1829

बेव, बि0 वि0 : करेन्सीज ऑफ दि हिन्दू स्टेट्स ऑफ राजपूताना

व्हाइट हाउस, डी0 : मैरिटाइम ट्रेड इन अरबिया सीः द नाइन्थ एण्ड टेन्थ सेन्चुरीज ए0डी0 साउथ एशियन आर्केलाजी, 2, नेपल्स, 1979, पृ0 265–85

यादव, बी0एन0एस0 : सोसाइटी एंण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद, 1973;
द प्राब्लम्स ऑफ द इमरजेन्स ऑफ फ्यूडल रिलेशन्स इन अर्ली इण्डिया प्रा0 इ0 हि0 को, बम्बई, 1980;
इम्माबिलिटि एण्ड सबजेक्शन ऑफ इण्डियन पीसेन्टरी इन अर्ली मेडिवल काम्प्लेक्स, इ0हि0रि0 1, 1, 1974; द एकाउण्ट्स ऑफ द कलि एज एण्ड द सोशल ट्रंसिसन फ्राम दि एण्टीक्विटी टू द मिडिल एज, इ0 हि0 रि0, 5, भाग 1–2, 1978–79, पृ0 32–63

(छ) पत्र–पत्रिकायें

ऐंश्येट इंडिया, नई दिल्ली,

अनेकान्त, दिल्ली

एन्नलस ऑफ दि भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इस्टिट्यूट

एन्नुअल रिपोर्ट ऑफ द आर्के लजिकल सर्वे आफ इण्डिया

इंडियन आर्केलाजी–ए रिव्यू

इंडियन कल्चर

इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टली

जैन सत्यप्रकाश जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरिएण्टल

सोसाइटी जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल

जर्नल आफ असम रिसर्च सोसाइटी

जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रान्च ऑफ दि रायल-एशियाटिक सोसाइटी

जर्नल ऑफ गंगानाथ झा इंस्टिट्यूट

जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री

जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री

जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया

जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक आफ इण्डिया

जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता

जर्नल ऑफ यू0पी0 हिस्टारिकल सोसाइटी

कलानिधि, वाराणसी

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी

प्रोसीडिंगन ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस

राजस्थान भारती

(ज) लेख

आयंगर, आर0ए0आर0 : ऐंश्येण्ट साउथ इण्डियन गोल्ड क्वायंस, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वर्टिली, खण्ड 3

अग्रवाल, आर0 सी0 : नोट्स ऑन न्यू गधिया क्वायन्स, जर्नल ऑफ न्यूमिस्टमैटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, 28, भाग।

अलतेकर ए0 एस0 : न्यूज एण्ड नोटस ऑन गधिया क्वायन्स जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया खण्ड 3

ए होर्ड ऑफ द सिल्वर क्वायंस ऑफ गांगेयदेव, जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, खण्ड 18,

इन्सक्राइब्ड गधिया क्वायन्स, जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया खण्ड

न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया खण्ड 7 भाग 2

नोट्स एण्ड न्यू ट्रेजर ट्रोष फाइण्ड्स इन यू0पी0 जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, XI भाग 1

अग्रवाल, वी0एस0 : द्रम्म–क्वाइंस ऑफ द गुर्जर–प्रतिहार किंग विनायकपालदेव, ए0डी0 914–933 ज0 न्यू0 सो0 ई0 X, भाग 1

आचार्य, जी0बी0 तथा ज्ञानी, आर जी0 : ए रिज्यूम ऑफ न्यूमिसमैटिक रिसर्च इन इण्डिया, न्यूमिस्क्मैटिक सप्लीमेण्ट खण्ड , 47

एलन0 जे0 : कल्चुरी क्वायन्स ऑफ तुम्मान, न्यूमिसमैटिक क्रॉनिकल, खण्ड 18, भाग,

वाजपेयी, के0 डी0 : ए यूनिक गोल्ड क्वायन्स ऑफ हर्ष, ज0 न्यू सो0 इ0 27(1);

लीजेण्ड ऑन गोल्ड क्वायंस ऑफ हर्षवर्धन ज0 न्यू0 सो0 इ0, खण्ड 28 भाग।

समरेयर अर्ली क्वायन्स फ्राम सेन्ट्रल इण्डिया एण्ड आन्ध्रा ज0 न्यू0 सो0 इ0, 41, भाग 1

बनर्जी, आर0 डी0 : सिल्वर क्वायन्स ऑफ दि चन्देल मदनवर्मन, न्यूमिस्मैटिक सप्लीमेण्ट खण्ड 22;

ए गोल्ड क्वायन्स ऑफ उदयदेव, न्यूमिस्मैटिक सप्लीमैण्ट, खण्ड 22,

भाटिया : नोट्स आन फिजिकल डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ इण्डोससैनियन श्री विग्रह, श्री वि, एण्ड श्री आदिवाराह क्वायन्स इन गंगा वैली, ज0 न्यू सो0 इ0,

भट्टाचार्या, ए0 के : हिन्दू एलीमेण्ट्स इन अर्ली मुस्लिम क्वायनेज इन इण्डिया, ज0 न्यू0 सो0 इ0 खण्ड 16, भाग 1

भट्टाचार्या, पी0के0 : टू इण्टरेस्टिंग क्वायंस ऑफ शशांक ज0 रा0 ए0 सो, 1979

भट्टाचार्या, यू0 सी0 : पिपलाज होर्ड ऑफ इण्डासेसैनियन क्वायन्स, ए प्राइमरी नोट्स, ज0न्यू0सो0 इ0 खण्ड 7,

कोसाम्बी0 डी0डी0 : ओरिजन ऑफ फ्यूडलिजम इन काश्मीर, ज0 ए0 सो0 बॉ0 न्यू सीरिज, 1959

इण्डियन फ्यूडल ट्रेड कैरेक्टर्स ज0 इ0 सो0 हि0 ओ0 II 1959

कनिंघम, ए0 : चन्देलाज क्वायन्स, ए0एस0 आर0 खण्ड 10;

तोमर्स ऑफ देलही, ए0 एस0आर0 खण्ड;

ए गोल्ड क्वायंस ऑफ श्रीमद्गांगेयदेव, ए0एस0आर0 खण्ड 22;

ए क्वायन्स ऑफ दि चन्देलाज, ए0 एस0 आर0 खण्ड 2

चिनमुलगुण्ड, पी0एसी0 : उरूली (पूना जिला) होर्ड ऑफ इण्डो ससेनियन क्वायन्स, ज0न्यू.0सो0 इ0 खण्ड 7 (1 ए 11)

क्वायंस कलेक्शन ऑफ देवास कालेज म्यूजियम ज0न्यू0सो0 इ0 खण्ड 15

चौधरी, आर0 के0 : ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ हुणाज, इण्डियन न्यूमिस्मेटिक क्रोनिकल, खण्ड य , भाग 1

चौधरी, आर0 डी0 : ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ न्यूमिस्मैटिक स्टडीज इन नार्थ ईस्ट इण्डिया मेमोरिज, 7 न्यू0सो0इ0

द टेक्नीक ऑफ मिन्टिग क्वायन्स इन नार्थ ईस्टर्न स्टेट्स ऑफ इण्डिया मेमोरायर्स 7, न्यू सो0 इ0,

आन द न्यूली डिस्कवर्ड क्वायन्स फ्रॉम धुलापादुंग टी इस्टेट, मेमोरीज न0 7 न्यू0 से0 इ0

देवाहूति, डी0 : दि क्वायना ऑफ हर्ष शीलादित्य, ए रि एप्रेशल, ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड 26 भाग 1

दीक्षित, एम0जी0 : सम सील्स एण्ड स्टैम्प्स फ्रॉम दि त्रिपुरी एक्सकेवेशन, ज0 नयू0 सो0 इ0 खण्ड, 16 भाग

: ए सिल्वर क्वायंस ऑफ गांगेयदेव ऑफ त्रिपुरी, ज0 न्य0 सो0 इ0, खण्ड 19 भाग 1

: गदहिया क्वायंस ऑफ गुजरात एण्ड मालवा, जे0 इ0 बी0आर0 ए0 एस0, खण्ड 12,

गंगोपाध्याय, एस0 के0 : ए स्टडी ऑफ क्वायनेज ऑफ चाहमान ऑफ शकाम्बरी, ज0न्यू0सो0इ0 1976, 37

गोपाल, लल्लन जी : मीडियम ऑफ एक्सचेंज इन अर्ली मेडिवल इण्डिया, ज0 न्यू0 सो0 इ0, खण्ड 25, भाग 2;

वेट स्टैण्डर्ड ऑफ दि क्वायन्स ऑफ अर्ली मेडिवल इण्डिया, ज0न्यू0सोई0 खण्ड 25, भाग 2

क्वायन्स इन दि एपि एण्ड लिटरेरी रिकार्डस, आफ नार्थ एण्डिया इन दि अर्ली मेडिवल पीरियड, ज0न्यू0से0इ0, खण्ड

मेडिवल पीरियड, ज0न्यू0से0इ0, खण्ड 25, भाग 1

गुरुखल रंजन : नॉन ब्राह्मण रेजिस्टेन्स टू द एक्सवेंशन ऑफ ब्रह्मदेयास्, द अर्ली पाण्डय एक्सपीरयिंस इन प्रोसिर्डिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 45 सेशन, अन्नामलाई यूनिवर्सिटी, अन्नामलाई नगर, 1984

गुप्त, परमेश्वरी लाल : ट्रेडर्स फ्राम उत्तर प्रदेश, ज0 न्यू0 सो0 इ0, खण्ड 18, भाग 2;
क्वायन्स ऑफ प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम, जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, खण्ड 23;
पृथ्वीराज एवं मुहम्मद गोरी का संयुक्त सिक्का, न0प्र0 पत्रिका, खण्ड 57, भाग 2-3

हार्नले, ए0 आर0 : वन सिल्वर पीस ऑफ गंगेयदेव, जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1982

जय, पी0 : रीलिजन एज रिफ्लेक्टैड आन द पोस्ट गुप्ता क्वायन्स फ्राम बंगाल, ज0न्यू0सो0इ0, 43, भाग 2

जैन, राकेश : चन्देल क्वायन्स फ्राम मेवाड, ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड 43, भाग 2

जैन, वी0सी0 : इन्वेन्ट्री ऑफ दि होर्डस एण्ड फाइन्ड्स ऑफ क्वायन्स एण्ड सील्स फ्राम मध्य प्रदेश , ज0 न्यू सो0 इ0 खण्ड 18,
: धनपुर होर्डस ऑफ कॉपर क्वायन्स जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, खण्ड 18

खण्ड 18

जैन, उषा : रेयर सिल्वर क्वायंस ऑफ कल्चुरीज ज0न्यू0सो0इ0 43 भाग 2

जोशी, एम0सी0 : झांसी होर्ड ऑफ राजपूत क्वायंस ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड 27, भाग 1

कुण्ड, शाम्भूनाथ : एट आर्म्ड गाडेस आन ए गोल्ड क्वायन्स आफ बंगाल, यू0न्यू0सो0इ0 41

कृष्ण, सी0 : गदहिया क्वायन्स फ्राम निमाड़ (मध्य प्रदेश) ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड 25, भाग-1

लाहिड़ी, बेला : द गुप्त टाइप क्वायन्स ऑफ अर्ली मेडिकल पीरियड, ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड; इवोल्यूशन ऑफ क्वायनेज ऑफ कश्मीर अप द राइज ऑफ उत्पन्न डानेस्टी, ज0 न्यू0 सो0 इ0 खण्ड 46, 1984;

मित्र, आर0 एल0 : क्वायन डेटा, जर्नल ऑफ एसियाटिक सोसाइटी, आर्फ बंगाल न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, खण्ड 15, भाग-2ए, दि क्वायन्स ऑफ कल्चुरिया ज0 न्यू0 सो0 इ0 खण्ड-3
दि क्वायन्स ऑफ साउथ कोशल सी0 आई0 आई0 खण्ड-4

मॉंकड़, बी0एल0 : क्वाइन्स कलेक्शन ऑफ बड़ौदा, म्यूज़ियम, ज0 न्यू0 सो0 इ0 खण्ड-23

मैटी, एस0के0 : दि गोल्ड कानटेन्ट्स ऑफ दि क्वायन्स ऑफ दि शशांक, ज0 न्यू0 सो0 इ0 खण्ड-22; द टाइपोलाजिकल स्टडी ऑफ दि गोल्ड क्वायन्स ऑफ अर्ली इण्डिया, ज0न्यू0सो0ई0, खण्ड-23,

मैकडावल, डी0 डब्लू0 : दि क्वायन्स ऑफ गांगेयदेव ऑफ डाहल, न्यूमिस्मेटिक क्रोनिकल, 1958; शाहीज

न्यूमिस्मेटिक क्रोनिकल, 1958; शाहीज ऑफ ओहिन्द, न्यूमिस्मेटिक क्रोनिकल, 1968

मुकर्जी, बी0एन0 : 'ए सर्वे ऑफ द क्यायनेज ऑफ हरिकेल' मेमोरिज नं07, न्यू0 सो0इ0; सो काल्ड सिल्वर क्वायन्स ऑफ शशांक, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 45, 1987 : सीरिज आई0ए0 ऑफ हरिकेल क्वायनेज ज0न्यू0सो0इ0 47।

प्लेस ऑफ हरिकेल क्वायनेज इन द ऑर्कियालोजी ऑफ बंग्लादेश, जरनल ऑफ द वारेन्द्र रिसर्च म्यूजियम, भाग 7, 1981-82;

मीडिया ऑफ एक्सचेंज इन द अर्ली मेडिवल नार्थ इण्डिया, न्यूमिसमैटिक डाइजेक्ट, X, दिसम्बर, 1986;

कॉमर्स एण्ड मनी इन द वेस्टर्न एण्ड सेन्ट्रल सेक्टर्स ऑफ ईस्टर्न इण्डिया (सी0ए0डी0 750-1200) इन इण्डियन म्यूजियम बुलेटिन, 1982;

बीयरिंग ऑफ द एक्सकेवेशन्स ऐट मेनामती (बंग्लादेश) ऑन द लोकल सिल्वर क्वायनेज, पी0एल0 गुप्ता एवं ए0के0 झा द्वारा सम्पादित, न्यूमिसमैटिक्स एण्ड अर्कियालॉजी अंजनेरी, नासिक, 1987;

नाथ बी-बी : दि रिवर्स डिजाइन ऑन दि गोल्ड क्वायन्स ऑफ कश्मीर चेदिज ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड-13,

नेमा,एम0आर : ए न्यू होर्ड्स ऑफ गोल्ड क्वायन्स ऑफ गांगेयदेव, ज0न्यू0सो0इ0; 43, भाग-2,

गागेयदेव, ज0न्यू0सो0इ0; 43, भाग–2,

नन्दी, आर0एन : ग्रोथ ऑफ रूरल इकोनॉमी इन अर्ली फ्यूडल इण्डिया, प्रेसिडेन्टिल एडरेस, एनशियण्ट इण्डिया सेक्शन, इण्डियन हिस्ट्री 45 सेशन अन्नामलाई यूनिवर्सिटी, 1984

ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द : क्वायन्स ऑफ अजयदेव एण्ड सोमल्लदेवी, इण्डियन एण्टीक्वेरी, 1912

पाण्डेय, अमृत : दि क्वायन्स ऑफ जयसिंह, ज0न्यू0 सो0इ0,खण्ड 16, भाग–2

परमार बी0एम0एस0 : आदिवराह क्वायंस, ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड, 26

पाण्डेय, एल0पी0 : बालपुर क्वायन्स ऑफ प्रतापमल्ल, इण्डियन हिसटॉरिकल क्वार्टर्ली3; ए नोट ऑन दि हनुमान टाइप कापर क्वाइन्स ऑफ पृथ्वीदेव खण्ड जाजल्लेदव ऑफ महाकोशल, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, 18

प्रयाग दयाल : दि गोल्ड क्वायनस ऑफ सिद्धराज न्यूमिस्मेटिक क्रोनिकल, खण्ड 47,

राय, एस0सी0 : आन क्वायंस रिकवर्ड फ्राम नालंदा एक्सकेवेशन्स, जु0न्यू सो00इ0, खण्ड–17 भाग–1,

सरकार, दिनेश चन्द्र : ए क्वायन्स ऑफ मुहम्मद बिन साम एण्ड पृथ्वीराज, ज0न्यू0सो0इ0खण्उ 15, भाग–2

सेठी0पी0के0 : द एट्रीब्यूशन ऑफ श्री विग्रह क्वायंस, ज0न्यू0सो0ई0 30, 1968

स्मिथ, वी0 ए0 : क्वायन्स ऑफ गांगेयदेव, इण्यिन एण्टीक्वेरी 37, 1908,

हिस्ट्री एण्ड क्वायनेज ऑफ चन्देल डायनेस्टी इण्डियन एण्टिक्वेरी, 37

शर्मा, डा0 : चन्देल क्वायन्स फ्राम द्रव्य परीक्षा, ज0 न्यू0 सो0 इ0, खण्ड 25,
क्वायन्स ऑफ मुहम्मद बिन साम एण्ड पृथ्वीराज, ज0 न्यू0 सो0इ0, खण्ड 26 भाग I,

शोर्त्त, एच0एण्ड0डे, एस0 : नोट्स ऑन सम ऐंश्येण्ट एण्ड मेडिवल क्वायन्स, ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड 23
ए बुल खण्ड हार्समैन होर्ड क्राम इण्डिया न्यूमिस्मौटिक क्रानिकल 1956,

सिंह ओ0एन0 : आन पॉमिटी ऑफ क्वायन्स इन अर्ली मेडिवल पीरियड, ज0 न्यू0 सो0 इ0, 47

सिंह ओ0 एन0 खण्उ सिंह सी0डी0 : रीजनलिज्म इन अर्ली मेडिवल क्वायन्स ऑफ नार्दन इण्डिया, ज0न्यू0सो0इ0, 50

सिंह , जयप्रकाश : द क्वायेज एण्ड इकेनामी ऑफ नार्थ ईस्टर्न स्टेट्स ऑफ इण्डिया सीरीज नं0 7 न्यू0 सो0 ई0 वाराणसी

सिंह, वाई0 बी0 : कॉपर, क्वायन्स एण्ड देयर मिण्टिंग इन अर्लीमेडिवल काश्मीर, ज0पू0 सो0 इ0, खण्ड 54, 1982

ठाकुर, उपेन्द्र : मिण्ट्स एण्ड मिन्टिंग इन इण्डिया, ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड 23

तिवारी, जे0एन0 : प्री–मुहम्मडन न्यूमिस्मेटोग्राफी ज0 न्यू0सो0इ0 खण्ड, 23

त्रिवेदी, एच0 वी0 : न्यूमिस्मेटिक स्टडीज इन मध्य भारत, ज0न्यू0सो0इ0, खण्ड 15, भाग 1
इन्स्क्राइब्ड गदहिया कॉपर क्वायन्स, ज0 न्यू0 सो0 इ0, खण्ड 16, भाग 2
न्यूसिस्मेटिक नोट्स, (सम रेयर गदहिया क्वायन्स) जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, खण्ड, 42,भाग 2

क्वायन्स) जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, खण्ड, 42,भाग 2

ऊनवाल, वी0एम0 : द्रम्म इन ऐन्शियेण्ट इण्डियन हिस्ट्री ज0न्यू0सो0इ0 17

नोट्स ऑन इण्डो सेसैनियन क्वायन्स, ज0न्यू0सो0इ0, 8 भाग 2

वक्स, राबर्ट, एस0 : द न्यूमिसमैटिक जियोग्राफी ऑफ पोस्टगुप्ता गोल्ड एण्ड प्रिइस्लामिक सिल्वर फ्राम बंगाल, बंगालदेश, असम एवं अरकान, न्यूमिसमैटिक्स एण्ड अर्कियालॉजी पी0एल0गुप्त एवं ए0 के0 झा0 सम्पादित। सेकेण्ड इण्टरनेशनल कॉलोक्विम, इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ रिसर्च इन अंजनेरी जिला नासिक, 1987

⌘